'श्रीसर्वेश्वर' मासिक-पत्र का-

श्रीगीता-विशेषाङ्क

श्रीमद्भगवद्गीता

तत्वप्रकाशिका सं० टीका

श्रीधाम-वृन्दावन

वर्ष २८

अङ्क ११,१२

शोधपूर्ण धार्मिक मासिक-पत्र 'श्रीसर्वेश्वर' का विशेषाङ्क

श्रीमद्भगवद्गीता-अंक

सम्पादक :

अधिकारी व्रजवल्लभशरण

वेदान्ताचार्य पञ्चतीर्थ

विषयानुक्रमणिका

★

विषय	पृष्ठ संख्या
व्यवस्थापकीय, भूमिका, समर्पण आदि	
प्रथम अध्याय	
(उपोद्धात, आततायी, महारथी आदि के लक्षण)	२ से २१
द्वितीय अध्याय	
(सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग)	२२ से ७१
तृतीय अध्याय	
(यः बुद्धे परतस्तु सः) आदि पदों का विचार	७२ से १००
चतुर्थ अध्याय	
(अवतार, मुक्ति, विविध यज्ञ, प्रभु प्रसाद महिमा आदि)	१०१ से १३१
पञ्चम अध्याय	
(सन्यास और कर्मयोग और समदर्शिता)	१३२ से १४८
षष्ठ अध्याय	
(अभ्यास योग, चित्तैकाग्रता, योग माहात्म्य)	१४९ से १७३
सप्तम अध्याय	
(ज्ञान-विज्ञान विभूति वर्णन चतुर्विध भक्त)	१७४ से १९७
अष्टम अध्याय	
(ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ अन्तकालीन धारणा)	१९८ से २१७
नवम अध्याय	
(राजविद्या, राजगुह्य, ज्ञानभक्ति)	२१८ से २४६

सञ्चालक :

अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु

निम्बार्काचार्य श्री 'श्रीजी' महाराज

अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ

श्रीनिम्बार्कतीर्थ

(सलेमाबाद) किशनगढ़ (राज०)

प्रकाशक :

अधि० व्रजवल्लभशरण

श्री श्रीजी मन्दिर, वृन्दावन

प्रकाशन तिथि :

मकर संक्रान्ति सं० २०३७

न्यौछावर :

२०) रु० पुस्तकालय संस्करण

मुद्रक :

व्रजमोहनलाल शर्मा

श्रीसर्वेश्वर प्रेस, वृन्दावन।

विषयानुक्रमणिका

★

विषय	पृष्ठ संख्या
व्यवस्थापकीय, भूमिका, समर्पण आदि	
प्रथम अध्याय	
(उपोद्धात, आततायी, महारथी आदि के लक्षण)	२ से २१
द्वितीय अध्याय	
(सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग)	२२ से ७१
तृतीय अध्याय	
(यः बुद्धे परतस्तु सः) आदि पदों का विचार	७२ से १००
चतुर्थ अध्याय	
(अवतार, मुक्ति, विविध यज्ञ, प्रभु प्रसाद महिमा आदि)	१०१ से १३१
पञ्चम अध्याय	
(सन्यास और कर्मयोग और समदर्शिता)	१३२ से १४८
षष्ठ अध्याय	
(अभ्यास योग, चित्तैकाग्रता, योग माहात्म्य)	१४९ से १७३
सप्तम अध्याय	
(ज्ञान-विज्ञान विभूति वर्णन चतुर्विध भक्त)	१७४ से १९७
अष्टम अध्याय	
(ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ अन्तकालीन धारणा)	१९८ से २१७
नवम अध्याय	
(राजविद्या, राजगुह्य, ज्ञानभक्ति)	२१८ से २४६

व्यवस्थापकीय

श्रीसर्वेश्वर के प्रेमी पाठक महानुभावो !

आपके कर कमलों में अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य पीठाधीश्वर सर्वशास्त्र-निष्णात्त दिग्विजयी श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्यजी महाराज कृत तत्त्वप्रकाशिका (संस्कृत गीता टीका) हिन्दी अनुवाद सहित श्रीसर्वेश्वर का गीताङ्क विशेषाङ्क भेट करते हुए परम हर्ष होता है। यद्यपि यह विशेषाङ्क आपको एक वर्ष पूर्व ही प्राप्त होता किन्तु गतवर्ष इसके स्थान पर एक विशेष उपयोगी "श्रीस्तवरत्नाञ्जलि अंक" बहुत से प्रेमी महानुभावों के अनुरोध पर प्रकाशित करना पड़ा। वह भी आवश्यक ही था। सभी सज्जनों को वह विशेष पसन्द भी आया, वर्तमान निम्बार्काचार्य श्री 'श्रीजी' महाराज कृत नूतन भगवत्स्तोत्र और उनका हिन्दी अनुवाद सभी उपयोगी था, वह नित्य पाठ के योग्य की वस्तु थी।

इधर यह गीताङ्क विशेषाङ्क भी कम महत्व का नहीं है, सभी प्रेमी पाठकों का परम हितकारी है, जब तत्त्वप्रकाशिका टीका का हिन्दी भाषा टीका के साथ-साथ अनुशीलन किया जायेगा तब इससे परम शान्ति का लाभ होगा, यह हमें पूर्ण विश्वास है।

हम चाहते थे कि पूरे अठारह अध्यायों का ही यह विशेषाङ्क प्रकाशित हो किन्तु महँगाई आदि की अनेकों कठिनाइयों के कारण इसके दो भाग करने पड़े, अतः नौ अध्यायों का यह पूर्व भाग ही आपको अर्पित किया जा रहा है। इसी का उत्तर भाग आगामी वर्ष का विशेषाङ्क रहेगा। गीता पर जितना लिखा जाय उतना ही कम कहा जायेगा, क्योंकि यह सर्व शास्त्रमयी है। इस पर शतशः टीकायें लिखी जा चुकी हैं।

तत्त्वप्रकाशिका टीका की भाषा सुन्दर सरस और प्राञ्जल है, इसके अध्ययन अध्यापन से सामान्य हिन्दी पठित व्यक्तियों को भी संस्कृत का कुछ ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। संस्कृत भाषा का देश में प्रचार प्रसार होना भी आज परम आवश्यक हो गया है, अतः इन सभी दृष्टिकोणों से भी यह विशेषाङ्क महत्वपूर्ण समझा गया है।

ग्राहक महानुभावों से निवेदन है कि जिस प्रकार आप सब सदा से श्रीसर्वेश्वर की सेवा करते आ रहे हैं उसी प्रकार आगे भी तन-मन-धन से सेवा करेंगे तो आपका यह पत्र और भी विशेष लोकोपयोगी सामग्रियों से भरा-पूरा आपको अर्पित होता रहेगा। अतः जिन महानुभावों पर वार्षिक-शुल्क बकाया हो, उसे शीघ्रातिशीघ्र भिजवाने का प्रयत्न करें। और प्रत्येक प्रेमी पाठकों को चाहिये कि वह एक एक ग्राहक और भी बढ़ाने की चेष्टा करें।

आशा है सभी पाठक महानुभाव हमारे निवेदन पर अवश्य ध्यान देंगे और प्रस्तुत अङ्क के सम्बन्ध में अपनी भावनायें व्यक्त करने की भी कृपा करेंगे।

सभी पाठकों का कृपाकांक्षी—

व्यवस्थापक—"श्रीसर्वेश्वर"

❋ श्रीसर्वेश्वरो जयति ❋

❋ श्रीभगवन्निम्बार्क महामुनीन्द्राय नमः ❋

टीका और टीकाकार का संक्षिप्त परिचय

अनन्त श्रीविभूषित सुदर्शनावतार जगद्गुरु भगवान् निम्बार्काचार्यजी की उत्तरवर्ती परम्परा में अनेकों ऐसे भगवद्विभूतिरूप तेजस्वी आचार्य हो गये हैं जिन्होंने निस्स्वार्थभाव (केवल लोकहित के उद्देश्य) से महान् महान् आश्चर्यजनक कार्य किये, उनका अमर सुयश दिग्दिगन्त में आज भी व्याप्त है। यद्यपि ऐसे बहुत से महानुभावों की विस्तृत जीवन गाथायें, दीर्घकाल के करालप्रवाह में विलीन प्रायः हो गई हैं, तथापि उनका सूक्ष्म मूल कहीं न कहीं से उपलब्ध हो जाता है। "नाम काल नहीं खाय" इस उक्ति के अनुसार बहुत से आचार्यों के नाममात्र अवशिष्ट रह गये। कुछ महानुभावों की कृतियाँ भी सुरक्षित मिल जाती हैं। ऐसे ही महानुभावों में गीता की तत्वप्रकाशिका संस्कृत टीका करनेवाले श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य हैं। आपने कब कहाँ किस कुल में आविर्भूत हो, कैसे-कैसे लोकोपहितकारी कार्य किये इन सभी जिज्ञासाओं की पूर्तिरूप समाधान होना आज एक जटिल समस्या बन गई हैं। क्योंकि बहुत से लेखकों ने शोध के बहाने बड़ी-बड़ी भ्रान्तियां फैला डाली हैं। उन भ्रान्तियों में बहुत-सी तो अनजान में हुई हैं और बहुत-सी जानबूझकर भी फैलाई गई हैं। आजकल कुछ सुयोग्य कहलानेवाले शोधकर्त्ताओं में भी यह दूषण घर कर बैठा है। जिस प्रकार कुछ विदेशी लेखकों ने रामायण महाभारत जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थों को भी रूपक बतलाकर इनमें वर्णित घटनाओं को कोरी कल्पना सिद्ध करने का दुस्साहस किया है, उसी प्रकार भारतीयों की सन्तान कहलानेवाले कुछ विदेशियों के पिट्ठु भारतीय भी दिन को रात और रात को दिन सिद्ध करने का साहस करने लगे हैं। वे उनकी दुर्नीतियाँ ही कहलायेंगी, जो प्रामाणिक तथ्यों को भी उलटने के लिये दिन-रात सोचते रहते हैं, एवं शोध करनेवाले छात्र तथा छात्राओं को भी वैसा करने के लिये बाध्य करते रहते हैं।

दीर्घकाल से वैदिक पौराणिक संस्कृत ग्रन्थों में भगवद्भक्त ऋषि-महर्षि राजा-महाराजा आदि के चरित्रों का चित्रण होता आ रहा है, संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत आदि विभिन्न भाषाओं की पुस्तकों में भी उनके लेखकों ने अपने से पूर्ववर्ती व्यक्तियों का यथा ज्ञात-परिचय देने का प्रयास किया है।

श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्यजी के सम्बन्ध में आचार्य चरित्र अमुद्रित (सं०) के लेखक महोदय ने आपके सम्बन्ध में इस प्रकार परिचय दिया है :—

समस्त भारत में पर्यटन करके आपने वैष्णव धर्म की विजय वैजयन्ती को चारों दिशाओं में फहराया। कहा जाता है आपका भी आविर्भाव उसी तैलंगदेशस्थ वैदुर्य्यपतन (भूंगीपट्टन में आद्य-निम्बार्काचार्य के कुल में ही हुआ था, ऐसी परम्परागत जनश्रुति है। उपनयन अध्ययन के पश्चात् वैष्णवी दीक्षा प्राप्त कर आपने श्रीरङ्गम्, वेङ्कटाचल, तोताद्री, कांची रामाश्रम होते हुए हेमगोपाल के दर्शन किये। कन्याकुमारी से हिमालय तक जहाँ-जहाँ आप पधारे वहाँ के निवासियों ने आपका बड़ा सम्मान किया। उज्जैन कुछ दिनों तक स्थायी निवास कर आपने श्रीमद्भागवत की तत्त्वप्रकाशिका नामक संस्कृत टीका लिखी। वहाँ से रैवत पर्वत, कर्दमाश्रम होते हुए आप द्वारकाधाम में पहुँचे। सुनते हैं तप्तमुद्रायें धारण करने का प्रचार-प्रसार उस समय शिथिल हो गया था, आपने उसे फिर से चालू करवाया। द्वारिका से चलकर जब आप पुस्करराज पहुँचे तब आपके साथ बहुत-सा जनसमूह और शिष्य प्रशिष्यों के झुण्ड के झुण्ड थे। लगभग चौदहहजार शिष्य संग साथ में थे, आपने पाषण्डियों का दमन करके वैदिक पौराणिक हिन्दुधर्म को उन्नत किया। स्यमन्तपञ्चक वायु हृद और ब्रह्म सरोवर तथा प्राची सरस्वती आदि प्राचीन तीर्थों की यात्रा करते हुए आप श्रीनृसिंहाश्रम पधारे वहाँ से फिर काश्मीर मण्डल में पहुँचे, उस समय वहाँ म्लेच्छों का दल बहुत प्रबल हो रहा था, उन सबका यूथपति एक बड़ा बलवान यवन था ज्यों ही चौदह हजार शिष्यों के सहित आप काश्मीर में पहुँचे और घड़ी-घड़ावल, घण्टे, नगारे, शंख, रणसिंहा आदि विविध वाद्यवृन्दों की ध्वनि के साथ भगवान् का नीराजन (आरती उतारना) होने लगा, तो उस तुमुलनाद को सुनकर तान्त्रिक यवनों का समूह चढ़ आया, वह इन सन्तों पर आसुरी माया फैलाने लगा। उसे देखकर बहुत से साधु-सन्त घबड़ाने लगे। जब वह दल आचार्य श्री के सन्निकट जा पहुँचा तो उनके तेज से भयभीत होकर उलटे पैरों भाग छूटा, दलपति-यवन मूर्च्छित होकर वहीं गिर पड़ा उसके मुख से रुधिर बहने लगा।

यह समाचार सुनते ही उस (यूथपति) का छोटाभाई जो उससे भी बढ़कर उत्पाती था शासन की बागडोर भी उसी के हाथों में थी। उसने चारों ओर अन्धकार फैला दिया। आचार्य श्री ने भी तत्क्षण सूर्यभगवान् का आवाहन कर समस्त अन्धकार को विनष्ट कर डाला। सूर्य के उस प्रचण्ड तेज से जब यवनसमूह जलने लगा और कहीं भी बचने का स्थान नहीं दिया तब हाथ जोड़कर त्राहि-त्राहि कहता हुआ वह यवन समूह आचार्य श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य के चरणों में गिर पड़ा। और गद्गद्कण्ठ से स्तुति करने लगा—

यो वै जघान यवनं मुचुकुन्द दृष्ट्या, श्रीकेशवो व्रजपतिः श्रवणीय लीलः।
भूयः स एव मुनिरूप धरश्च भट्टो भक्तावितानमनिशं शरणं व्रजामः॥
निमज्जितः संसृतितोयचक्रे तापादिजालैर्मृतक प्रतीकान्।
व्यापारयत् स्वस्य वचः सुधाभिस्तत्पाद मूलं शरणं व्रजामः॥

अर्थात् मुचुकुन्द की दृष्टि से कालयवन को भस्मीभूत करानेवाले श्रवणमनोऽभिराम लीलावाले श्रीव्रजराज केशव ने जिस प्रकार भक्तों की रक्षार्थ अवतार धारण किया था, उसी प्रकार भक्तों की रक्षा और अभक्तों के दमनार्थ उसी केशव भगवान् ने केशवभट्ट मुनि के रूप में पुनः अवतार धारण किया है। आप साक्षात् श्रीकेशव ही हैं। संसार समुद्र में निमग्न त्रिविध तापों से संतप्त अतएव मृतक-समान प्राणियों को जिन्होंने अपनी हितकारिणी दृष्टि से जीवन दान दिया हम सब उसी श्रीकेशव-काश्मीरि भट्टाचार्य के चरणों की शरण में हैं।

इस प्रकार यवन समाज के आतङ्क से काश्मीर के हिन्दुओं को क्लेशमुक्त किया और सबको यही आदेश दिया कि इन क्षण भंगुर शरीर और धन दारा आदि से मोह हटाकर उन्हीं भक्तवत्सल प्रभु का तुम सब भजन करो। आज भी आकाश में स्थित सूर्य उनके प्रभाव को प्रदर्शित कर रहा है।

काश्मीर में ही उन्होंने वेदान्त सूत्रों पर वेदान्त कौस्तुभ प्रभावृत्ति लिखी और "क्रमदीपिका" तन्त्र ग्रन्थ का प्रणयन किया। इस ग्रन्थ में श्रीगोपाल अष्टादशाक्षर (अथर्ववेदीय) और पांञ्च-रात्रान्तर्गत अष्टादशाक्षर मुकुन्दमन्त्र आदि मन्त्रों के उद्धार ऋष्यादिन्यास और अनुष्ठानों का विधि-विधान है। यह ग्रन्थ यद्यपि ७०० श्लोकों के लगभग स्वल्पकाय ही है, लेकिन विविध छन्दों में वर्णित इसकी जटिलता एवं गम्भीरता रचयिता के वैदुष्य की कीर्तिपताका फहरा रही है। रुद्रधराचार्य, विद्याधराचार्य, भैरव त्रिपाठी, गोविन्द विद्याविनोद भट्टाचार्य आदि अनेकों विद्वानों ने इस ग्रन्थ पर टीकायें की हैं। वे सब बंगाल एसियाटिक सोसायटी के वृहत् पुस्तकागर में सुरक्षित हैं उनकी अन्तिम पुष्पिकाओं के कुछ ब्लाक देखिये—

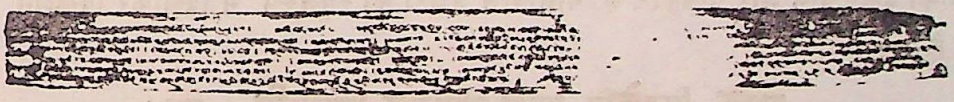

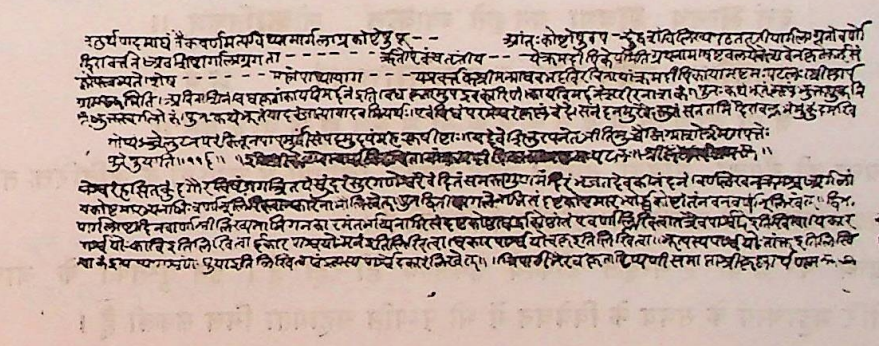

मन्त्रानुष्ठान प्रकरण में इस ग्रन्थ के उद्धरण श्रीगोपालभट्टजी आदि ने हरिभक्तिविलास आदि जैसे ग्रन्थों में दिये हैं। कुछ व्यक्तियों ने भ्रान्तियाँ फैलाना चाहा था कि यह ग्रन्थ किसी अन्य की रचना है। कुछ सज्जन इसे नारद पंचरात्र का अंश बतलाने लगे थे, किन्तु "प्रपञ्चसारे प्रतिथा तु दीक्षा" क्र०दी० ४ पटल आदि श्लोकों में प्रपञ्चसार आदि ग्रन्थों के नामोल्लेख आदि कारणों से उनका संशय निवृत्त हुआ। इसके अतिरिक्त भैरव त्रिपाठी ने इस ग्रन्थ के उपान्त्य श्लोक "यश्चक्रं निज केलि साधन" क्र० ८ पटल श्लोक के चक्रबन्ध में प्राप्त "केशवेन कृता क्रमदीपिका" उल्लेख के आधार पर लिखा है कि कभी कोई इस ग्रन्थ को अन्य की रचना न सिद्ध करे इसलिये चक्रबन्ध में ग्रन्थकार ने ग्रन्थ और अपना नाम समाविष्ट किया है जो किसी रहस्यवेत्ता के समझ में आ सकता है—"यश्चक्र० इस श्लोक में चक्र शब्द से चक्रबन्ध का संकेत है। चक्रबन्ध षट्कोण का होता है, उसमें ७६ अक्षरों के शार्दूल विक्रीडित छन्द का इस प्रकार समावेश किया जाता है, श्लोक के पहले से तीसरे चरण तक ५७ अक्षरों में से ९-९ अक्षर चक्र के एक एक अरा में रहते हैं और एक अक्षर मध्य में रहता है जो तीनों चरणों में काम देता है, अर्थात् तीनों चरणों के मध्य में वही अक्षर आता है, इस प्रकार ५७ की अपेक्षा ५५ अक्षरों में ही चक्रबन्ध के छहों अरों की पूर्ति हो जाती है। चतुर्थ चरण के अन्तिम अक्षर का दो बार उपयोग होता है, उससे आरम्भ करके इस (चतुर्थ) चरण के अठारह अक्षर घूम जाते हैं, उनमें छः अक्षर तो पूर्व के तीन चरणों के आदि अन्त के समाविष्ट हो जाते हैं और दो दो अक्षर अरों के मध्य मध्य में सन्निविष्ट कर दिये जाते हैं। इस प्रकार के चक्रबन्ध में अरों के तीसरे और छटे अक्षर से अभीष्ट नामादि व्यक्त किये जाते हैं, जैसे कि इस श्लोक के छटे और चौदहवें अक्षरों से "केशवेन-कृता" और तीसरे और सतरहवें अक्षरों से "क्रमदीपिका" व्यक्त होता है। यहाँ सीधे क्रम से ही उस श्लोक को देकर ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नामोंवाले अक्षरों को स्थूलरूप में दिखाकर दिग्दर्शन कराया जाता है :—

यश्चक्र निजकेलि साधन मधिष्ठान स्थितोऽपि प्रभु।
दत्तं मन्मथ शत्रुणा वन कृते व्याकृत्त लोकार्तिकज्॥
धत्तेदीप्त नवेन शोभ न मधापेतात्तमायं ध्रुवं।
व न्दे का य वि म र्द नं व ध कृ तां भु ञ्ज द्यु कं या द वम्॥

इस ग्रन्थ की बँगला, उड़िया, नागरी आदि अनेकों लिपियों में कागजों के अतिरिक्त ताड़पत्रों में सूचिविद्ध अक्षरोंवाली भी प्राचीन पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं।

इस ग्रन्थ पर ८ या ९ संस्कृत टीकायें उपलब्ध हो रही हैं। इन पुस्तकों के आधार से श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य के समय के विवेचन में भी पर्य्याप्त सहायता मिल सकती है।

काश्मीर से ही आपने एक बार हिमालय की यात्रा की, वहाँ श्रीनारदजी आदि की प्रतिमाओं की संस्थापना की और योग समाधि निरत हो ११० वर्ष की आयु तक उधर ही रहे, समाधि के अनन्तर प्रभु की प्रेरणा से पुनः काश्मीर प्रदेश में आये और कुछ समय तक वहाँ के साधकों को योग की शिक्षा देकर हरिद्वार होते हुए नारायणाश्रम पधारे। वहाँ श्रीनारदजी के दर्शन किये और कुछ दिनों तक वहाँ निवास करके मुक्तिक्षेत्र की यात्रा की जहाँ भगवान् के हजारों अर्चा विग्रह हैं, वहाँ से जनक आश्रम (पुर) अयोध्या नैमिषारण्य होते हुए काशीपुरी पहुँचे। वहाँ कुछ सांख्यवाद के विशेष पक्षपाती थे तो कुछ गौतम और कणाद प्रतिपादित न्याय वैशेषिक दर्शनों में ही निरत थे बहुत से अद्वैतवाद में निमग्न थे, बहुत से शैवशाक्त बौद्ध आदि मतों में उलझ कर तर्क वितर्कों में बुद्धि का व्यय कर रहे थे। वे सब सत् शास्त्र की अवहेलना करते थे, उन सबको पराजित करके उनको भगवद्भक्ति की ओर अग्रसर किया। वहाँ से फिर गंगासागर संगम अनुगंगा आदि की यात्रा की। मद्यमत्स्य आहार करनेवाले बंगाल के शाक्तकोल मतावलम्बियों को परास्त करके सात्विक आचरणों द्वारा उनको भगवद्भक्ति में प्रवृत्त किया। वहाँ से लौटकर आने पर आपने नैमिषारण्य में मथुरा के हिन्दुओं की आतङ्कग्रस्त दशा सुनी तो उसी क्षण वहाँ से मथुरा के लिये प्रस्थान कर दिया। हजारों शिष्यों सहित मथुरा में पहुँचकर यवन-तान्त्रिकों को शान्तिपूर्वक बहुत कुछ समुझाया बुझाया। आचार्य श्री ने कहा जबरदस्ती किसी के धर्म का परिवर्तन करना कराना उचित नहीं है। क्या हिन्दु क्या मुसलमान, सभी का उपास्य एक ही परमपिता परमेश्वर है। भिन्न-भिन्न नाम रूपों से सब उसी की उपासना करते हैं। हिन्दुधर्म सनातन है, इसके अनुयायियों पर जुल्म करना अच्छा नहीं। जिसका दुर्दान्त स्वभाव होता है वह शान्ति से समझाने पर नहीं मान सकता। यह लोक और शास्त्र सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। कहा भी है :—

[विश्राम घाट पर उपदेश करते हुए श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य]

फूलै फलै न बेत, यदपि सुधा वर्षहिं जलधि।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं विरंचि सम॥

जब शान्तिपूर्वक बहुत कुछ समझाने पर भी यवन तान्त्रिक एवं यवन शासकों का हृदय नहीं बदलता देखा तब श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य को भी दण्डनीति का अवलम्ब लेना पड़ा।

कहा जाता है कि यवनों ने मथुरा में जमुना के घाट (विश्राम) पर कोई ऐसा यन्त्र लगा दिया था कि उस यन्त्र के नीचे होकर जानेवालों की अपने आप शिखा समाप्त हो जाती और सुन्नत हो जाती थी। इसके साथ-साथ हिन्दुओं पर अनेक प्रकार के कर लगा दिये गये थे। सख्ती की जा रही थी प्रार्थना की सुनवाई नहीं होती थी, हिन्दु-धर्मावलम्बी असहाय अनाथ की भाँति त्राहि-त्राहि कर रहे थे। इस घटना का उल्लेख श्रीरामानन्दीय महानुभाव नाभादासजी ने स्वरचित भक्तमाल के एक ७५वें छप्पय में इस प्रकार किया है—

[यवन तांत्रिकों के यन्त्र को निर्बल बना कर श्रीकेशवकाश्मीरि यन्त्र के नीचे खड़े हैं]

काश्मीरि की छाप पाप तापिनि जग मण्डन।
दृढ़ हरि भक्ति कुठार आनधर्म विटप विहण्डन॥
मथुरा मध्य मलेच्छ वाद करि वरवटजीते।
काजी अजित अनेक देखि परचै भै भीते॥
विदित वात संसार सब सन्त साखि नाहिंन दुरी।
केशोभट नर मुकुट मणि जिनकी प्रभुता विस्तरी॥

इस छप्पय के शब्दों से साधारणतया यह भाव स्पष्ट होता है कि, श्रीकेशवभटजी का विश्व में बहुत उच्च स्थान था। उनकी सुकीर्ति विस्तृत हो चुकी थी। उनके नाम के साथ काश्मीरि शब्द जुड़ा हुआ था। हरिभक्तिरूप दृढ़ कुठार द्वारा विधर्मरूपी अन्य धर्मों को वे सहज में उन्मूलन कर देते थे। मथुरा में म्लेच्छ यवनों को जीतकर उनके द्वारा हिन्दुओं पर बढ़ाये हुए अत्याचार को समाप्त करवाया। यवनकाजी और शासक सभी इनके प्रताप से भयभीत हो गये। उनका यह प्रभाव सारे संसार में विदित हो रहा है, छिपी हुई बात नहीं है न इसमें कुछ बनावटी ही है वस्तुतः यह सत्य घटना है। सन्त (सत्पुरुष) ही हमारे इस कथन की सत्यता में साक्षी हैं।

विक्रम सम्वत् १७६९ में श्रीप्रियादासजी ने इस छप्पय का निम्नांकित पद्यानुवाद किया है :—

आप काश्मीर सुनी बसत विश्राम तीर तुरक समूह द्वारा जन्त्र इक धारिये।
सहज सुभाउ कोउ निकसत आय ताको पकरत जाय ताकैं सुन्नत निहारिये॥
संग ले हजार शिष्य भरे भक्ति रंग महा अरे वही ठौर बोले नीच पट टारिये।
क्रोध भरि झारे आय सूबा पै पुकारे वे तो देखि सबै हारे मारे जल बोरि डारिये॥

भक्तमाल और उसके टीकाकार दोनों के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने वैष्णव धर्म की किसी भी शाखारूप सम्प्रदायवाले व्यक्ति से किसी भी प्रकार का वाद-विवाद नहीं किया, अपितु हरिभक्ति विरोधी अन्य धर्मों रूपी वृक्षों को वे हरिभक्तिरूप दृढ़ कुठार से अवश्य

खण्डन करते थे। जैसा कि श्रीनाभाजी और श्रीप्रियादासजी ने उपर्युक्त अपने-अपने स्वरचित पद्यों में अभिव्यक्त किया है।

जहाँ यवन तान्त्रिकों ने जो यन्त्र लगा रक्खा था, वहाँ उसी यन्त्र का आचार्य श्री ने ऐसा परिवर्तन कर दिया कि कोई भी हिन्दू उसके नीचे से निकले उस पर उस यन्त्र का कुछ भी प्रभाव नहीं हो, किन्तु तान्त्रिक शासक यवनमात्र उधर उसके नीचे या निकट आवें सब जलने लग जाँय। आचार्य श्री ने श्रीसुदर्शन चक्रराज एवं भुवन भास्कर भगवान् सूर्य का उसमें आवाहन कर दिया था। ऐसा भी कहा जाता है कि वह दृश्य और अदृश्य दोनों प्रकार से यवनमात्र को जला रहा था, इधर श्रीयमुनाजी ने भी अपना कलेवर बढ़ाकर यवनों को बहाना आरम्भ कर दिया। ऐसी भी जन-श्रुति है कि उस यन्त्र के नीचे से जो भी यवन पुरुष निकलता, उसका पुंस्त्व बदल कर उसके स्त्री चिह्न व्यक्त हो जाते थे। चाहे जो भी हो, वास्तव में ऐसी घटना अवश्य घटित हुई थी। यवनों द्वारा पीड़ित हिन्दुओं का श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य ने त्राण किया था। और अनीति परायण दुर्दमन दुष्टों का आपने अपने तपस्तेज से दमन किया था।

श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य द्वारा चक्रसुदर्शन एवं प्रखर सूर्य तेज का आविर्भाव

समय—उपर्युक्त स्पष्टीकरणों द्वारा पता चलता है कि अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में हिन्दुओं पर ऐसे अत्याचार होने के उल्लेख मिलते हैं, अतः वही समय (सन् १२९६–१३२०) इन श्रीकेशव-काश्मीरि भट्टाचार्य की विद्यमानता का प्रमाणित होता है। कुछ व्यक्तियों ने कविराज कृष्णदास के चैतन्य चरितामृत की "हेन काले दिग्विजयी ताहाइ आइलां" तुक के आधार पर उस कल्पित दिग्विजयी और केशवकाश्मीरि भट्टाचार्य को एक सिद्ध करना चाहा था किन्तु वह सर्वथा अप्रमाणित सिद्ध हुआ, इस आशय को वर्तमान समय में हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी ने हमारे एक पत्र के प्रत्युत्तर स्वरूप अपने पत्र द्वारा स्पष्ट कर दिया है। उस पत्र की शब्दावली इस प्रकार है—

श्रीवेदान्ताचार्यजी !

अन्वेषण से पता चला कि श्रीनिम्बार्कीय केशवकाश्मीरि तो चैतन्यदेव के जन्म से भी बहुत पूर्व हुए हैं, उनके और इनके काल में सैकड़ों वर्षों का अन्तर है……। यह चित्र

तो काल्पनिक है। किसी भी चित्रकार से आप कह दें, उसी का वे काल्पनिक चित्र बना देंगे। पुनः पुनः प्रणाम। भवदीय—प्रभुदत्त। संकीर्तन भवन झूंसी (प्रयाग)

फाल्गुन शु० ८, २००८ वि०

तत्वार्थ प्रकाशिका टीका की विशेषतायें—गीता पर संस्कृत हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं में शतशः टीकायें उपलब्ध हो रही हैं। उनमें बहुत-सी टीकायें सामान्य अक्षरार्थ दरसानेवाली हैं, बहुत-सी दार्शनिक तत्वों के विवेचन करनेवाली हैं। बहुत-सी अपने-अपने स्वाभिमत दार्शनिक सिद्धान्तों को संस्थापित करनेवाली भी हैं। यह तत्वप्रकाशिका टीका भी ब्रह्मजीव और जगत में स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्धरूप टीकाकार के स्वाभिमत सिद्धान्त समर्थनपरक है। यद्यपि द्वैत अद्वैत विशिष्टाद्वैत शुद्धाद्वैत आदि सभी अभिमतों के प्रदर्शक सभी आचार्य तथा विद्वान् श्रद्धेय हैं और सभी के अभिमत भी अपने-अपने दृष्टिकोण से समीचीन ही हैं, तथापि तत्व प्रकाशिका टीकाकार की गीता के स्वाभाविक अर्थ प्रकाशित करने में कुछ विशेषतायें हैं। उनमें कुछ उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

पर्याप्त और अपर्याप्त शब्द का कुछ टीकाकारों ने क्रमशः परिमित और अपरिमित अर्थ किया है। गीता प्रथम अध्याय श्लोक १० में दुर्योधन ने द्रोणाचार्यजी से कहा है कि भीष्मपितामह द्वारा अभिरक्षित हमारी सेना अपर्याप्त है और भीमसेन द्वारा संरक्षित पाण्डवों की सेना पर्याप्त है। यदि पर्याप्त शब्द से सात अक्षौहिणी संख्या के कारण पाण्डवों को सेना को परिमित बतलाने का भाव दर्शित किया जाय और एकादश अक्षौहिणी संख्या होने से कौरवों की सेना को "अपर्याप्त" शब्द से अपरिमित बतलाना अर्थ व्यक्त किया जाय तो पूर्ववर्ती द्वितीय और तृतीय श्लोकों में दुर्योधन द्वारा पाण्डवों की सेना को व्यूढ और महती बतलाना असंगत होगा। इसके अतिरिक्त अध्याय ३ श्लोक ४२ में "यो बुद्धेः परतस्तु सः" इस अन्तिम चरण में "स" शब्द का आपने पूर्व प्रकरण समागत "काम" अर्थ किया है, "श्री श्रीधर" श्रीशंकर आदि टीकारों ने "स" शब्द से आत्मा एवं परमात्मा का परामर्श माना है। किन्तु यहाँ इससे पूर्व और अन्त से भी काम की ही चर्चा है, अतः पूर्वापर को एकदम छोड़कर आत्मानुधावन करने की अपेक्षा तत्वप्रकाशिकाकार का अभिमत विशेष संगति संगत जँचता है। इसी प्रकार और भी कई प्रसंग हैं, जो तत्वप्रकाशिका टीका की विशेषता द्योतन करते हैं।

गीता का श्लोक संख्यामान—महाभारत की पाण्डुलिपियाँ दो प्रकार के पाठोंवाली मिलती हैं, एक पक्षिण परम्परावाली और दूसरी उत्तर पूर्वीय (बंगाल आदि) परम्पराऽनुसारिणी। दक्षिण भारत की प्रतियों में गीता की श्लोक संख्या बतलानेवाले 'षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः"। इत्यादि श्लोक नहीं मिलते किन्तु उत्तरपूर्वीय भारतीय प्रतियों में मिलते हैं, उन्हीं के अनुसार तत्त्व-प्रकाशिकःकार ने स्वलिखित भूमिका में उन श्लोकों को उद्धृत करके श्लोक संख्या ७४५ लिख दिये हैं किन्तु गीता की वर्तमान उपलब्ध प्रतियों में श्लोक संख्या ७०० ही देखी जाती है।

कुछ सज्जन इन ७०० श्लोकों को ही ७४५ की संख्या सिद्ध करते हैं। इस सम्बन्ध में और दूसरे भी ऐसे कुछ विषय हैं जिनका विवेचन दूसरे भाग में किया जायगा। **सम्पादक—"श्रीसर्वेश्वर"**

※ श्रीसर्वेश्वरो जयति ※

※ श्रीभगवन्निम्बार्क महामुनीन्द्राय नमः ※

समर्पण

अखिल ब्रह्माण्डाधिपति, सर्वाधार सर्वनियन्ता सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् वात्सल्यकारुण्यादि-
गुणार्णव शरणागत-प्रतिपाल भक्तार्तिहरणवद्धकक्ष निखिलैश्वर्य माधुर्यरससारसिन्धु
यशोदाङ्क-लालित व्रजवसुन्धराङ्गण नृत्यमान नाट्याधीश्वर नटवर सदा
श्रीवृषभानुजायुत विराजमान श्रीराधासर्वेश्वर प्रभो ! आपके निकुञ्ज-
परिकरस्थ श्रीरंगदेव्यपर नाम निरन्तर स्वकरकंजस्थ स्व-
स्वरूप श्रीसुदर्शनावतार निखिल महीमण्डलैकदेशिक
श्रीसुदर्शनावतार श्रीनिम्बार्कमहामुनीन्द्र परम्पराश्रित
स्वावताररूप श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य
द्वारा विनर्मित तत्त्व-प्रकाशिका संस्कृत
व्याख्या सहित श्रीमुखसमुद्भूत
वाणीरूप गीता का यह
प्रकाशन आप ही की
वस्तु आप ही के
समर्पित
है।

समर्पक—
श्रीव्रजवल्लभशरण
वेदान्ताचार्य (सम्पादक)

* श्रीराधासर्वेश्वरो जयति *

* श्रीनिम्बार्काय नमः *

भूमिका

यो मायागुणदोषलेशरहितः स्वाभाविकैः सद्गुणैः
स्वातन्त्र्याखिलविज्ञताद्यगणितैर्युक्तो ऽब्जजादिस्तुतः ।।
भक्ताभीष्टप्रदो रमैकरमणो वेदैकगम्यो हि य-
स्तं वन्दे मनसा गिरा च शिरसा गोपीप्रियं श्रीहरिम् ।।१।।
यस्य श्रीकरुणार्णवस्य करुणालेशेन बालो ध्रुवः
स्वेष्टं प्राप्य समार्यधाम समगाद्रङ्कोऽप्यविन्दच्छ्रियम् ।।
याता मुक्तिमजामिलादिपतिताः शैलोऽपि पूज्योऽभव-
त्तं श्रीमाधवमाश्रितेष्टदमहं नित्यं शरण्यं भजे ।।२।।
श्रुतीनां सूत्राणां स्मृतिनिखिलवेदानुवचसां
परं हार्दं युक्तं ह्यखिलचिदचिद्भिन्नमपि च ।।

वन्दारुजनमन्दारं वात्सल्यादिगुणार्णवम् । बन्दे बोधप्रदं नित्यं श्रीनिवासं सुदर्शनम् ।।१।।
वासुदेवो रमाकान्तो गीताचार्यो जगद्गुरुः । कृपां करोतु दासेऽस्मिन् दीने मयि दयानिधिः ।।२।।
क्षमन्तां मम चापल्यं सज्जना दीनवत्सलाः । सारग्राहिविदो वै मां कृतार्थं विदधत्वमी ।।३।।
अनुगृह्णातु मां रामः शरण्यो भक्तवत्सलः । कर्मणाऽनेन प्रीणातु पिता माता गुरुस्तथा ।।४।।
श्रीकेशवार्यवर्येण शुद्धतत्त्वप्रकाशिका । श्रीगीतायाः कृता टीका तस्या भाषां करोम्यहम् ।।५।।

भावार्थ—माया के गुणदोष से रहित जो ब्रह्मादि से पूज्य है ।
जो स्वाभाविक सद्गुणाढ्य सब में स्वाधीन ज्ञानी तथा ।।
वेदों से वह प्राप्य भक्तवरद श्रीकान्त गोपीप्रिय ।
ऐसे श्रीहरि को प्रणाम शिर से वाणी मनों से सदा ।।१।।
जो श्रीविष्णु दयासमुद्र जिसकी दिव्या कृपा से ध्रुव ।
पाके सिद्धि गया स्वधाम, निधनी को भी मिली सम्पदा ।।
पाई मुक्ति अजामिलादि पतितों ने भी पुजाया गिरि ।
देते आश्रित को अभीष्ट फल जो मैं नित्य उन्को भजूं ।।२।।
श्रुती का सूत्रों का स्मृति सकल वेदानुगत का ।
गुणी भेदाभेदाश्रय पुरुष चैतन्य जड़ से ।।

अभिन्नं स्वाभाव्याद्गुणि च परमं ब्रह्मकमिदं
समादिष्टं यैस्तानपि सततनीडे गुरुवरान् ॥३॥
संसाररोगशमने खलु निम्बवद्यो
हार्द्दान्धकारहरणे ऽर्क्कवदेव यश्च ॥
श्रीकृष्णपादपरिचारणतुष्टचेता
*निम्बार्कदेशिकवरः स हि मे गतिः स्यात् ॥४॥
श्रीश्रीनिवासमाचार्यं गुरुं श्रीगंगलाभिधम् ॥
प्रणम्य क्रियते गीता-व्याख्या तत्त्वप्रकाशिका ॥५।

अथ स्वभावतोऽपास्ताखिलाविद्याक्लेशकर्मजन्मादिषड्भावसत्त्वादिगुणकार्यसम्बन्धः सत्यज्ञानानन्तस्वरूपो ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यतेजोवीर्यवात्सल्यौदार्य्यकारुण्यक्षमादयामाधुर्यलावण्यमार्द्दवाद्यनन्तकल्याणगुणमहोदधिः समस्तक्षेत्रज्ञप्रकृतिकालकर्मनियन्ता अतिशयसाम्यवर्जितो विष्वक्सेनगरुडादिनित्यमुक्तैर्निषेवितो ब्रह्मरुद्रेन्द्राद्यचिन्त्यमहिमा तद्वन्द्यो वेदान्तैकवेद्यो जगज्जन्मादिहेतुः प्रणतार्त्तिक्षपणस्वभावः उभयविभूतिर्भगवांञ्छ्रीपुरुषोत्तमो देवासुरसंग्रामनिहतावनितलावतीर्ण-राजन्यरूपदैत्यदानवचमूवृन्दाक्रान्तभूभूरि-

---

वही सच्छास्त्रों का, परममत वेदान्तविदको ।
जिनोंने दर्शाया, उन गुरुवरों की स्तुति करूँ ॥३॥
जो निम्बतुल्य भवरोग विनाशकारी ।
स्वान्तान्धकार हरणे रवि कर्मकारी ॥
श्रीकृष्णचन्द्र चरणार्चन तुष्टचेता ।
निम्बार्कदेव वह हों गति नित्य मेरी ॥४॥

भाष्यकार श्री श्रीनिवासाचार्य और गुरुदेद श्रीगंगलभट्टाचार्यजी महाराज को नमन करके अब गीता की तत्वप्रकाशिका व्याख्या की जा रही है ॥५॥

जो सदा समस्त अविद्या, क्लेश, कर्म, जन्मादि, षड्भाव और प्राकृत देहादिकों के कार्य्यों के सम्बन्ध से स्वभावतः ही निर्लिप्त है, जो सत्यज्ञान और अनन्त स्वरूप है, जो ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, तेज, वीर्य, वात्सल्य, उदारता, करुणा, क्षमा, दया, मधुरता, लावण्य, कोमलता आदि गुणों का समुद्र है, समस्तजीव, माया, काल और कर्म का नियन्ता है, जिसकी बराबरी का और जिससे बड़ा कोई नहीं है, विष्वक्सेन, गरुड़ आदि नित्य मुक्तजीवों से जो सदा सेवित है, ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि जिसकी महिमा को नहीं जान सकते और वे सदा जिसकी बन्दना करते हैं, जो एकमात्र वेदान्त से ही जाना जाता है, और जो जगत् के जन्म, स्थिति, प्रलय, मोक्ष का कारण है, जिसका स्वभाव प्रणत पुरुषों के दुःखों को हटाने का है, और जो लीला और नित्य दोनों प्रकार की विभूतियों से युक्त है ऐसे श्रीपुरुषोत्तम

---

* निम्बार्क आर्यचरणः स सदा गतिर्मे पाठान्तरः ।

भारोत्तरणाय ब्रह्मरुद्रादिदेवतावृन्दैः स्तोत्राराधनप्रार्थितो भूभारोत्तारणाय यादवकुले आविर्बभूवेति सर्वजनप्रसिद्धं भगवदवतारप्रयोजनम्। नैतद्भगवतो मुख्यं तात्पर्य्यं यतस्तस्य वराहपृथुपरशुरामादिवदंश-कलामात्रेणापि भूमारमपहर्त्तुं समर्थत्वात् "पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिवं च पुरुषोत्तमः। विचेष्टयति भूतानि क्रीडन्निव सनातनः॥ कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः। आत्मयोगेन भगवान्परिवर्तयते ऽनिशम्॥ कालस्य च हि मृत्योश्च जंगमस्थावरस्य च॥ ईशते भगवानेकः सत्यमेतद्ब्रवीमि ते"इति महाभारतोक्तात्यद्भूतप्रभावस्य भगवतोऽचिन्त्यशक्तेर्न केवलं भूभारहरणायैवाविर्भावः, किन्तु अक्षपाद-कणादसांख्यजैमिन्यादिभिः शास्त्रकृद्भिर्हैरण्यगर्भपाशुपतसौरगाणपत्यमतवादिभिश्च प्रणीतैः, परतत्त्वा-पह्नवपरैरन्यविषयैः शास्त्रैः स्वभक्तिज्ञानहीनान्संकीर्णमतीन् जीवान्वीक्ष्य कृष्णद्वैपायनरूपेण परतत्त्व-प्रकाशकशारीरकमीमांसादिसच्छास्त्रनिरूपणेनोक्तमतानि निरस्तानि, तथापि भागवतधर्मविरोध्यसुर-राजन्यप्राये लोके भागवतधर्मप्रवृत्त्यभावमेवान्वीक्ष्य भवाब्धिपतितजनतातत्तरणासाधारणोपायस्वज्ञान-भक्तिप्रवृत्यर्थं कलिमलापहराण्यतिमानुषाणि कर्माणि कर्त्तुं स्वदर्शने चातकवदत्युत्कण्ठितचेतसां स्वा-श्रितानन्यरसिकभक्तानां नन्दयशोदागोपीगोपाक्रूरोद्धवादीनामतिकमनीयमाधुर्यलावण्यादिगुणनिधिमूर्त्ति-

---

भगवान् ने देवासुर संग्राम में मरकर फिर पृथ्वीतल में राजारूप में जन्म पाये हुए दैत्य-दानव सेना समूह से आक्रान्त बड़े भूभार को हटाने के लिए ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि देवों की स्तुति और आराधना से प्रसन्न हो, यादवकुल में अवतार लिया। भगवान् के अवतार लेने का यही कारण लोक में प्रसिद्ध है। पर भगवान् के अवतार का यह इतना ही मुख्य प्रयोजन नहीं है, क्योंकि भूमि के भार को तो वराह, पृथु, परशुराम आदि अंश और कला अवतार ही हटाने में समर्थ थे।

पुरुषोत्तम भगवान् तो पृथिवी, आकाश, स्वर्ग और सब जीवों को सहज ही में चलाते हैं। भगवान् सदा कालचक्र, जगच्चक्र और युगचक्र को अपनी शक्ति से परिवर्त्तित करते रहते हैं। काल, मृत्यु, जंगम, स्थावर, सभी पर एक भगवान् शासन करते हैं, यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ।

महाभारत में कहे गये ऐसे अद्भुत प्रभाव और अचिन्त्य शक्तिवाले भगवान् का अवतार केवल भूभार उतारने के लिए ही नहीं होता।

यद्यपि गौतम, कणाद (परमाणु कारणवादी) कपिल (प्रकृतिवादी) जैमिनी (कर्मवादी) आदि शास्त्रकारों और हैरण्यगर्भ, पाशुपत, सौर, गाणपत्य आदि मतवादियों द्वारा प्रणीत, परतत्त्व के अपहारक और अन्य विषयक शास्त्रों द्वारा संकीर्ण बुद्धियुक्त और अपने ज्ञान और भक्ति से शून्य जीवों को देख कृष्णद्वैपायन (वेदव्यास) रूप से अवतरित हो परतत्त्व के प्रकाशक शारीरिक मीमांसादि सच्छास्त्रों को निरूपणकर उक्त मतों को ध्वस्त किया। तथापि भागवतधर्म के विरोधी राक्षस राजाओं से पूरितलोक में भागवतधर्म की प्रवृत्ति का अभाव देख संसार-सागर में पतितजनों के उद्धार के असाधारण उपाय अपने ज्ञान और भक्ति के प्रचारार्थ, कलिमल के नाशक अपने अतिमानुष अद्भुत् कर्मों को करने के लिये, और उनके दर्शन के लिये चातकवत् उत्कण्ठित चित्त तथा उनके अनन्य

दर्शनमधुरालापमनोहरलीलाभिर्मनोऽभिलाषपूर्त्यर्थं च भूभारोद्धरणव्याजेन वसुदेवदेवकीभक्तिवशीभूतो ऽजहद्गुणशक्तिः पूर्णानन्दरूपेणैव तयोः पुत्रभावेनाविर्बभूव। तथोक्तं श्रीभागवते कुन्तीस्तुतौ पक्षान्तराण्युपन्यस्य "भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः ॥ श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचने" त्युक्त्वा तच्छ्रवणादिफलकथनेनास्यैव पक्षस्य सिद्धान्तितत्वात्। तत्र स्वस्वरूपज्ञानोपदेशेन तावभिनन्द्य नन्दव्रजं गत्वा नन्दयशोदादीन्सुखयित्वा पूतनादिकेश्यन्तासुरसंहरणवत्सपालनकालीयदमनगोवर्द्धनोद्धरणरासलीलादिव्याजेन चतुर्मुखसहस्राक्षपुष्पधन्वादिगर्वापहरणरूपां निरंकुशां पारमेश्वरीं लीलां विधाय लीलयैव कंसादीन्निहत्य पितृविमोचनं गुरोर्विद्याग्रहणं तत्सुतप्रदानेनानृण्यरूपस्वधर्मं च प्रदर्श्य यवनान्निहत्य द्वारकामेत्य तत्र रुक्मिणीहरणमहोक्षदमननरकासुरसंहारणादिनानाश्चर्यविवाहान्कृत्वा यादवकुन्तीसुतादिस्वभक्तोत्कर्षं दर्शयितुं भक्तिकण्टकान् पौण्ड्रकजरासन्धचैद्यशाल्वादीन्भूभाररूपान्हतवान्। अवशिष्टं भूभारमपाकर्त्तुं दुर्योधनार्जुनभीमादीन्निमित्तीकृत्य महाभारतयुद्धारम्भं कारयामास। तत्र स्वप्रियभक्तकुन्तीसुतानुकम्पया ऽर्जुनसारथ्यमंगीकृतवान् तदोभयसैन्यमध्ये स्वजनबन्धुगुरुवधपातकभयेन युद्धान्निवृत्य रथोपविष्टं युद्धकरणे कुलघ्नतारूपो महान्दोषो, युद्धत्यागे स्वधर्महानिः स्यादित्यु-

---

आश्रित, अनन्य प्रेमी भक्त, नन्द, यशोदा, गोपी, गोप, अक्रूर, उद्धव आदिकों को अतिसुन्दर, मधुरता, लावण्य आदि गुणों से युक्त स्वमूर्ति के दर्शन, उनके संग मधुर आलाप, अपनी मनोहर लीला आदि से उनकी मनोभिलाषा पूर्त्ति के अर्थ, भूभार हटाने के उद्देश्य से, वसुदेव देवकी की भक्ति के वशीभूत हो, अपने समग्र गुण शक्ति के सहित पूर्णानन्द रूप में प्रकट हुए। श्रीमद्भागवत में कुन्तीस्तुति में, और और पक्षों का उल्लेख कर, "इस संसार में अविद्या, काम और कर्मों से दुःखित मनुष्यों के श्रवण और स्मरण के योग्य कामों को करनेवाले भगवान् की लीला के श्रवण आदि का फल कहकर पक्षान्तर से ऊपर कही हुई बातों का ही समर्थन किया गया है।

जन्म के बाद अपने स्वरूप का ज्ञान देकर अपने माता पिता को प्रसन्न कर भगवान् नन्दव्रज को गये। वहाँ उन्होंने नन्द यशोदा को सुखी किया, पूतना से आरम्भ कर केशी तक अनेक असुरों को मारा, वत्स-पालन, कालीय-दमन, गोवर्द्धन-धारण, रासलीला आदि के द्वारा ब्रह्मा, इन्द्र, कामदेव, आदि के गर्व को चूर किया। ऐसी निरंकुश पारमेश्वरी लीलाओं को कर फिर कंस को खेल ही में मार डाला, माता पिता को कैद से छुड़ाया, गुरु गृह जा विद्याध्ययन किया, मरे हुए गुरु-सुत को उन्हें दे, गुरु-ऋण से मुक्तिरूप अपना धर्म दिखाया और कालयवन को मार द्वारका चले गये। वहाँ जा रुक्मिणि हरण, महोक्षदमन, नरकासुर-संहार आदि, आश्चर्ययुक्त अनेक विवाह कर यादव, कुन्तीसुत आदि, अपने भक्तों का उत्कर्ष दिखाने के लिए भक्ति के काँटे-स्वरूप पौण्ड्रक, शिशुपाल, जरासन्ध, शाल्व आदि भूभार रूप राजाओं का विनाश किया। शेष भूभार हरने के लिए दुर्योधन और अर्जुन को निमित्त कर महाभारतयुद्ध रचाया। युद्ध में अपने प्रियभक्त अर्जुन पर कृपा कर उनके सारथी बने। वहाँ दोनों सेना के बीच, स्वजन-बन्धु एवं गुरुवध के पातक के भय से, युद्ध से हटकर, अर्जुन रथ पर बैठ गया और भगवान् से पूछा कि युद्ध करने में कुलघ्नतारूप महादोष और युद्ध नहीं करने से

भयथा ऽप्यनिष्टमेव कथं मे श्रेयः स्यादिति शोकमोहसागरे निमग्नमर्जुनमुपलक्ष्य सर्वमुमुक्षुभक्तानुकम्पया ज्ञानकर्मोपासनात्मकत्रिकाण्डविषयकसकलवेदसारभूतगीताशास्त्रोपदेशैस्तत उज्जहार। तच्च स्वयमेवार्जुनो वक्ष्यति "नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मया ऽच्युत !। स्थितो ऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तवे"ति ॥ तच्च गीताशास्त्रं पञ्चचत्वारिंशदधिकसप्तशत श्लोकैर्महाभारते भगवता व्यासेन निबद्धं तदुक्तं भीष्मपर्वणि "षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः ॥ अर्जुनः सप्तपञ्चाशत्सप्तषष्टि तु सञ्जयः ॥ धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीतायामानमुच्यत"इति। तत्र शोकनिवृत्तिकारणमात्मस्वरूपगुणादियाथात्म्यज्ञानमेव "तरति शोकमात्मविदिति"श्रुतेः, आत्मा द्विविधः जीवात्मपरमात्मभेदात् तत्र जीवक्षेत्रज्ञपुरुषादिशब्दाभिधेयो ज्ञानस्वरूपो ज्ञातृत्वादिधर्माश्रयः सर्वदा परमेश्वरायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिको ऽणुपरिमाणकः प्रतिशरीरं भिन्नो बन्धमोक्षार्ह आद्यः, तद्बन्धहेतुः सत्त्वादिगुणमायादिशब्दवाच्यं देहेन्द्रियादिरूपेण परिणतमचेतनद्रव्यम्, सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सत्यज्ञानानन्तस्वरूपः सर्वात्मा प्रकृतिपुरुषकर्मकालनियन्ताऽतिशयसाम्यवर्जितः सर्वाऽराध्यः स्वतन्त्रसत्ताश्रयः सर्वत्रैकस्वरूपो हरिनारायणादिशब्दाभिधेयः परब्रह्मभूतो भगवान् वासुदेवो द्वितीयः, तत्प्राप्त्यसाधारणहेतुस्तदनन्यभक्तियोग इति साक्षाद्भगवतोपदिष्टं तदेतदध्यायषट्कत्रयात्मकं गीताशास्त्रमप्रामाण्यकारणबुद्धिमान्द्यदुराग्रहादिदोष-

---

निज क्षात्र-धर्म की हानि होगी, इस प्रकार दोनों अनिष्ट ही देख पड़ते हैं, कैसे मेरा कल्याण होगा ? इस प्रकार मोहसागर में डूबे हुए अर्जुन को उपलक्ष्य कर और सब मुमुक्षुजनों पर कृपा कर ज्ञान, कर्म और उपासना तीन काण्ड विषयक और सकल वेदों के सारभूत गीताशास्त्र का उपदेश दे अर्जुन को मोह सागर से उबारा। यह बात अठारहवें अध्याय में अर्जुन स्वयं कहेंगे।

हे भगवन् आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया, मैंने स्मृति प्राप्त की। मैं सन्देह से रहित हो गया। मैं तुम्हारा कहना करूँगा। गीता में यह बात बताई गयी है कि आत्म स्वरूप, गुण आदि का ठीक ठीक ज्ञान ही शोक निवृत्ति का उपाय है।

श्रुति कहती है :—"तरति शोकमात्मवित्" अर्थात् आत्मा को जाननेवाला शोक को तर जाता है। जीवात्मा और परमात्मा के भेद से आत्मा दो प्रकार का है। पहला अर्थात् जीवात्मा-जीव, क्षेत्रज्ञ, पुरुष आदि शब्दों से पुकारा जाता है। वह ज्ञानस्वरूप, ज्ञातृत्व आदि धर्मयुक्त, सर्वदा परमेश्वर के अधीन स्वरूप, स्थिति और प्रवृत्तिवाला, अणु परिमाण, प्रति शरीर में भिन्न और बन्ध मोक्ष के योग्य है। सत्त्व, रज, तम गुणमय, प्रधान, प्रकृति, माया, आदि शब्दों से कहे जानेवाला, देह इन्द्रियरूप में परिणत, अचेतन द्रव्य जीवात्मा के संसारबन्धन का हेतु है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप, सर्वात्मा, प्रकृति, पुरुष, कर्म और काल के नियन्ता, अतिशय और बराबरी से शून्य, सबके आराध्य, स्वतन्त्र सत्तायुक्त, सर्वत्र एकस्वरूप, हरि, नारायण, राम, कृष्ण आदि जिनके नाम हैं, ऐसे ब्रह्मभूत भगवान् वासुदेव परमात्मा दूसरे हैं। उनका अनन्य भक्तियोग उनकी प्राप्ति का असाधारण उपाय है। ऐसा साक्षात् भगवान् ने ही इस गीता में उपदेश किया है। यह गीता शास्त्र

चतुष्टयशून्यत्वात्सर्वविदुषां प्रमाणतममत एव तस्य सर्वशास्त्रश्रैष्ठ्यमुक्तं वाराहे "सारथ्यमर्जुनस्यादौ कुर्वन्गीतामृतं ददौ ।। लोकत्रयोपकाराय तस्मै कृष्णात्मने नमः ।।१।। संसारसागरं घोरं तर्तुमिच्छति यो नरः ।। गीतानावं समारुह्य पारं याति सुखेन सः ।।२।। गीताज्ञानं श्रुतं नैव सदैवाभ्यासयोगतः ।। मोक्षमिच्छति मूढात्मा याति बालस्य हास्यताम् ।।३।। ये शृण्वन्ति पठन्ति च गीताशास्त्रमहर्निशम् ।। न ते वै मानुषा ज्ञेया देवरूपा न संशयः ।।४।। धिक्तस्य मानुषं देहं धिग्ज्ञानं धिक्कुलीनतां गीतार्थं यो न जानाति नाधमस्तत्परो जनः ।।५।। गीतागीतं न यज्ज्ञानं तद्विद्व्यसुरसंमतम् ।। तन्मोघं धर्मरहितं वेदवेदान्तगर्हितम् ।।६।। तस्माद्धर्ममयी गीता सर्वज्ञानप्रयोजिका ।। सर्वशास्त्रमयी यस्मात्तस्माद्गीता विशिष्यते"इत्यादिना । अत एव बहुभिराचार्यैः स्वस्वमतानुसारेण व्याख्यातमिदं शास्त्रं परन्तु तेषां सर्वज्ञत्वाभावात्तद्व्याख्यानानां शास्त्रविरुद्धांशेनापि युक्तत्वान्न सर्वमुमुक्षूपादेयत्वं, किन्तु "उदयव्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे ।। निम्बार्को भगवान्येषां वाञ्छितार्थप्रदायक"इति भविष्यपुराणे श्रीव्यासवचनाच्छ्रीनिम्बार्काचार्यस्यैव भगवच्छब्दाभिहितत्वेन सर्वज्ञत्वात्सर्वेभ्यः प्राचीनाचार्यत्वाच्च तद्व्याख्यानस्यैव सर्वश्रुतिसूत्राविरुद्धत्वेन परमश्रेयोऽर्थिभिरुपादेयत्वं, तस्य त्वतिगम्भीरार्थतया शारीरक-

---

जो छः छः अध्यायों के तीन षटक् युक्त हैं, बुद्धिमान्द्य, दुराग्रह आदि अप्रमाणता के चार दोषों से शून्य है, और इसलिए सब विद्वानों द्वारा श्रेष्ठतम प्रमाण जाना जाता है। इसलिए सर्व शास्त्रों से इसकी श्रेष्ठता, वाराह पुराण में कही गई है।

अर्जुन का सारथीपना करते हुए जिन भगवान् कृष्ण ने गीतारूप अमृत को तीनों लोकों के उपकार के लिये दिया, उनको नमस्कार है। जो मनुष्य घोर संसारसमुद्र को तरने की इच्छा रखता है, वह गीतारूपी नाव पर चढ़कर सुख से पार कर जाता है। जिस मनुष्य ने गीताज्ञान नहीं सुना और उसका अभ्यास नहीं किया, वह मूढ़ात्मा यदि मोक्ष चाहता है, तो उसकी मूर्खता पर लड़के भी हँसते हैं। जो गीताशास्त्र दिन-रात पढ़ते और सुनते हैं, वे देवरूप हैं, इसमें सशय नहीं। उस पुरुष के मनुष्य देह को धिक्कार है जिसने गीतार्थ को नहीं जाना। उससे नीचतर मनुष्य दूसरा कोई नहीं। जिस ज्ञान का उल्लेख गीता में नहीं है, वह असुर-सम्मत, धर्म रहित, वेद रहित और व्यर्थ है। इसलिये गीता धर्ममयी, सर्वज्ञान की प्रयोजक तथा सर्वशास्त्रमयी है, और इसलिये सबसे बढ़कर इसकी विशेषता है। अतः बहुत से आचार्यों ने अपने अपने मत के अनुसार इसकी व्याख्यायें की हैं। उन में किसी-किसी की व्याख्यायें कुछ अंश में शास्त्र से विरुद्ध होने से सब मुमुक्षुओं को उपादेय नहीं हो सकतीं। किन्तु श्रीवेदव्यास ने भविष्यपुराण के "उदय-व्यापिनीग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे । निम्बार्को भगवान्येषां वाञ्छितार्थप्रदायकः" ।। इस श्लोक में श्रीनिम्बार्क आचार्य को भगवान् शब्द से कहा है, जिससे श्रीनिम्बार्काचार्य का सर्वज्ञ होना और सर्वआचार्यों से उनकी प्राचीनता प्रकट होती है। इसलिये उन्हीं की की हुई गीता व्याख्या, श्रुति-सूत्र से अविरोधी होने के कारण, परम कल्याण चाहनेवालों के लिये उपादेय है। पर वह व्याख्या अति गम्भीर है और उसके अधिकारी वही हैं जो

मीमांसादिसर्ववेदान्तोक्तसाधनसम्पन्नसूक्ष्मबुद्ध्यधिकारिकत्वेन मन्दमतीनां तत्र प्रवेशानर्हत्वात्तेषां तदर्थ-जिज्ञासूनामल्पप्रयत्नानां मुमुक्षूणामुपकारायाञ्जसा तदुक्तार्थोपलब्धये तच्चरणस्मरणैकबलेन तत्कृपा-लब्धतदुक्तसिद्धान्तेन मया श्रीभगवद्गीताटीका सुगमा तत्त्वप्रकाशिकाभिधा यथामति *विधीयते। तया श्रीवासुदेवो भगवान्प्रसीदतु।

शारीरक मीमांसादि सर्व वेदान्त में कहे गये साधन द्वारा सूक्ष्मबुद्धि से सम्पन्न हैं। मन्दमतियों का उसमें प्रवेश नहीं हो सकता। इसलिये उसके अर्थ के जिज्ञासु अल्प प्रयत्नवाले मुमुक्षुओं को उनके कहे गये अर्थ की सुगमता से प्राप्ति के लिये श्रीनिम्बार्काचार्य के चरणों का स्मरण करके उनकी कृपा से प्राप्त उनकी की गई, गीताव्याख्या के सिद्धान्तानुसार यह "सुगम तत्त्वप्रकाशिका" नाम की श्रीगीता की टीका अपनी बुद्ध्यनुसार की जा रही है, इससे भगवान् वासुदेव प्रसन्न हों।

कृष्ण-मयी-गीता है

[रचचिया—पं० श्रीमोहिनीशरणजी शास्त्री, "मोहन" आशा गुजरात]

देवन में कृष्ण एक महान् देव तिनको,
अर्चन नमन काटे सब जग को फजीता है।
नामन में एक नाम वासुदेव सरस अति,
जपै जो "मोहन" नाम जग में वही जीता है॥
पतिव्रता बहुतक भईं या धरा ऊपर,
मानी गई उत्तम सभी सों सती सीता है।
ऐसैं ही छऊँ शास्त्र, सब ग्रन्थन में सर्वोपरि,
बाणी अगम ज्ञान कृष्णमयी गीता है॥

---

* अभिधीयते।

※ श्रीपार्थसारथये नमः ※

※ श्रीमते निम्बार्काय नमः ※

श्रीमद्भगवद्गीता

तत्र तावद् 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वमि'त्यारभ्यार्जुनस्य शोकमोहापनोदाय भगवदुपदेशं वर्णयितु मर्जुनस्य सहेतुकशोकदर्शनाय प्रथमाध्यायारम्भः। तत्र च स्वपुत्रजयाभिलाषी नष्टदृष्टिरर्जुनस्य गिरीश तोषणदिव्यास्त्रलाभो घोषयात्रायां दुर्योधनस्य गन्धर्वेभ्यो मोचनं विराटनगरउत्तरगोग्रहे कौरवोष्णी-षादिहरणमित्यादि बहुशः श्रुताद्भुतपौरुष-शङ्कितात्मा धृतराष्ट्रस्तदनुकम्पया श्रीवेदव्यासदत्तमहाभारत-सर्ववृत्तान्तविषयकज्ञानदृष्टिं संजयं पृच्छति स्मेत्याह वैशम्पायनो जनमेजयं प्रति। धृतराष्ट्र उवाचेति-प्रश्नमेवाह :—

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

अर्जुन के शोक मोह को मिटाने के लिये "अशोच्या० (गीता २।१०) इस श्लोक से आरम्भ करके भगवान् के दिये हुए उपदेश का वर्णन करने के लिये अर्जुन का सहेतुक शोक दिखानेवाला गीता का यह प्रथम अध्याय आरम्भ होता है। अपने पुत्र (दुर्योधन) के विजय की अभिलाषा रखनेवाला दृष्टि और विमर्शविहीन धृतराष्ट्र ने उन संजयजी से पूछा :—जिनको श्रीवेदव्यासजी ने महाभारत युद्ध के समस्त वृत्तान्तों को दूर से ही देखने की दृष्टि प्रदान की थी। क्योंकि शंकर को भी सन्तुष्ट करने योग्य अर्जुन को दिव्य अस्त्र की प्राप्ति, घोषयात्रा में दुर्योधन को अर्जुन द्वारा गन्धर्वों से छुड़ाना, विराट नगर में गउओं को लाते समय कौरवों की पगड़ी आदि हरण आदि अद्भुत पराक्रमों को बारम्बार सुनने से धृतराष्ट्र के चित्त में सन्देह हो रहा था। इस वृत्तान्त को वैशम्पायनजी ने राजा जनमेजय को कहा। वह प्रश्न इस प्रकार है :—

हे सञ्जय ! युद्ध करने की इच्छा से दुर्योधन आदि मेरे पुत्र और युधिष्ठिरादि पाण्डवों ने धर्मोत्पत्ति की भूमि कुरुक्षेत्र में एकत्र होकर क्या किया ?

कुरुक्षेत्र के धर्मोत्पत्ति की भूमि होने में श्रुति प्रमाण है। यथा—"कुरुक्षेत्रं वै देवयजनम्" अर्थात् कुरुक्षेत्र देवों के यज्ञ करने की भूमि है। फिर इसका प्रमाण महाभारत आदि में भी है यथा—

"ब्रह्मवेदी कुरुक्षेत्रं पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम्।
तस्मिन्वसन्ति ये राजन् ! न ते शोच्याः कथञ्चन ॥"

धर्मक्षेत्र इति। युयुत्सवो योद्धुमिच्छवो मामका ममपुत्राः दुर्योधनादयः, पाण्डवाश्च युधिष्ठिरादयः, धर्मक्षेत्रे धर्मोत्पत्तिभूमौ "कुरुक्षेत्रं वै देवयजनमि'ति श्रुतेः। "ब्रह्मवेदी कुरुक्षेत्रं पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम्। तस्मिन् वसन्ति ये राजन्न ते शोच्याः कथञ्चने'त्यादिमहाभारतादिप्रसिद्धमाहात्म्ये समवेताः संगताः किमकुर्वत। उभयसैन्यमध्ये दिव्यास्त्रविदो महाप्रबलवीरान्भीष्मार्जुनादीन्दृष्ट्वा युद्धव्यवसायं त्यक्त्वा शममास्थिता वा युद्धोद्योगमेव कुर्वन्तः स्थिता इति प्रश्नार्थः। धर्मक्षेत्र इत्यस्य अधार्मिका अपि ममपुत्राः कपटापहृतं पाण्डवराज्यं पितृवधजन्यकोपाविष्टपरशुरामकृतपितृनिष्कृतिहेतु-क्षत्रियवध-तद्रुधिरापूरितकुण्डपञ्चक-तर्पितभृग्वादिपितृसन्तुष्टिदत्ततत्प्रार्थितकुण्डतत्क्षेत्रपावनत्ववरयोगाद्देवयजन-भूमित्वात्कुरुराज्ञस्तपसा च जातधर्मोत्पादकत्वतद्वृद्धिहेतुत्वरूपकुरुक्षेत्रप्रभावाद्धर्मबुद्ध्युत्पत्त्या यदि तेभ्यः एव दद्युस्तर्हि युद्धं विनैव नष्टप्रायाः स्युः। अथवा पूर्वमेव धार्मिकाः पाण्डवाः धर्मक्षेत्रसंगत्या धर्मवृद्ध्या स्वजनबन्धुजनबधनिमित्तं राज्यं यदि नेच्छेयुश्चेत्तर्हि सपुत्रः सुखी स्यामित्यभिप्रायः।

सञ्जय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

अर्थात् कुरुक्षेत्र ब्रह्मा के यज्ञ करने की वेदी है, पवित्र है और ब्रह्मर्षियों से सेवित है। हे राजन्! जो वहाँ बसते हैं वे तनिक भी शोच करने योग्य नहीं हैं।

धृतराष्ट्र के प्रश्न करने का यह आशय है कि दोनों दलों में महाप्रबल, वीर और दिव्यास्त्रों को जानने वाले भीष्म, अर्जुन इत्यादि को देख दोनों पक्ष के लोग युद्ध का व्यवसाय छोड़ शान्त हो गये अथवा युद्ध के उद्योग ही में लगे रहे।

फिर "धर्मक्षेत्र" इस विशेषण के प्रयोग का यह तात्पर्य है कि कपट से पाण्डवों का राज्य हरण करने वाले अधार्मिक भी मेरे पुत्र, इस कुरुक्षेत्र ऐसी पवित्र भूमि के प्रभाव से यदि धर्म बुद्धि वाले बनकर पाण्डवों का राज्य लौटा दें, तो बिना लड़ाई ही के वे प्राय नष्ट हो जायँगे। अथवा पहले ही से धार्मिक पाण्डव लोगों की धर्म बुद्धि इस पवित्र भूमि में आने से यदि और भी प्रबल हो जाय और वे अपने बन्धु-बाँधवों को मारकर राज्य लेना नहीं चाहें, तो हम अपने पुत्रों के साथ सुखी होंगे।

कुरुक्षेत्र को धर्म उत्पन्न करने और धर्म को बढ़ाने की शक्ति इसलिए है कि पिता के वध से क्रोधित परशुराम ने पितरों की शान्ति के लिए क्षत्रियों को मार और उनके रुधिर से पाँच कुण्डों को भर उसीसे पितरों का तर्पण किया था और उन भृग्वादि पितरों ने सन्तुष्ट होकर उन कुण्डों और इस क्षेत्र के विषय में पवित्रता का वर दिया था। फिर देवताओं की यज्ञभूमि होने से और कुरुराज के वहाँ तपस्या करने से भी वह भूमि पवित्र है। इसलिए उस भूमि में धर्म के उत्पादन और वृद्धि करने की शक्ति है। १।

एवं पुत्रस्नेहनिबद्धहृदयस्य भगवन्मायाभिभूतस्यान्धमात्रस्य धृतराष्ट्रस्य प्रश्ने विदिताभिप्रायस्य संजयस्योत्तरमवतारयति वैशम्पायनः। संजय उवाच—दृष्ट्वा इति। पाण्डुपुत्राणामनीकं सैन्यं व्यूढं धृष्टद्युम्नादिभिर्व्यूहरचनया स्थापितं राजा दुर्योधनो दृष्ट्वा आचार्यं धनुर्वेदविद्योपदेष्टारमुपसंगम्य तत्समीपं गत्वा वचनमब्रवीत्। एतेन पाण्डवसैन्यदर्शनजन्यं भयं सूचितम्।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

आचार्यस्यामर्षं जनयितुं तावत्पाण्डवसैन्योत्कर्षमाह। पश्यैतामिति। भो आचार्य! एतां पाण्डुपुत्राणां महतीं चमूम् व्यूढां पश्य, युद्धार्थमागतानां युक्तमेव चमूव्यूहरचनमिति चेत्तत्रोक्तमाचार्येति। त्वदाश्रितास्मदुद्योगमप्रतीक्ष्यादावेवोद्युक्ता इति तद्धार्ष्ट्यं पश्येति भावः। ननु तेषामपि मच्छिष्यत्वाज्ज्येष्ठत्वादि गुणवत्त्वाच्च युक्तः प्रथमं तदुद्योग इति चेत्तत्राह—द्रुपदपुत्रेणेति द्रुपदस्य तव शत्रोः पुत्रेण व्यूढां व्यूहरचनया स्थापितां अतस्त्वया न क्षम्यतामिति भावः। प्रबलेन शत्रुपुत्रेण सेनापतिना सह न सहसा योद्धव्यमिति चेत्तत्राह—तव शिष्येणेति। नहि गुरोरधिकः शिष्यो भवति, एवं चेत्ततः का शङ्का तत्राह—धीमतेति। तव मारणे कृतमतिनेत्यतो नोपेक्षणीय इत्यभिप्रायः। एतेन धर्मक्षेत्रगतस्यापि तवपुत्रस्य धर्मबुद्धिर्नोत्पन्ना। सर्पस्य पयःपानेऽपि न क्रोधहानिः, प्रत्युत विषवृद्धिरेव भवति, तद्वत्। तस्मात् तद्राज्यप्रत्यर्पणशंका त्वया न कार्या इति भावः।

इस पुत्र स्नेह में निविष्ट-चित्त और भगवान की माया से मोहित अन्धे धृतराष्ट्र के प्रश्न का अभिप्राय जानकर सञ्जय ने जो उत्तर दिया उसको वैशम्पायन कहते हैं—

धृष्टद्युम्नादि द्वारा व्यूहरचना से स्थापित पाण्डवों के सैन्य को देखकर राजा दुर्योधन ने धनुर्विद्या के उपदेश देने वाले द्रोणाचार्य के पास जाकर यह कहा। पाण्डवों के सैन्य को देखकर दुर्योधन के हृदय में जो भय का संचार हुआ उसको इस श्लोक से सूचित किया ॥२॥

आचार्य की ईर्षा उत्पन्न करने के लिए दुर्योधन पाण्डवों की सैन्य की बड़ाई करता है—व्यूह रचना में स्थित पाण्डवों के इस बड़े सैन्य को देखिए यदि आप कहें कि युद्ध के लिए आए हुए पाण्डवों का व्यूह रचना करना तो उचित ही है, तो आप आचार्य ठहरे और आपके आश्रित हम लोगों के उद्योग की प्रतीक्षा किये बिना ही इन लोगों ने अपना उद्योग आरम्भ कर दिया। अतः इन लोगों की इस धृष्टता को देखिये। यदि आप कहें कि पाण्डव भी तो हमारे शिष्य हैं और वे तुमसे (ज्येष्ठत्वादि) अवस्था में बड़े होने आदि गुणों के कारण श्रेष्ठ हैं, इसलिए उनका प्रथम उद्योग करना अर्थात् व्यूहरचना ठीक ही हुआ है। पर प्रश्न यह है कि यह व्यूह रचा है किसने? आपके शत्रु राजा द्रुपद के पुत्र ने इस व्यूह की रचना की है। भाव यह कि इस कारण आपको इन लोगों को क्षमा प्रदान नहीं करना चाहिए। यदि आप यह कहें कि शत्रुपुत्र से, जो पाण्डवों का सेनापति है सहसा युद्ध नहीं करना चाहिए, तो यह सेनापति आपका शिष्य है, उससे इतना क्यों डरना चाहिए फिर यदि आप यह कहें

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

स्यादेवत्तथाप्येकेन द्रुपदपुत्रेणाधिष्ठितां तेषां चमूमस्मन्मध्ये कश्चिदेकोऽपि जेष्यति, न त्वया तदजेयत्वशंका कार्येति चेन्नैक इत्याह-अत्रशूरा इत्यादिभिः। अत्रास्यां पाण्डवचम्वामन्येऽपि शूराः सन्ति अतो नैकेन जेतुं शक्या तेषां चमूः। शूरान्विशिष्याह—महेष्वासा इति। महान्त इष्वासा धनूंषि येषां ते तथा। किञ्च नाल्पयुद्धकौशलाः किन्तु युधि भीमार्जुनसमाः तान्निर्दिशति-युयुधान इत्यादिना। युयुधानः सात्यकिः महारथ इति। त्रयाणां विशेषणम्।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
❋पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥५॥

कि जब यह शिष्य ही है तो मुझसे क्या बढ़ेगा और उसकी चिन्ता ही क्या ? तो यह धीमान् अर्थात्—बुद्धिमान है और आपको मारने के लिए इसने निश्चय कर लिया है। इसलिए उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

इस श्लोक से संजय ने धृतराष्ट्र के प्रति यह प्रकट किया कि धर्मक्षेत्र में जाने से भी तुम्हारे पुत्रों में धर्म बुद्धि नहीं उत्पन्न हुई। जैसे सर्प के दूध पीने से उसके क्रोध की हानि नहीं होती बल्कि उसका विष ही बढ़ता है, वैसे ही दुर्योधन आदि तुम्हारे पुत्रों की हालत है। इसलिए यह शंका कि वे पाण्डवों को उनका राज्य लौटा देंगे, व्यर्थ है ॥३॥

यदि ऐसा ही हो जैसा तुम कहते हो, तो अकेले द्रुपदपुत्र से परिचालित उनकी सेना को तो हम लोगों में से कोई एक जीत सकता है। तुमको ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि वह अजेय है। आचार्य के इस विचार का खण्डन करता हुआ दुर्योधन कहता है कि पाण्डवों की सेना में और भी अनेक वीर हैं, इसलिए उनकी सेना को एक व्यक्ति नहीं जीत सकता।

वह पाण्डवों की सेना के वीरों की गणना तीन श्लोकों में इस प्रकार करता है :—महारथी सात्यकि, द्रुपद और विराट, ये बड़े-बड़े धनुर्विद्याविशारद हैं, अल्पयुद्ध कौशलवाले नहीं, बल्कि ये भीष्म और अर्जुन के समान वीर हैं।

यहाँ महारथ शब्द युयुधान, विराट और द्रुपद इन तीनों का विशेषण है ॥४॥

❋ पुरुजित्कुन्तिभोज ये भिन्न-भिन्न पुरुषों के नाम नहीं हैं। जिस कुन्तिभोज राजा को कुन्ती गोद दी गई थी, पुरुजित उसका औरस पुत्र था और कुन्तिभोज उसके कुल का नाम है। उद्योग-पर्व में इसका वर्णन है। वहाँ यह भी वर्णन पाया जाता है कि वह धर्म, भीम और अर्जुन का मामा था। युधामन्यु और उत्तमौजा दोनों पाञ्चाल्य थे और चेकितान एक यादव था। युधामन्यु और उत्तमौजा दोनों अर्जुन के चक्ररक्षक थे। शैब्य शिवि देश का राजा था।

—(तिलक महाराज की टीका के आधार पर)

धृष्टकेतुः शिशुपालपुत्रः चेकितानोऽन्यो राजा काशिराजश्च प्रसिद्धः तेषां त्रयाणां विशेषणम् वीर्यवानिति। कुन्तिभोजस्य पुरुजिदिति विशेषणं शैब्यस्य नरपुंगव इति।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

युधामन्योर्विक्रान्त इति उत्तमौजसो वीर्यवानिति। सौभद्रोऽभिमन्युः द्रौपदेयाः प्रतिविन्ध्यादयः पञ्च चकारादन्येऽपि घटोत्कचादयः सर्व एव महारथाः। अर्जुनादयः प्रसिद्धत्वादतिरथित्वाद्वा महारथेषु न गणिताः। रथार्धरथा अपि न गणिताः महारथादि लक्षणं च—

"एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः॥
अमितान्योधयेद्यस्तु संप्रोक्तोऽतिरथस्तु सः।
रथस्त्वेकेन यो योद्धा तन्न्यूनोऽर्धरथः स्मृत॥" इति।

वह पाण्डवों की ओर के और २ राजाओं को गणना करता हुआ कहता है—धृष्टकेतु, शिशुपाल का बेटा चेकितान और काशीराज, ये बड़े बली हैं। पुरुजित, कुन्तिभोज और नरों में श्रेष्ठ शैब्य (ये भी श्रेष्ठ योद्धा हैं) ॥५॥

बड़ा बलवान युधामन्यु और बहादुर उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के प्रतिविन्ध्यादि पाँच पुत्र और और भी घटोत्कच इत्यादि महारथी हैं।

प्रकृत में चकार का अर्थ यह है कि इन गिनाए हुए लोगों को छोड़ और भी घटोत्कच आदि कितने ही महारथी हैं।

यहां अर्जुन आदि की गिनती महारथियों में इसलिए नहीं की गई क्योंकि वे तो प्रसिद्ध और अतिरथी हैं।

महारथ आदि के लक्षण स्मृति-ग्रन्थों में इस प्रकार लिखे हैं यथा—

"एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः॥
अमितान्योधयेद्यस्तु सम्प्रोक्तोऽतिरथस्तु सः।
रथस्त्वेकेन यो योद्धा तन्न्यूनोऽर्धरथः स्मृतः॥"

अर्थात् जो अकेला दस हजार धनुर्धारियों के साथ लड़े, शस्त्र और शास्त्र में प्रवीण हो, उसको महारथ कहते हैं। जो असंख्य धनुर्धर योद्धाओं के साथ अकेला लड़ता है वह अतिरथ, और जो एक सहस्र से अकेला लड़ता है वह रथ कहलाता है और जो उससे न्यून संख्या से अकेला लड़ता है वह अर्धरथ कहलाता है। ६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायक मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

नन्वेवं परसैन्यमजेयं मन्यसे चेत्तर्हि तैः सह सन्धिरेव क्रियतां किं युद्धाग्रहेणेत्याशङ्क्याह—अस्माकं त्विति । तुशब्देन सर्वविद्याश्रयसर्वधनुष्मदाचार्यभूतभवद्विधाश्रयाणामस्माकं नास्ति तदजेयत्वशङ्केत्यात्मनस्तेभ्यो वैशिष्ट्यं द्योतयति । अस्माकं ये विशिष्टा विद्यापौरुषादिनोत्कर्षवन्तस्तान्निबोध, मद्विश्वासविषयान् जानीहि ये च मम सैन्यस्य नायकाः स्वाज्ञया योधयितारस्तान् संज्ञार्थं एते विशिष्टा इति नामभिस्ते तुभ्यं सम्यग्बोधनार्थं ब्रवीमि । द्विजोत्तमेतिशब्दस्य स्तुतिबोधकत्वेऽपि न योत्स्यसे चेत्तर्हि केवलं भोजनार्थं ब्राह्मणोत्तम इति गूढार्थः ।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

तानेव निर्दिशति-भवानिति । समितिञ्जय इति द्रोणदिक्कृपान्तानां चतुर्णां विशेषणं समितिं संग्रामं जयति तथा सः । उक्तेभ्यश्चतुर्भ्यः किञ्चिन्न्यूनान् दर्शयति—अश्वत्थामेत्यादि । अश्वत्थामा गुरुपुत्रः विकर्णः स्वकनिष्ठभ्राता सोमदत्तस्य पुत्रः सौमदत्तिर्भूरिश्रवाः ।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

यदि आचार्य ऐसा सोचें कि इस प्रकार शत्रु का सैन्य अजेय मानते हो तो उनके साथ सन्धि क्यों नहीं कर लेते, और युद्ध का आग्रह क्यों करते हो ? इस शंका का उत्तर दुर्योधन देता है। वह पाण्डवों से अपनी विशेषता दिखलाता हुआ कहता है कि हम लोगों की ओर जो लोग विद्या, पौरुष आदि विशेष गुणों से युक्त हैं, वे मेरे विश्वासपात्र हैं, यह आप जानें और जो मेरे सैन्य के नायक हैं, अर्थात् अपनी आज्ञा देकर सैन्य को लड़ाने वाले हैं, उनका नाम लेकर मैं आपको उनका परिचय देता हूँ, अर्थात् आपके अच्छी तरह जानने के लिए मैं उनका नाम कहता हूँ।

यहाँ श्लोकारम्भ में 'तु" शब्द के प्रयोग का यह तात्पर्य है कि सर्व विद्या से युक्त और सब धनुर्धारियों के आचार्य के आश्रय में जब हम लोग हैं तो हारने की शङ्का नहीं है और "द्विजोत्तम" शब्द व्यवहार करने का गूढ़ अर्थ यह है कि मैं आपको द्विजोत्तम कह आपकी बड़ाई करता हूँ। यदि इतने पर भी आप नहीं लड़ेंगे तो समझूँगा कि भोजन ही के लिए आप ब्राह्मणोत्तम हैं ॥७॥

अपनी ओर के वीरों को दुर्योधन गिनता है—रणविजयी आप आप, भीष्म, कर्ण और कृपाचार्य और आप चारों से कुछ ही न्यून गुरुपुत्र अश्वत्थामा, मेरा छोटा भाई विकर्ण और भीष्म के चाचा बाह्लीक के पुत्र सोमदत्त का बेटा भूरिश्रवा।

यहाँ समितिञ्जय विशेषण द्रोण, भीष्म, कर्ण और कृप के लिए प्रयुक्त हुआ है ॥८॥

किमेत एव तव विशिष्टा योद्धारो, नेत्याह—अन्ये चेति। अन्ये च जयद्रथशल्यप्रभृतयः मदर्थे मत्प्रयोजनाय त्यक्तजीविताः जीवितं त्यक्तुं कृतनिश्चयाः। ननु त्वदर्थे त्यक्तजीविताः अप्यसमर्थाश्चेत्किं कुर्युरिति चेन्नेत्याह—विशेषणद्वाभ्याम्। नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदा इति। नानाशस्त्राणि प्रहरणानि येषां ते तथा युद्धविशारदाः विविधयुद्धमार्गेषु सर्वे निपुणा इत्यर्थः।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

एवं चेत्तर्हि भयाभावात्किमितस्ततो धावसीत्यत आह—अपर्याप्तमिति। तत् यथोक्तयोद्धृविशिष्टं भीष्माभिरक्षितमस्माकं बलं सैन्यमपर्याप्तमपूर्णं मे भाति। एतेषां पाण्डवानां तु बलं भीमाभिरक्षितं पर्याप्तं पूर्णं समर्थं मे प्रतिभाति इत्यर्थः।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

तर्हि किं कर्त्तव्यमित्यत आह—अयनेष्विति। अयनेषु व्यूहप्रवेशनिर्गमस्थानेषु सर्वे यथाभागं विभक्तां स्वां स्वां रणभूमिमपरित्यज्यावस्थिताः सन्तो भवन्तः सर्व एव हि भीष्मं सेनापतिमेवाभिरक्षन्तु। सेनापतौ रक्षिते सर्वं सैन्यं रक्षितं भवति इति भावः।

बस क्या इतने ही विशेष गुण सम्पन्न योद्धा तुम्हारी ओर हैं? दुर्योधन इस प्रश्न का उत्तर देता है कि नहीं, और भी हैं।

जयद्रथ, शल्य इत्यादि और भी योद्धा हमारे लिए प्राण देने को तैयार हैं। यह शङ्का हो कि यदि शक्ति उनमें नहीं हो तो केवल प्राण देने से ही क्या होगा? उसके जवाब में दुर्योधन उनके दो विशेषणों को कहता है कि वे सब शस्त्रों के चलाने में प्रवीण हैं और नाना प्रकार की युद्ध विद्याओं में बड़े कुशल हैं ॥९॥

यदि ऐसी बात है अर्थात् बड़े-बड़े योद्धा तुम्हारी ओर हैं और तुमको कुछ भी डर नहीं है, तो फिर तुम इधर-उधर दौड़ते क्यों फिरते हो? इसका उत्तर दुर्योधन देता है—

ऊपर जिन योद्धाओं का नाम लिया गया है, उनसे युक्त हम लोगों का सैन्यबल, जिसकी रक्षा भीष्म करते हैं हमको अपूर्ण (असमर्थ) मालूम होता है और उन पाण्डवों का बल जिसकी रक्षा भीम करता है पूर्ण अर्थात् समर्थ भासता है ॥१०॥

तब क्या किया जाय? दुर्योधन इसका उत्तर देता है कि व्यूह में प्रवेश करने और वहाँ से निकलने के रास्तों पर यथाभाग स्थित होकर अर्थात् रणभूमि में अपने २ निर्दिष्ट स्थानों को बिना छोड़े हुए आप और सभी लोग सेनापति भीष्म की ही सब तरह से रक्षा करें, क्योंकि सेनापति की रक्षा होने से सब सैन्य की रक्षा होती है ॥११॥

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

एवं शत्रुसैन्यादन्तर्भीतोऽपि शठत्वेनैवाचार्यमुपसृत्य स्वोत्कर्षद्योतकवचनैरतुष्टेनाचार्येणोपेक्षितं राजानं ज्ञात्वा अयनेष्वित्यादिनाऽऽत्माश्रितं ज्ञात्वा राजत्वान्नोपेक्षणीय इति तं भीष्मो हर्षयामासेत्याह—तस्येति। तस्य दुर्योधनस्य हर्षं सम्यग्जनयन् प्रतापवान् कुरुवृद्धः पितामहः उच्चैः सिंहनादं विनद्य-शङ्खं दध्मौ।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

ततो भीष्मस्य सेनापतेः शङ्खशब्दानन्तरं शंखभेर्यादयः सहसैव तत्क्षणमेवाभ्यहन्यन्त। कर्म-विवक्षया कर्मकर्तरि प्रयोगः शंखादीनां स शब्दस्तुमुलो वीरहृदयकम्पनोऽभवत्। पाण्डवास्तु नाकम्पन्तेति भावः।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

ततः पाण्डवसैन्यस्य हर्षं द्योतयितुं माधवादीनां शंखदध्मानमाह—तत इति ततो दुर्योधनसैन्ये शंखशब्दप्रवृत्यनन्तरं श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ माधवः पाण्डवश्च दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतु-रित्यादिभिः शब्दैस्तज्जयः सूचितः।

इस प्रकार शत्रु सैन्य से भीतर ही भीतर डरे हुए भी दुर्योधन ने शठता से गुरु द्रोणाचार्य के पास जाकर अपनी बड़ाई की। भीष्म ने ऐसा सोचा कि आचार्य ने उसीके मुख से उसकी बड़ाई सुन अप्रसन्न हो उसकी उपेक्षा की और ऊपर के श्लोक से ऐसा समझकर, कि दुर्योधन मेरे आश्रित है, और द्रोणाचार्य को राजा समझकर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए थी, आपने उसको प्रसन्न किया।

दुर्योधन को प्रसन्न करते हुए प्रतापी कुरुवृद्ध पितामह भीष्म ने बड़े जोर से सिंहनाद के ऐसा गर्जकर अपने शङ्ख को फूँका ॥१२॥

सेनापति भीष्म के शङ्ख फूँकने पर शङ्ख, भेरी, पणव, आनक, गोमुख, नगारे, ढोल, मृदङ्ग, नरसींगादि लड़ाई के बाजे एक संग ही बज उठे। उनका बड़ा भारी शब्द हुआ। अर्थात् वीरों के हृदय को कँपानेवाला शब्द हुआ। भाव यह कि पाण्डवों का हृदय इस शब्द से नहीं कँपा ॥१३॥

अब पाण्डवसेना के हर्ष को सूचित करने के लिए माधवादि ने जो शंख बजाए, उसका वर्णन करते हैं। दुर्योधन के सैन्य में शंखादि बजने पर उजले घोड़ों से युक्त बड़े रथ में स्थित कृष्ण और अर्जुन ने दिव्य शङ्खों को जोर से फूँका। "शङ्खों को जोर से फूँका" इन शब्दों के व्यवहार करने से (पाण्डवों की) जय सूचित की गई ॥१४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

पाण्डवोत्कर्षमेव द्योतयितुं तच्छंखनामानि वर्णयति-पाञ्चजन्यमिति द्वाभ्याम् । पाञ्चजन्यदेवदत्तादिनामभिस्तेषां शंखा विदितास्तव पुत्रसैन्ये तु कस्यापि नाम्ना प्रसिद्धः शंखो नास्ति । किञ्च हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशः हृषीकेशो येषां सहायः तेषामेव जयो भविष्यति इति अभिप्रायः ।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥

अन्येऽपि तत्सैन्ये शङ्खान्दध्मुरित्याह—काश्यश्चेति । काश्यः काशिराजः । शिखण्डी द्रुपदपुत्रः, भीष्मवधाय तपसोत्पन्नो वाऽपूर्वजन्मा धृष्टद्युम्नो द्रोणाचार्यवधायाग्निकुण्डादुत्पन्नः । अपराजितः सात्यकिरर्जुनसमः । एतेन भीष्मद्रोणादिसहायेन मत्पुत्रो जेष्यतीति नाऽऽशासनीयमिति ध्वनितम् । स्पष्टार्थमन्यत् ।

पाण्डवों का उत्कर्ष दिखाने के लिए इन दो श्लोकों से उनके शंखों का नाम वर्णन करते हैं। भगवान् कृष्ण ने पाञ्चजन्य शङ्ख को बजाया, अर्जुन ने देवदत्त नामक शङ्ख को, और भयङ्कर काम करनेवाले भीम ने अपने पौण्ड्र नामक बड़े शङ्ख को फूँका। कुन्ती के लड़के राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शङ्ख को फूँका और नकुल और सहदेव ने क्रमशः सुघोष और मणिपुष्पक नामक शङ्खों को बजाया।

कहने का मतलब यह कि पाण्डवों के शङ्ख पाञ्चजन्य, देवदत्त आदि नामों से प्रसिद्ध हैं और हे धृतराष्ट्र ! तुम्हारे बेटों में किसी का भी शङ्ख किसी नाम से प्रसिद्ध नहीं है और इन्द्रियों के मालिक श्रीकृष्ण जिनके सहायक हैं, उन्हीं पाण्डवों की जय होगी ॥१५-१६॥

पाण्डवी सेना में औरों ने भी शङ्ख बजाए, इसका वर्णन करते हैं :—

हे महाराज धृतराष्ट्र ! बड़ा धनुषवाला काशी का राजा और भीष्मवध के लिए तप से उत्पन्न द्रुपदपुत्र शिखण्डी तथा द्रोणाचार्य के वध के लिए अग्निकुण्ड से उत्पन्न अपूर्व जन्मवाला धृष्टद्युम्न, विराट और अर्जुन के समान अजेय सात्यकि, द्रुपद और द्रौपदी के लड़के और बड़ी बाहुवाला सौभद्र इन सबों ने चारों तरफ से अपने-अपने शङ्ख अलग-अलग बजाए।

पूर्वोक्त कथन से यह ध्वनि निकलती है कि भीष्म द्रोणादि की सहायता से मेरे पुत्र जीतेंगे ऐसी आशा, हे धृतराष्ट्र ! आपको नहीं करनी चाहिए ॥१७-१८॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

धार्तराष्ट्राणामन्यत् भयं सूचयति स घोष इति। स पाण्डवसैन्ये वीरकृतशङ्खघोषो धार्तराष्ट्राणां तव ये वीरास्तेषां सर्वेषां हृदयानि व्यदारयत् । हृदयविदारणतुल्यां पीडामजनयत् । किं कुर्वन् नभश्चपृथिवीं च व्यनुनादयन् प्रतिध्वनिनाऽऽपूरयन् । यतः तुमुलोऽतितीव्रः ।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

यथा त्वदीयानां भयं प्राप्तं पाण्डवानाम् न तथा भयंजातम् प्रत्युत् शूरत्व-वृद्धिमाह—अथेति । तुमुलघोषानन्तरं कपिध्वजो गर्जनेन वैरिधैर्य्यापहारकः कपिर्हनुमान् ध्वजेयस्य सोऽर्जुनः धार्त्तराष्ट्रान् व्यवस्थितान् दृष्ट्वा शस्त्रसम्पाते प्रवृत्ते प्रवर्तमाने सति दिग्विजयिनः पाण्डोः पुत्रो गाण्डीवमग्निदत्तं धनुरुद्यम्य ।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ! ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

तदा हृषीकेशं सर्वेन्द्रियनियन्तारं स्वसारथीभूतं भगवन्तमिदं वक्ष्यमाणं वाक्यमाह महीपते इति संबोधनेन एवम्भूतेऽर्जुने युद्धायोपस्थिते नीत्यभावान्नश्यमानं तव महीपतित्वमित्युपहासो ध्वनितः । अर्जुनवाक्यमनुवदति—हे अच्युत ! यथा तव कुतोऽपि च्युतिर्नास्ति तथा मे रथमुभयोः सेनयोर्मध्ये स्थापय ।

अब धृतराष्ट्र के पुत्रों के अन्य भय को सूचित करते हैं :—पाण्डवसैन्य के फूँके गए शङ्खों ने बड़ा शब्द किया। आकाश और पृथ्वी उस शब्द से गूँज उठी। और धार्तराष्ट्र के वीरों के हृदय में उस शब्द से हृदय विदीर्ण होने के समान पीड़ा हुई ॥१९॥

हे धृतराष्ट्र ! शङ्खों का शब्द सुन जैसे आपके पक्षवालों को भय उत्पन्न हुआ, वैसे पाण्डवों को भय नहीं हुआ, किन्तु उनमें शूरता की वृद्धि हुई। इसी आशय को यों कहते हैं :—अपनी गर्जना से वैरियों के धैर्य्य के अपहारक हनुमान् जिसकी ध्वजा पर हैं, ऐसे दिग्विजयी पाण्डु का पुत्र अर्जुन धार्तराष्ट्रों को सैनिक ढंग से लड़ाई के लिए अवस्थित देखकर, जब शस्त्र छूटने ही चाहते थे, उसी समय अग्नि से प्राप्त अपने गाण्डीव धनुष को उठाकर सब इन्द्रियों के नियन्ता अपने सारथि श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र से यह वाक्य बोले :—हे अच्युत ! अर्थात् सदा एक रस रहनेवाले ! आप मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिए। यहाँ धृतराष्ट्र को सञ्जय ने "महीपते" कहकर सम्बोधन किया है। इससे यह ध्वनित होता है कि इस प्रकार अर्जुन के लड़ाई में उपस्थित होने पर नीति के अभाव के कारण तुम्हारा राज्य नष्ट होगा और तुमको अब महीपति कहना तुम्हारा केवल उपहास करना होगा ॥२०-२१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥

न ह्येकत्रैव स्थिरीभूय योद्धुं नियमोऽस्ति, किमर्थमुभयोः सेनयोर्मध्ये रथः स्थापनीय इत्यपेक्षायामाह—यावदिति । योद्धुकामानवस्थितानेतान्यावदहं निरीक्षे तावत्कालं स्थापय, न तु सर्वदेत्यर्थः । ननु त्वं प्रेक्षको भूत्वा द्रष्टुमागतोऽसि योद्धुं वेत्यत आह—कैरिति । अस्मिन् रणसमुद्यमे प्रायो बान्धवा एव समागताः अतः कैर्मया सह योद्धव्यं, केषां मया सह, मम च कैः सह योद्धुं योग्यमित्यर्थः ।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

ननु बान्धवाः सर्वे त्वया दृष्टपूर्वा एव योग्यतामयोग्यतां च जानास्येव किं पुनरत्र तन्निरीक्षणेनेति चेत्तत्राह—योत्स्यमानानिति । य एतेऽत्र समागतास्तान्योत्स्यमानानहमवेक्षे द्रक्ष्यामि । ननु भीष्मादयः कुलवृद्धत्वात्समा द्रोणादयस्त्वाचार्यत्वात्सुहृदः एवोभयोः समार्थमागताश्चेद्येऽत्र समागतास्तान्योत्स्यमानानिति कथमुक्तमिति चेत्तत्राहदुर्बुद्धेर्धार्तराष्ट्रस्य युद्धे प्रियचिकीर्षवः अतस्तदवेक्षणमुचितमेवेति भावः ।

सञ्जय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

एक जगह खड़ा होकर ही लड़ने का तो नियम नहीं है, अतः तुम क्यों मुझको सेनाओं के मध्य में रथ खड़ा करने के लिए कहते हो ? इसका उत्तर अर्जुन देते हैं :—

युद्ध के लिए आए हुए इन सबों को जब तक मैं देख लूँ तभी तक आप दोनों सैन्य के बीच में मेरा रथ खड़ा करें, सर्वदा के लिए नहीं। तो तुम तमाशा देखने के लिए आए हो वा लड़ने के लिए ? इस प्रश्न का उत्तर अर्जुन देते हैं, कि इस रणस्थल में प्रायः सम्बन्धी लोग ही जुटे हैं। इसलिए हमको देख लेना चाहिए कि किसके साथ मुझको और किसको मेरे साथ लड़ना उचित है ॥२२॥

सब बान्धवों को तो तुमने पहले से देखा ही है और उनकी योग्यता अयोग्यता भी जानते ही हो तो फिर क्या देखोगे ?

इस प्रश्न का उत्तर अर्जुन देते हैं कि जो लड़ाई की नियत से आए हुए हैं उनको मैं देखूँगा।

भीष्म इत्यादि कुल के वृद्ध होने से और द्रोणादि आचार्य्य के नाते तुम दोनों पक्षवालों के लिए समान हैं और दोनों पक्ष के सुहृद हैं और दोनों की सहायता के लिए यहाँ आए हैं, तुम उनको युद्ध की इच्छा से आए हुए कैसे कहते हो ? अर्जुन उत्तर देते हैं कि बात ऐसी नहीं है। ये लोग युद्ध में दुर्बुद्धि धार्त्तराष्ट्रों के प्रिय की कामना करनेवाले हैं। भाव यह कि इस कारण इन लोगों का निरीक्षण कर लेना उचित है ॥२३॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ ! पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायां सञ्जयो धृतराष्ट्रं प्रत्युक्तवानिति आह वैशम्पायनः-सञ्जयउवाचेति । सञ्जयवचनमवतारयति-एवमिति द्वाभ्याम् । हे भारत ! अतिधार्मिकस्य भरतस्यान्वये जातस्य तवापि ज्ञातिद्रोहचिन्तनमनुचितमिति भावः । गुडाका निद्रा तस्या ईशेनार्जुनेन एवं पूर्वोक्तप्रकारेणोक्तो हृषीकेश उभयोः सेनयोर्मध्ये भीष्मद्रोणयोः प्रमुखतः प्रमुखे सर्वेषां च महीक्षितां मह्यां क्षीयन्ते महीक्षितो राजानस्तेषां च प्रमुखे, रथोत्तमं स्थापयित्वा हे पार्थ ! समवेतान्युद्धाय मिलितानेतान् कुरून् पश्येत्युवाच ।

तत्राऽपश्यत् स्थितान्पार्थः पितॄनथपितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वसुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य सकौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥

ततः किं वृत्तमित्यत आह—तत्रेतिसार्धेन । समवेतान् कुरून् पश्येत्येवं भगवतोक्ते सति पार्थः उभयोः सेनयोरपि स्थितान् पितॄन् भूरिश्रवादीन् तदनन्तरं पितामहान् भीष्मादीन्, आचार्यान् द्रोणकृपादीन्,मातुलान् शल्यशकुन्त्यादीन् भ्रातॄन्भीमदुर्योधनादीन् पुत्रानभिमन्युलक्ष्मणादीन् पौत्रान् लक्ष्मणादिपुत्रान् सखीन्वयस्यानश्वत्थामादीन् श्वसुरान् भार्याणां पितॄन् सुहृदः कृतोपकारा ये तान्सर्वानपश्यत् ।

ततः किं कृतवानिति पुत्रराज्यहानिशङ्काव्याकुलचित्तं धृतराष्ट्रमाश्वासयन्निवाह—तानिति । पितृहीनानां वने क्लीष्टानां राज्यभागो देय इति तव कृपानोत्पन्ना । तथाऽर्जुनस्तुमहादेवादिन्द्रादेश्च लब्धदिव्यायुधोऽपि अग्निदत्तगाण्डीवधनुषा वासुदेवेन सारथिना च सर्वत्रक्षत्रियजयनसमर्थोऽपि तान्

वैशम्पायन ने जन्मेजय से कहा कि "तब क्या हुआ ?" धृतराष्ट्र के इस कथन की अपेक्षा करके सञ्जय बोला (सञ्जय की उक्ति को अब इन दो श्लोकों में वर्णन करते हैं ।)

हे भारत ! (धृतराष्ट्र को भारत कहकर सम्बोधन करने का यह तात्पर्य्य है कि तुम अति धार्मिक भरत के कुल में उत्पन्न हुए हो, तुमको अपनी जाति का द्वेष चिन्तन करना उचित नहीं है ।) जितनिद्र अर्जुन के कहने पर भगवान् ने दोनों सेनाओं के बीच और भीष्म द्रोणादि तथा अन्य सब राजाओं के सामने अर्जुन के उत्तम रथ को खड़ाकर, हे अर्जुन ! "युद्ध के लिए आए हुए इन कौरवों को देखो" ऐसा कहा ॥२४-२५॥

तब क्या हुआ ? इसका उत्तर डेढ़ श्लोक में देते हैं । भगवान् के कहने के अनुसार अर्जुन ने दोनों सेनाओं में स्थित भूरिश्रवा आदि पितृवर्ग को, तदनन्तर भीष्म आदि दादाओं को, द्रोण, कृप आदि गुरुओं को, शल्य, शकुनि आदि मामाओं को, दुर्योधन आदि भाइयों को, अभिमन्यु, लक्ष्मण आदि बेटों को, लक्ष्मण के पुत्ररूप पौत्रों को, अश्वत्थामादि समवयस्क साथियों को, ससुरों को और जिन्होंने उपकार किया था—ऐसे मित्रों को वहाँ देखा । "तब अर्जुन ने क्या किया ?" पुत्र-राज्य-हानि की

कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण ! युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

सर्वान् बन्धूनवस्थितान्समीक्ष्य परया स्वाभाविक्या कृपयाऽऽविष्टो व्याप्तोऽभूत् । तत्कुतः यतः कौन्तेयः महापराधिन्यपि कंसे क्षमाशीलस्य ज्ञानिनो भक्तस्य वसुदेवस्य तत्समशीलायाः भगिन्याः कुन्त्याः सुतस्तत एव विषीदन् विषादं कुर्वन्निदम् वक्ष्यमाणं वचनमब्रवीत् ।

तदेवाह—अर्जुन उवाचेति । तच्च दृष्ट्वेत्यारभ्य धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेदित्यन्तम्, हे कृष्ण ! सच्चिदानन्दस्वरूप । इमं स्वजनं स्वकीयं भ्रातृपुत्रादिबन्धुवर्गं युयुत्सुं योद्धुमिच्छुं समुपस्थितं सम्यक् शस्त्रकवचादि संनह्य समीपे स्थितं दृष्ट्वा मम गात्राण्यङ्गानि सीदन्ति व्यथन्ते । मुखं परिशुष्यति, सर्वतः शुष्यति ।

किञ्च मे शरीरे वेपथुः कम्पः रोमहर्षश्च जायते, गाण्डीवस्रंसनं त्वग्दाहश्चेत्यनिष्टसूचकं लक्षणं प्रतीयते ।

किञ्च अवस्थातुं च न शक्नोमि च पुनर्मे मनो भ्रमतीव भ्रमसदृशं विकारं मनसि भावयामि ।

शङ्का से व्याकुल चित्तवाले धृतराष्ट्र के इस प्रश्न के उत्तर में उसको सान्त्वना देता हुआ सञ्जय कहता है, कि हे धृतराष्ट्र ! पितृहीन तथा बन में कष्टों को सहे हुए पाण्डवों को राज्य का हिस्सा देना चाहिए, ऐसी कृपा तुममें तो उत्पन्न नहीं हुई, पर महादेव और इन्द्रादि से दिव्य आयुध उपलब्ध कर, अग्नि से गाण्डीव धनुष प्राप्त कर, भगवान् वासुदेव के ऐसा सारथि पाकर, और सब क्षत्रियों को जीतने का सामर्थ्य रखकर भी अर्जुन, उन सब बन्धुओं को युद्धभूमि में स्थित देख कृपा से पूर्ण हो गए और दुःखी होकर यों बोले :—

हे सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ! इन अपने भाई, बेटे, आदि बन्धुवर्गों को लड़ाई के लिए अच्छी तरह से शस्त्र कवचादि से सजे हुए देखकर मेरी देह में व्यथा मालूम पड़ती है, मुख बिलकुल सूख रहा है; शरीर में कँपकँपी हो रही है तथा रोंगटे खड़े हो रहे हैं। मेरा गाण्डीव धनुष हाथ से छूटा जाता है, चमड़े और शरीर में दाह हो रहा है (चमड़े का दाह और गाण्डीव का गिरना अमंगल का लक्षण मालुम होता है), मैं खड़ा नहीं रह सकता और मेरा मन चक्कर सा खा रहा है ॥२६-३०॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव !
न च श्रेयोनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

हे केशव ! विपरीतानि निमित्तानि वामाङ्गस्फुरणादीनि पश्यामि । अत एवाऽऽहवे युद्धे स्वजनं हत्वा श्रेय ऐहलौकिकं पारलौकिकं वा नाऽनुपश्यामि, मनसि विचारणादनु पश्चान्न पश्यामि । यद्यपि—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राट् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखोहतः ॥

—इति श्रेयोऽभिधानमस्ति, तथापि हतस्यैव तदभिधानान्न हन्तुः किञ्चित्पुण्यमुक्तम् ।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण! न च राज्यं सुखानि च ।
किन्नो राज्येन गोविन्द! किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

ननु मास्त्वामुष्मिकं श्रेय ऐहिकं—राज्यभोगसुखादिकं तु स्यादेवेत्यत आह—न कांक्ष इति । हे कृष्णेति संबाधनेन सच्चिदानन्दस्वरूपस्त्वं मामपि स्वरूपानन्दतुष्टं कुर्विति सूचितम् । राज्यसाधनभूतविजयमहं न कांक्षे नेच्छामि, विजयसाध्यं राज्यं न च कांक्षे, राज्याधीनानि सुखानि च नकांक्षे नेच्छामि । ननु लोके शत्रुविजयराज्यसुखार्थमेव सर्वजनप्रवृत्तिस्तव कुतस्तदनाकांक्षोत्पन्नेत्यत आह—किन्न इति । गावः समनस्कानीन्द्रियाणि स्वनियम्यतया विन्दते यः स ममेन्द्रियमनः प्रवृत्तिं सदा त्वं

हे कृष्ण ! मैं बाम अङ्गों के फड़कने आदि अपशकुनों को देखता हूँ । इसलिए युद्ध में अपने सम्बन्धियों को मार मैं न पारलौकिक कल्याण पाऊँगा, न इस लोक का । विचार से मुझे ऐसा ही मालूम होता है । यद्यपि ऐसा लिखा है कि—

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राट्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥"

अर्थात् इस लोक में दो ही प्रकार के मनुष्य सूर्यमण्डल को भेदते हैं अर्थात् उसको भेदकर ऊपर को जाते हैं, एक तो योगयुक्त सन्यासी और दूसरा लड़ाई में सम्मुख मरने वाला, तथापि यहाँ लड़ाई में मरने वाले ही की पुण्यप्राप्ति वर्णित है, मारने वाले को नहीं ॥३१॥

खैर, तुम्हें परलोक सम्बन्धी कल्याण न भी प्राप्त हो, पर इस लोक का राज्यभोग सुख इत्यादि तो प्राप्त होगा ही । इसी का उत्तर अर्जुन देते हैं—

हे कृष्ण ! (यहाँ कृष्ण नाम से सम्बोधन करने का भाव यह है कि आप सच्चिदानन्द स्वरूप हैं । मुझ को भी स्वरूप के आनन्द से तुष्टि प्रदान कीजिए ।) राज्य के साधनभूत विजय को मैं नहीं चाहता और विजय से प्राप्त होने वाले राज्य की भी मुझे इच्छा नहीं है । राज्य के अधीन सुखों को भी मैं नहीं चाहता और विजय से प्राप्त होने वाले राज्य की भी मुझे इच्छा नहीं है । राज्य के अधीन सुखों को भी मैं नहीं चाहता ।

जानासीति भावेन सम्बोधयति गोविन्देति। बहुहिंसावद्युद्धसाध्यराज्येन नोस्माकं किं प्रयोजनं, राज्य-साध्यविशिष्टभोगैः किं, जीवितेन भोगकरणक—जीवितेनोपक्रोशमलीमसेन प्राणधारणपोषणेन वा किं प्रयोजनं, न किमपीत्यर्थः।

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

ननु पाण्डुपृथापुत्रस्य तव राज्यसुखादिनैराकांक्ष्यं भवतु? तथापि स्वजनवर्गार्थं तदाकांक्षो-चितैवेति चेत्तत्राह—येषामिति। येषां स्वजनबन्धूनामर्थे नो राज्याद्यपेक्षितं, त इमे प्राणान्प्राणसाधनानि धनाशां च त्यक्त्वा युद्धेऽवस्थितास्तस्मान्नयोद्धुमिच्छामि।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बधिनस्तथा ॥३४॥

ननु युद्धे वो हन्तुं शत्रव एव स्थिता, न बन्धव इति चेत्तत्राह-आचार्या इति स्पष्टार्थः। न ह्येतेभ्योऽन्ये स्वजनबन्धवो भवन्तीति भावः।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदनः।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते ॥३५॥

संसार में सभी मनुष्यों को यही इच्छा रहती है कि शत्रु पर विजय हो और राज्य और सुख मिले। तुमको इन सबसे क्यों अनिच्छा उत्पन्न हो गई। इस प्रश्न के उत्तर में अर्जुन कहते हैं कि हे गोविन्द! (गोविन्द सम्बोधन करने का यह अभिप्राय है कि आप मन सहित सब इन्द्रियों के नियन्ता होने से उनके रक्षक वा मालिक हैं। इससे आप मेरे मन और इन्द्रियों की प्रवृत्ति को जानते हैं।) बहुहिंसायुक्त युद्ध से प्राप्त राज्य से हमको क्या प्रयोजन? और भोगों से मलिन जीवन से ही हमको क्या प्रयोजन? अर्थात् इन सबों से हमको कुछ मतलब नहीं ॥३२॥

मान लिया कि (पाण्डु और पृथा के पुत्र) तुमको राज्य की आकाँक्षा नहीं है, तथापि स्वजन-वर्ग के लिए राज्य की आकाँक्षा करनी उचित है। इसका उत्तर अर्जुन देते हैं—

जिन बन्धु-बान्धवों के लिए राज्य, भोग, सुख इत्यादि की आवश्यकता है, वे ही प्राणों को और उनके साधनभूत धन की आशा को छोड़कर इस युद्ध में स्थित हैं। इसलिए मैं युद्ध करने की इच्छा नहीं करता ॥३३॥

यदि यह कहा जाय कि युद्ध में तुम लोगों को मारने के लिए शत्रु लोग उपस्थित हैं, ये तुम्हारे बन्धु नहीं हैं तो यह बात ठीक नहीं क्योंकि यहाँ तो गुरु, पिता, लड़के तथा दादा लोग, फिर मामा, ससुर, पोते, साले और अन्य सम्बन्धी ही लोग युद्ध में डटे हैं। भाव यह कि इन लोगों को छोड़ और बान्धव ही कौन हो सकते हैं ॥३४॥

ननु यद्येतान्स्वकीयबन्धुबुद्धया त्वं न हनिष्यसि तर्हि त्वामेवैते राज्यलोभेन हनिष्यन्ति, तस्मात्त्वमेवैतान्हत्वा सकलपृथ्वीराज्यं कुर्विति चेत्तत्राह एतानिति। अस्मान् घ्नतोऽप्येतान् त्रैलोक्य-राज्यस्य हेतोरहं हन्तुं नेच्छामि, महीकृते महीमात्रराज्यप्राप्त्यर्थं न हन्यामिति किमुत वक्तव्यमित्यर्थः। मधुसूदनेति संबोधनेन त्वमपि दैत्यमेव हतवान्न स्वबन्धूनिति सूचितम्।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

भवतु तथाऽप्यन्यान्विहाय युष्मद्वधे सदा कृतप्रयत्नानतिनिर्घृणान्धृतराष्ट्रपुत्रांस्त्वं जहि। तद्धनने युष्माकं महती प्रीतिर्भविष्यतीत्यत आह—निहत्येति। धार्तराष्ट्रान्निहत्य नोऽस्माकं का प्रीतिः स्यान्नकाऽपीत्यर्थः। ननु गराग्निदानादिनैते आततायिन, अतस्तद्वधे दोषाभावश्च शास्त्रविहितः तथा हि—

अग्निदो गरदश्चैवशस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते आततायिनः॥
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवतिकश्चन॥

यदि तुम अपना बन्धु समझ इन्हें न मारोगे तो यही तुमको राज्य के लोभ से मारेंगे। इसलिए तुम्हीं इन लोगों को मारकर समस्त पृथ्वी का राज्य करो। इस शंका का उत्तर अर्जुन देते हैं—

इन लोगों से मारे जाने पर भी, हे मधुसूदन! और त्रैलोक्य के राज्य के लिए भी मैं इन लोगों को मारने की इच्छा नहीं करता। पृथ्वीमात्र के राज्य के लिए इन्हें मारना तो दूर की बात है।

"मधुसूदन" सम्बोधन से यह ध्वनि निकलती है कि आपने भी तो अपने शत्रु मधुदैत्य को ही मारा है अपने बान्धवों को नहीं॥३५॥

खैर औरों को मत मारो पर धृतराष्ट्र के पुत्र तो सदा तुम्हारे वध के प्रयत्न में लगे रहे हैं और अति निर्घृण अर्थात् क्रूर हैं इनको तो तुम मारो। इनको मारने से तुमको बड़ी खुशी होगी। इसका उत्तर अर्जुन देते हैं कि धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हम लोगों को कौन-सी खुशी हासिल होगी अर्थात् कुछ नहीं।

पर ये दुर्योधन आदि तो आततायी हैं क्योंकि इन लोगों ने तुमको विष दिया था और अग्नि में जलाकर मार देने की चेष्टा की थी। ऐसे आतताइयों को मार देने से दोष नहीं होता, जैसा कि शास्त्र में लिखा है—

"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैव षड़ेते आततायिनः॥

—इति स्मृतेः। तस्माच्छास्त्रानुवर्तिना त्वया आततायिलक्षणसंपन्नाः दुर्योधनादयो हन्तव्या इति चेत् "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम्। मृत्युर्यस्योपसेचनम्।" "ब्रह्माणमिन्द्रं रुद्रं च यमं वरुणमेव च। प्रसह्य हरते यस्मात्तस्माद्धरिरितीर्य्यते।" "अत्ता चराचरग्रहणात्" न कर्मणा लिप्यते पापकेने'त्यादिशास्त्राच्चराचरसंहारकोऽपि निर्दोषस्त्वमित्यभिप्रायेण संबोधयति जनार्दन इति। वयं तु न तथेत्याह—एतानाततायिनो हत्वाऽस्मान् पापमेवाश्रयेत्, बन्धुत्वात्, मातृपितृबन्धुवधस्य शास्त्रे महापातकत्वेनोक्तत्वात्।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥"

आग लगाने वाला, विष देने वाला, शस्त्रपाणि, धन का हरने वाला, खेत और स्त्री को हरने वाला ये छः आततायी कहलाते हैं। आते हुये आततायी को देखकर उसे बिना विचारे मारने वाले को भी कुछ दोष नहीं होता। इसलिये शास्त्र के मानने वाले तुमको इन दुर्योधन आदि आततायियों को मार डालना उचित है। भगवान के इस दलील का उत्तर अर्जुन इस प्रकार देते हैं—

हे जनार्दन! (जनार्दन कहने का भाव यह है कि तुम तो चर और अचर को संहार करने वाले हो, फिर भी निर्दोष हो, पर हम लोग वैसे नहीं हैं।) इन आततायियों को मारकर हम लोगों को पाप ही होगा, क्योंकि ये हमारे बन्धु हैं, और माता, पिता और बन्धु के वध को शास्त्रों में महापातक कहा है।

भगवान चराचर के संहारक हैं, इस विषय में शास्त्र प्रमाण—

"यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम्। मृत्युर्यस्योपसेचनम्" (कठो० १।२।२५)

"ब्रह्माणमिन्द्रं रुद्रं च यमं वरुणमेवच।
प्रसह्य हरते यस्मात्तस्माद्धरिरितीर्य्यते॥"

"अत्ता चराचरग्रहणात्।" (ब्र० सू० १।२।९)

"न कर्मणा लिप्यते पापकेन॥"

इत्यादि।

जिसके ब्राह्मण और क्षत्रिय भोजन (भात) हैं। मृत्यु जिसका उपसेचन (चटनी) है अर्थात् घृतादि में मिलाकर खाने योग्य भोज्य वस्तु जैसे हैं। ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, यम, वरुण सभी को बलात् अपने अपने अधिकार से खींचते हैं अर्थात् अपने अपने अधिकार से उनको हटा देते हैं, इसलिए वे "हरि" कहे जाते हैं। चर और अचर को खाते हैं, इसलिए वे अत्ता अर्थात् खाने वाले कहे जा सकते हैं। पापकर्मों को करके भी वे पाप से लिप्त नहीं होते ॥३६॥

यस्माद्बन्धुवधे ऐहिकं पारलौकिकं च न किमपि फलं, प्रत्युत बन्धुबधजन्यपातकफलं नरकपातः स्यात्तस्मात्स्वबान्धवान्धार्तराष्ट्रान्वयं हन्तु नार्हाः। यद्यपि विषाग्निदानाद्दुष्कर्माण एते इति सत्यं, तथापि स्वजनं हत्वा वयं कथं सुखिनः स्याम। हीतिनिश्चयेनैव स्यामेत्यर्थः। माधवेति त्वमपि वंशवर्द्धको न तु वंशनाशक इति भावः।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

ननु यूयमपि तेषां स्वजना एव ते कथं युष्मद्वधे प्रवृत्ताः इति चेत्तत्राह-यद्यपीति। यद्यप्येते दुर्योधनादयो लोभोपहतचेतसः लोभेनोपहतं नष्टं धर्मविषयं चेतो येषां ते तथा नष्टधर्मज्ञानत्वात्कुलघ्नतादिदोषं पश्यन्तोऽपि न पश्यन्तीत्यतोऽस्मद्वधे प्रवृत्ता इत्यर्थः।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्त्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ! ॥३९॥

वयं तु न तथेत्याह—कथमिति। कुलक्षयकृतं दोषं प्रकर्षेण पश्यद्भिः अस्माभिरस्मात्पापान्निवर्त्तितुं कथं न ज्ञेयं ? धर्मप्रवर्तकभवदाश्रयाणामस्माकं नाधर्मे प्रवृत्तिः स्यादित्यस्माभिर्भवानर्द्यते याच्यते इति जनार्दनेति सम्बोधनाभिप्रायः। 'कृत्यल्युटोर्बहुलमि'ति कर्मणि ल्युट्।

क्योंकि बन्धुओं को मारने से न इस लोक का फल मिलेगा और न परलोक का बल्कि उल्टे बन्धु वध के पाप का फल, नरक भोग प्राप्त होगा। इसलिए हम लोगों को अपने बन्धु धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारना योग्य नहीं है। यद्यपि इन लोगों ने हम लोगों को विष देकर और अग्नि में जलाने की चेष्टा कर दुष्कर्म किया है सही, तथापि अपने स्वजनों को मारकर हम लोग कैसे सुखी होंगे ? अर्थात् कदापि सुखी नहीं हो सकते।

"माधव" शब्द से सम्बोधन करने का अर्थ यह है कि आप भी तो अपने वंश के वर्द्धक हैं, न कि नाशक ॥३७॥

तुम लोग भी तो उनके स्वजन ही हो तब वे क्यों तुम लोगों को मारने के लिए उद्यत हैं ? इस प्रश्न का उत्तर अर्जुन देते हैं कि इन दुर्योधनादिकों की धर्म-विषयक बुद्धि लोभ से नष्ट हो गई है। जिस कारण ये कुलक्षय के दोष और मित्र से द्रोह करने के पाप को देखकर भी नहीं देखते हैं। तात्पर्य यह कि इसीलिए वे हम लोगों को मारने के लिए तैयार हैं ॥३८॥

हम लोग वैसे नहीं है, इस सम्बन्ध में कहते हैं—कुलक्षय के दोष को हम लोग पूर्णरूप से देखते हैं, तब हम लोग उस पाप से अपने को बचाने का विचार क्यों न करें ?

यहाँ जनार्दन" शब्द से सम्बोधन करने का तात्पर्य यह है कि धर्म के प्रवर्त्तक आपके आश्रय में होकर हम लोगों की अधर्म में प्रवृत्ति नहीं हो, यही हम लोगों की आपसे याचना है। यहाँ जनार्दन शब्द में "अर्द धातु याचनार्थक है ॥३९॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिरित्युक्तमिदानीं तमेव दोषं प्रपञ्चयति-कुलक्षय इति । सनातनाः परम्परागताः कुलोचिताः धर्मा कुलक्षये धर्मानुष्ठातृपुरुषवर्गे नष्टे सति प्रणश्यन्ति । नैतावानेव दोषः किन्तु उत अन्योऽपि इत्यर्थः । अनुष्ठात्रभावाद्धर्म धर्ममात्रे नष्टे सति कृत्स्नं कुलं यत्किञ्चिदवशिष्टं स्त्रीबालादिरूपम् अधर्मोऽभिभवति व्याप्नोति ।

अधर्माभिभवात्कृष्ण ! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय ! जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

ततश्च महान् दोषो भवतीत्याह—अधर्मेति । अधर्मव्यापनात्कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति यथेष्टाचारेण वर्त्तन्ते । भक्तानां पापकर्षकस्त्वं न तु पापे नियोजक इत्यभिप्रायेण कृष्णेति संबोधनं, वार्ष्णेयेति हे धर्मज्ञ ! कुलप्रसूतस्त्रीषु दुष्टासु सतीषु वर्णसंकरो जायते ।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

संकरोत्पत्तिफलमाह—संकर इति जात्यन्तरपुरुषादन्यस्त्रियां जातः संकरः, स कुलघ्नानां कुलस्य च नरकायैव भवति । न केवलं कुलघ्नानामेव नरकपातः, किन्तु तत्पितृणामपीत्याह—पतन्तीति । हि यतः संतत्यभावात् लुप्ता पिण्डोदकक्रिया येषां ते, तेषां कुलघ्नानां पितरः पतन्ति नरके इति शेषः ।

कुलक्षय के दोष को हम लोग जानते हैं, यह कहकर अर्जुन अब उन दोषों का वर्णन करते हैं—

कुल के क्षय होने से अर्थात् कुल धर्म के अनुष्ठान करने वाले पुरुषवर्ग के नष्ट होने से परम्परागत कुलोचित धर्मों का नाश हो जाता है । यही नहीं, पर और भी दोष है कि अनुष्ठान करने वालों के अभाव से धर्म के नष्ट हो जाने पर सम्पूर्ण कुल को अर्थात् कुल में बचे बचाए स्त्री, बालकों को अधर्म घेर लेता है ॥४०॥

कुल के अधर्म से घिर जाने पर बड़ा भारी दोष पैदा होता है, उसी दोष को यहाँ वर्णन करते हैं ।

हे कृष्ण ! (कृष्ण शब्द सम्बोधन करने का अर्थ यह है कि आप भक्तों के पाप को खींचने वाले हैं, पाप में लगाने वाले नहीं ।) अधर्म के व्याप जाने से कुल की स्त्रियाँ स्वेच्छाचारिणी हो जाती हैं । हे वृष्णिवंश में उत्पन्न ! हे धर्म के जानने वाले ! कुल की स्त्रियाँ जब दुष्टा हो जाती हैं तब उनमें वर्णसंकर या दोगले पैदा होने लगते हैं ॥४१॥

अब यहाँ वर्णसंकर की उत्पत्ति के फल को दिखाते हैं—

कुल में दोगलों के उत्पन्न होने से कुल के नाश करने वाले और कुल वाले दोनों ही नरक को

※ श्रीमते निम्बार्काय नमः ※

श्रीमद्भगवद्गीता

दूसरा अध्याय

सञ्जय उवाच—

तं तथा कृपयाऽऽविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

एवं बन्धुवधपापभयेन युद्धादुपरतमर्जुनं श्रुत्वा निवृत्तपुत्रराज्यापायभयं तदुत्तरवृत्तान्तं जिज्ञासुं धृतराष्ट्रं प्रति सत्यवादी सञ्जय उक्तवानित्याह वैशम्पायनः—सञ्जय उवाचेति। उक्तप्रकारेण यथा मयोक्तम् तथा स्वाभाविक्या कृपयाऽऽविष्टमत एव विषीदन्तं विषादं कुर्वन्तमत एवाश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् अश्रुभिः पूर्णेऽत एवाकुले ईक्षणे यस्य तमर्जुनं मधुसूदन इदं वक्ष्यमाणं वाक्यमुवाच। दैत्यराजस्य मधोरपि सूदनो निहन्ता वासुदेवो क्षत्रियरूपेणावतीर्णो दुष्टदैत्यान् पृथ्वीभारभूतान् सर्वान्हनिष्यतीति मधुसूदन-शब्दाभिप्रायः।

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन ! ॥२॥

भगवद्वाक्यमवतारयति—श्रीभगवानुवाचेति । स्वाभाविकैश्वर्यादिषड्गुणानां नित्याश्रयभूतो भगवच्छब्दवाच्यो वासुदेवः स्वभक्तहितं चिकीर्षुः कुतस्त्वामिति द्वाभ्यामुक्तवानित्यर्थः। हे अर्जुन ! बन्धु-

---

वैशम्पायनजी बोले—बन्धुओं के वध के पाप के डर से अर्जुन लड़ाई से विमुख हो गये, यह सुनकर धृतराष्ट्र को अपने पुत्रों के राज्यनाशक भय जाता रहा, परन्तु उसके बाद की वार्त्ता जानने के लिए उसकी प्रबल इच्छा हुई, इसलिए सत्यवादी संजय आगे की वार्त्ता इस प्रकार कहने लगे—

अपने बन्धुओं के प्रति स्वाभाविक करुणा से व्याप्त और इसलिए दुःख करते हुए तथा आँसू से भरे, इसलिए व्याकुल नेत्र वाले, अर्जुन के प्रति भगवान् मधुसूदन निम्नलिखित वाक्य बोले—

"मधुसूदन" शब्द के प्रयोग का यहाँ यह मतलब है कि क्षत्रिय रूप से अवतीर्ण मधुराक्षस के मारने वाले भगवान् वासुदेव पृथ्वी के भारभूत दुष्ट दैत्यों का जरूर विनाश करेंगे ॥१॥

भग अर्थात् ऐश्वर्यादि षड् गुणों के नित्य आश्रय श्रीवासुदेव अपने भक्त अर्जुन के हित की कामना से उससे यों बोले—हे अर्जुन ! स्वधर्म से विमुख करने वाली, युद्ध से पीछे हटाने वाली और

कृपाव्यामोहकृताश्रुपातपुरः सरं स्वधर्मवैमुख्यकरं युद्धात्पराङ्मुखत्वमिदं कश्मलं मानसं कथमनार्यैर-धर्मवद्भिर्जुष्टं सेवितमतएवास्वर्ग्यं स्वर्गविरोधि अकीर्तिकरं च विषमे शोकानर्हस्थाने संग्रामे त्वा त्वां सर्वक्षत्रियप्रवरस्य पाण्डोः पुत्रं कुतो हेतोरुपस्थितं प्राप्तम् ।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

हे पार्थ ! पृथया आराधितदेवराजप्रसादाल्लब्धस्तद्वीर्यातिशयसंपन्नः पुत्रस्त्वं क्लैब्यं क्लीवभावं तेजोवीर्यादिनाशकं मा गमः । एतत्कश्मलं च त्वयि साक्षान्महादेवतोषकार्यद्भुतयुद्धकारिणि नोपपद्यते । यच्च त्वयोक्तं—'न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः' इति तत् क्षुद्रमतितुच्छं यतो हृदयदौर्बल्यं हृदयस्य दौर्बल्यं कृपामोहजन्यं कातर्यं त्वक्त्वा कुलोचितधैर्यावलम्बनेनापनीयोत्तिष्ठ । तत्र हेतुर्गर्भित-संबोधनमाह—हे परंतप ! परान् शत्रूंस्तापयति इति तथा सर्वान् शत्रून् जेष्यतीति जन्मसमये देववाण्या-ऽप्युक्तत्वादिति भावः ।

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन !
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

ननु भगवदुक्तं सर्वं सत्यं, तथापि सत्कुलीनेन परम्पराप्राप्तस्वधर्माविरोध्येव युद्धं कर्त्तव्यं, न तु धर्मनाशकमित्यभिप्रायवानर्जुनः श्रीकृष्णं प्रत्युक्तवानित्याह सञ्जयः—अर्जुन उवाचेति । तदेव वाक्यमाह—कथमिति । भीष्मं पितामहं द्रोणं चाचार्यं संख्ये संग्रामेऽहं कथं प्रतियोत्स्यामि, न कथमपीत्यर्थः

जिसके कारण तुम बन्धुओं पर कृपा दरसाते हुए रो रहे हो, ऐसी हृदय की दुर्बलता तुझमें इस शोक के अयोग्य संग्राम स्थल में कहाँ से और क्यों आ गई ? यह दुर्बलता अनार्यों के योग्य, स्वर्ग की विरोधिनी और तुम्हारी अकीर्ति करने वाली है ॥२॥

हे पार्थ ! (यहाँ पार्थ शब्द से अर्जुन को सम्बोधन करने का भाव यह है कि हे अर्जुन ! तुम पृथा के पुत्र हो जिसने इन्द्र की कृपा से तुमको प्राप्त किया था, इसलिये तुम इन्द्र के बल से युक्त हो ।) तेज और वीर्य की नाशक इस क्लीवता अर्थात् हृदय की दुर्बलता को छोड़ो । साक्षात् महादेवजी को लड़ाई में अद्भुत रीति से युद्ध करके सन्तोष देने वाले तुम में यह मोह और दुर्बलता शोभा नहीं देती । हे परन्तप ! अर्थात् शत्रुओं को दुख पहुँचाने वाले (परन्तप कहने का भाव यह है कि तुम शत्रुओं को अवश्य जीतोगे और तुम्हारे जन्म समय में देववाणी भी ऐसी ही हुई थी ।) "न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः" कहकर जो तुमने अपनी तुच्छ कातरता प्रकट की है उस कृपा और मोह से उत्पन्न कातरता को छोड़ो और स्वकुलोचित धैर्य अवलम्बन कर उठो ॥३॥

यद्यपि भगवान् ने जो कहा सब सत्य है, तथापि सत्कुलोत्पन्न व्यक्ति को धर्म का अविरोधी ही युद्ध करना चाहिये, न कि ऐसा युद्ध जिससे धर्म का नाश हो जाय । इसी अभिप्राय से अर्जुन भगवान्

तत्रापीषुभिः ? याभ्यां सह वाचाऽपि युद्धमनुचितं किं पुनः प्राणहारिभिः शरैरित्यर्थः । कुतो यतस्तौ-पूजार्हौ दुर्योधनादिभिरस्मद्धर्मनाशाय पुरस्कृतौ ।

गुरुं हुंकृत्य तुंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः ।
अरण्ये निर्जले स्थाने स भवेद्ब्रह्मराक्षसः ।।

इत्यादिशास्त्रोक्तं गुरोर्वचनाऽवज्ञाऽऽचरणमपि महादोषं जानद्भिरस्माभिः कथं तन्निधननिमित्ते युद्धे वर्तितव्यमिति भावः ।

गुरून् हत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वाऽर्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ।।५।।

ननु पूजार्हाविति सत्यमुक्तं तथापि भीष्मद्रोणकृपाणां पौत्रत्वेन शिष्यत्वेन च धार्तराष्ट्रा यूयं च समा एव योगक्षेमेण रक्षणीयाः, कथं ते धार्तराष्ट्रानुवर्तिनो भूत्वाऽनपकारिणां शिष्याणां शत्रव इव राज्यप्राप्तिविरोधिनो युद्धाय प्रवृत्ताः अतः कार्याकार्यविवेकरहिता उत्पथगामिनस्त्वतो बधार्हाः । उक्तं च भीष्मेणैव—

'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागोऽभिधीयते ।।'

से बोले । पितामह भीष्म और गुरु द्रोणाचार्य के विरुद्ध लड़ाई में कैसे भिड़ सकता हूँ अर्थात् कभी नहीं भिड़ सकता और सो भी बाणों द्वारा । जिनके साथ वाग्युद्ध भी करना अनुचित है उन पर प्राणहारी बाणों का किस प्रकार प्रहार करूँगा । क्योंकि ये दोनों हमारे पूज्य हैं और धर्म को नाश करने के लिए ही दुर्योधन ने इनको समर-भूमि में आगे रक्खा है ? शास्त्र का वचन है—

गुरुं हुंकृत्य तुंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः ।
अरण्ये निर्जले स्थाने स भवेद् ब्रह्मराक्षसः ।।

अर्थात् गुरु से जो हुंकार या तुंकार पूर्वक भाषण करता है और ब्राह्मण को वितण्डावाद से जीतता है, वह जल शून्य जंगल में ब्रह्मराक्षस होता है । ऐसी अवस्था में गुरु की अवज्ञा वचन मात्र से करने के महान् दोष को जानकर भी उन गुरुओं के नाश करनेवाले युद्ध में हम कैसे प्रवृत्त हों ? ।।४।।

यदि भगवान् यह कहें कि भीष्म, द्रोण पूज्य हैं सही; पर पौत्र और शिष्य के नाते तुम और दुर्योधन तो उनकी नजर में बराबर ही हो, तो फिर वे दुर्योधन का पक्ष लेकर तुम्हारे प्रति शत्रुता का व्यवहार क्यों करते हैं ? तुमने तो उनकी कुछ बुराई की नहीं है, फिर भी तुम्हारे राज्य प्राप्ति के विरोधी युद्ध में वे प्रवृत्त हैं, अतएव वे मारने के योग्य हैं, क्योंकि भीष्म ही का यह कहा हुआ है कि—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागोऽभिधीयते ।।

इति चेत्तत्राह—गुरूनिति । महानुभावः सर्वसामर्थ्यरूपः प्रभावो येषां तान् गुरून् हत्वा इहास्मिल्लोके भैक्ष्यं भिक्षितान्नाद्यपि भोक्तुं श्रेयः, परलोकश्रेयोविरोधिपापस्पर्शाभावादित्यर्थः । महानुभावत्वादेव तेषां नावलिप्तत्वादिदोष योगः तत्त्यागवचनमपि कालकामादिजयनशीलानां तेषामेवोपपद्यते, नेतरेषाम्—

नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथाऽरुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥

—इति वचनात् । ननु—

अर्थस्य पुरुषो दासस्त्वर्थो दासो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज ! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥

—इति तद्वाक्येनैव तेषामर्थकामपरत्वान्न तद्धननं दोषावहमित्याशङ्क्याह हत्वेति । अथकामान्गुरून् हत्वा इहैव भोगान् भुञ्जीय अश्नीयां गुरुवधजनितमहापातकेन तन्नाशादित्यर्थः । इहापि न शुद्धान् किन्तु रुधिरप्रदिग्धान् रुधिरेण प्रकर्षेणोपचितान् ॥

अर्थात् गुरु भी यदि सत् और असत् कार्य के विवेक से रहित, दर्पयुक्त तथा उल्टे रास्ते में चलने वाला हो तो वह त्याग देने के योग्य है । इस शङ्का का उत्तर अर्जुन इस श्लोक में देते हैं—

अर्जुन कहते हैं कि सर्व सामर्थ्य वाले गुरुओं को न मारकर इस संसार में भीख माँगकर खाना अच्छा है, क्योंकि इसमें परलोक प्राप्ति के विरोधी पाप का स्पर्शमात्र भी नहीं है । कहने का तात्पर्य यह कि ये लोग महानुभाव हैं, इसलिये उनको अवलिप्त आदि दोष नहीं लगते हैं और उनके परित्याग का भी जो वचन है वह सबके लिये नहीं है । वह तो काल और काम को जो जीते हुए हैं, उन्ही के लिये है, क्योंकि कहा है कि—

"नैतत्समाचरेज्जातु मनसाऽपि ह्यनीश्वरः ।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥"

अर्थात् सामर्थ्यहीन पुरुष इसको (गुरु के त्यागादि कार्य को) नहीं करे, नहीं तो शिवजी के विष पान का अनुकरण करने वाले के समान वह नष्ट हो जायगा । फिर यदि भगवान् कहें कि भीष्म, द्रोण अर्थकामी हैं, जैसा भीष्म ने स्वयं कहा है कि—

"अर्थस्य पुरुषो दासस्त्वर्थो दासो न कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज ! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥"

अर्थात् मनुष्य अर्थ (धन) का दास है । अर्थ (धन) किसी का दास नहीं है । यह सत्य है । हे महाराज ! हम कौरवों के धन से बँधे हुए हैं । ऐसी हालत में इनको मारने में कुछ दोष नहीं है । इस शङ्का का उत्तर अर्जुन देते हैं कि इन अर्थकामी गुरुओं को मारकर इनके रक्त से सना हुआ, इसलिये यहाँ भी अशुद्ध, भोग केवल इस संसार ही में भोग सकते हैं, क्योंकि गुरु-घातक से दूषित भोग चिरस्थाई अर्थात् परलोक में प्राप्त नहीं हो सकता ॥५॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नोगरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ।।६।।

ननु शास्त्रविहितं क्षत्रियस्य श्रेयो युद्धरूपं स्वधर्मं विहाय परधर्मं भैक्ष्यं कथं श्रेयो मन्यसे इत्यत आह--न चैतदिति । भैक्ष्यं वा युद्धं वा नोऽस्माकं कतरत् गरीयः श्रेष्ठमेतद्वयम् न विद्मः । युद्धांगीकारेऽपि यद्वा तान् वयं जयेम, यदि वा नोऽस्मान् ते जयेयुरेतच्च न विद्मः । किञ्च जयोऽप्यस्माकं पराजय इत्याह-यानेवेति । यान् बन्धूनेव हत्वा वयं न जिजीविषामो जीवितं नेच्छामस्ते धार्तराष्ट्राः प्रमुखेऽवस्थिताः ।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।७।।

एवं चेत्किं त्वया स्वश्रेयो निश्चितमित्यपेक्षायां 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै, तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये । यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो विद्याश्च तस्मै गोपायति स्म कृष्णः, तं देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणं व्रजेत्, ये तु कृष्णं प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति-

---

यदि भगवान् कहें कि शास्त्र में विहित क्षत्रियों का कल्याण कर युद्धरूप अपने धर्म को छोड़कर परधर्म (दूसरों के धर्म) भीख माँगने को क्यों श्रेष्ठ समझते हो तो अर्जुन उसका उत्तर देते हैं--

भीख माँगना वा युद्ध करना इन दोनों में हम लोगों के लिए कौन श्रेष्ठ है यह नहीं मालूम पड़ता । फिर युद्ध करने भी हम दुर्योधनादिकों को जीतेंगे या वे हम लोगों पर जय लाभ करेंगे यह नहीं जानता । और फिर हम लोगों की जीत भी तो हार ही के समान होगी, क्योंकि जिन बन्धुओं को मार-कर हम जीवन धारण करना नहीं चाहते, वे ही लोग इस लड़ाई में हम लोगों के सामने खड़े हैं ।।६।।

यदि ऐसी बात है तो तुमने अपना श्रेय क्या निश्चय किया ? इस प्रश्न की अपेक्षा करके अर्जुन कहते हैं--

हे भगवन् ! यह श्रुतियों में लिखा हुआ है कि--

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रआशं मुमुक्षुर्वैशरणमहं प्रपद्ये ।।
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो विद्याश्च तस्मै गोपायतिस्म कृष्णः ।
तं ह देवामात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वैशरणं व्रजेत् ।।"

अर्थात् जो परमात्मा सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा को पैदाकर उनको स्वाधिकार में स्थापित कर उन्हें उस अधिकार के निर्वाह के लिये वेद की शिक्षा देता है, आत्मा (जीवों) की बुद्धि के प्रकाशक उसी देव की शरण में मोक्ष का इच्छुक मैं जाता हूँ । जो कृष्ण सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा को पैदाकर उनके लिये विद्या (वेद) की रक्षा करते हैं, उसी आत्मबुद्धि के प्रकाशक देवकी शरण में मुक्ति चाहने वाले जावें । फिर स्मृति में भी लिखा है कि--

मानवाः । भये महति मग्नानां त्राता नित्यं जनार्दने'त्यादिश्रुतिस्मृतिप्रतिपादितां भगवदुपसत्तिमेव सर्वसाधनेषु गरीयसीं मनसि निधाय स्वहिताहितज्ञानकौशलं विहाय ब्रह्मरुद्रादिभिरनवगतमहिमानमचिन्त्यगुणशक्तिकं कारुण्यवात्सल्यादिगुणार्णवं स्वभक्तहिताय वसुदेवगृहेऽवतीर्णं साक्षात्परमात्मभूतं (भगवन्तं) त्वमेव शरणं व्रजामि इत्याह—कार्पण्येति । 'यो वा एतदक्षरमविदित्वा गार्ग्यस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः ।' इति श्रुतेः पूर्वप्रतिपादिताक्षरशब्दवाच्यसूर्यचन्द्रवायुवह्नीन्द्रादिसर्वजगन्नियन्तृपरमात्मस्वरूपगुणादिज्ञानहीनः कृपणः इत्युच्यते शास्त्रे । लोके तु स्वल्पमपि द्रव्यव्ययं कर्तुमक्षमः कृपणस्तस्य भावः कार्पण्यं तन्निमित्ते एतत्स्वजनवधेऽस्मज्जीवनं निरर्थकमिति मोहरूपो दोषस्तेनोपहतो विवेकात्मको स्वभावो यस्य अतएव धर्मे संमूढम् चेतो यस्य सोऽहं त्वां स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषं सर्वज्ञं पृच्छामि । किं ? यत् निश्चितम् असंदिग्धं श्रेयः परमपुरुषार्थभूतं हितं स्यात्तन्मे मह्यं ब्रूहि । हितोपदेशस्यात्मनो योग्यतामाह—शिष्यस्तेऽहमिति । तव शासनयोग्योऽहम् अतः सखित्वान्मम तुल्योऽयं नोपदेशार्ह इति न शंकनीयं त्वया, तस्मात्त्वां प्रपन्नं शरणागतं मां त्वं शाधि स्वकरुणावशेन शिक्षयेत्यर्थः ।

"ये तु कृष्णं प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः ।
भये महति मग्नानां त्राता नित्यं जनार्द्दनः ॥"

अर्थात् जो मनुष्य कृष्ण की शरण में जाता है उसको मोह नहीं होता । बड़े भारी भय में पड़े लोगों के रक्षक श्री जनार्द्दन हैं ।

इसलिये अपने हिताहित के जानने की कुशलता को छोड़ और मन में यह निश्चय कर कि सब साधनों में भगवान् की "शरणागति" ही सबसे श्रेष्ठ साधन है, मैं आपकी शरण में हूँ । आप साक्षात् परब्रह्म हैं । भक्तों के हित के लिए वसुदेव के गृह में अवतार लिये हैं । ब्रह्मा, रुद्र भी आपकी महिमा, गुण और शक्ति की कल्पना नहीं कर सकते । और आप कारुण्य, वात्सल्य आदि गुणों के समुद्र हैं ।

इन्हीं ऊपर के भावों को दरसाते हुए अर्जुन कहते हैं कि अपने बन्धुओं को मारकर हम लोगों का जीवन निरर्थक हो जायगा, ऐसी ※कृपणता से मेरा विवेक ढक गया है और धर्म के विषय में मेरे हृदय में मोह वा भ्रान्ति उत्पन्न हो गई है । इसलिए मैं, समस्त दोषों से स्वभाव ही से रहित और सर्वज्ञ आपसे पूछता हूँ कि जो निश्चय रूप से मोक्ष देने वाला रास्ता हो, वह आप मुझको बतावें । आपका हितोपदेश सुनने की मुझ में योग्यता भी है । यह न समझिये कि मैं आपका सखा हूँ इसलिए हितोपदेश सुनने के लिए अयोग्य हूँ । मैं अपने को आपका शिष्य समझता हूँ । मैं आपकी शरण में हूँ, मुझको आप कृपाकर शिक्षा दीजिये ॥७॥

※अशर शब्द वाच्य, सूर्य, चन्द्रमा, वायु अग्नि, ईन्द्र आदि समस्त जगत् के नियन्ता, परमात्मा के गुण आदि के ज्ञान के अभाव को शास्त्र में कृपणता कहते हैं । जैसा श्रुति में कहा गया है—"यो वा एतदक्षरमविदित्वा गार्ग्यस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः' अर्थात् हे गार्गि ! जो इस अक्षर परमात्मा को विना जानकर ही इस लोक से कूच करता है वह कृपण कहलाता है । संसार में कृपण वह कहलाता है जो कुछ भी धन व्यय न कर सकता हो ।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

ननु लोके देवताऽऽराधनजन्यसम्पत्पुत्रराज्यादीनि यथाकामं श्रेयांसि बहूनि संति । क्षत्रियाणां तु प्रायो निष्कण्टकराज्यमेव श्रेय इति त्वमेव स्वबुद्ध्या निश्चित्य तदुपाये प्रयतस्वेति चेत्तत्र 'सोऽहं भगवः शोचामि तं मां भगवान् शोकस्य पारं तारयतु श्रुतं ह्येव भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवदि'ति श्रुत्यर्थं हृदि निधाय नैतानि शोकतरणोपायानीत्याह—नहीति यच्छब्दः श्रेयपरामर्शपरः । यच्छ्रेयः इन्द्रियाणां शोषणं मम शोकमपनुद्यान्नाशयेत्तत् भूमौ असपत्नं निष्कण्टकं राज्यमवाप्य सुराणां च आधिपत्यं देवेन्द्रतां च प्राप्यापि न पश्यामि । हीत्यवधारणे । प्रकर्षेण नैव पश्यामीत्यर्थः । अतः त्वमेव तद्वक्तुमर्हसीति भावः ।

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तुष्णीं बभूव ह ॥९॥

ततः किं वृत्तमिति धृतराष्ट्राकांक्षायां सञ्जय उवाच—एवमिति । गुडाकाया निद्राया ईशः जितनिद्रोऽर्जुनः हृषीकेशं इन्द्रियनियन्तारं एवमुक्तप्रकारेणोक्त्वा गोविन्दं गां वेदलक्षणां वाणीं वेदयते इति गोविन्दः त (य)थोक्तमुद्योगपर्वणि 'गोविन्दो वेदनाद्गवामि'ति हरिवंशेऽपि गौरेषा तु यतो वाणी तां च—

यदि भगवान् कहें कि हे अर्जुन ! संसार में जैसे लोगों के लिए देवताराधना से प्राप्त अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार सम्पत्ति, पुत्र, राज्य इत्यादि कितने ही श्रेय हैं, वैसे ही क्षत्रियों के लिए निष्कंटक राज्य पाना ही सबसे बड़ा श्रेय है । तो तुम स्वयं ही अपना श्रेय निश्चित करके उसके साधनों के उपायों में लग जाओ । इसका उत्तर अर्जुन देते हैं--हे भगवान् ! ये सब शोक तरने के उपाय नहीं हैं । श्रुति कहती है—

"सोऽहं भगवः शोचामि तं मां भगवन् शोकस्य पारं ।
तारयतु श्रुतं ह्येव भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवित् ॥"

अर्थात् मुझ को शोक के पार पहुँचाइये । आत्म-ज्ञानी शोक को पार करता है यह मैंने आप ही सरीखे महात्माओं से सुना है । फलतः इन्द्रियों को सुखाने वाले मेरे शोक का नाश समस्त पृथ्वी का एकाधिपत्य राज्य वा इन्द्र का भी राज्य पाकर होगा, ऐसा मुझे नहीं मालूम पड़ता । इसलिए आप ही कृपा करके मेरे श्रेय का हेतु निश्चित कर दीजिए, क्योंकि मैं आपके शरणागत हूँ और शरणागतों का भार स्वामी पर ही रहता है ॥८॥

इसके बाद क्या हुआ । यह जानने की इच्छा वाले धृतराष्ट्र के प्रति संजय बोला--निद्रा के ऊपर विजयी और शत्रुओं को नाश करने वाले अर्जुन इन्द्रियों के स्वामी श्री भगवान् से ऐसा कहा कि

वेदयते भवान् । गोविन्दस्तु ततो देव ! मुनिभिः कथ्यते भवान् । इति तं सर्ववेदोपदेष्टारं सर्वज्ञं भगवन्तं न योत्स्य इत्युक्त्वा तुष्णीं बभूव । हेति स्फुटम् ।

तमुवा च हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

एवं युद्धत्यागाय कृतव्यवसायेऽर्जुने मम पुत्राणां सुखं जीवनं सिद्धमिति चेतनाचेतननियन्तरि दुर्जनविनाशायावतीर्णे भगवत्यधिष्ठातरि सति नाशासनीयमिति धृतराष्ट्राय सूचयितुं सञ्जय आह— तमिति । हे भारत ! महावीरस्य वंशे जातस्य तव युद्धोपरतौ पुत्रस्नेहेन हर्षो नोचित इति भावः । हृषीकेशः सर्वेन्द्रियनियन्ता तमुभयोः सेनयोर्मध्ये युद्धार्थं विषीदन्तं विषादं कुर्वन्तमर्जुनं प्रहसन्निव इदं वक्ष्यमाणं वच उवाचेत्यन्वयः । पाण्डुपुत्रस्य क्षत्रियसम्मतस्य नैतद्युक्तमिति लज्जानिमित्तं कोपमुत्पादयितुं प्रहसन्निवेत्युक्तम् । अर्जुनं निमित्तीकृत्य सर्वसेनासंहारार्थं प्रवर्त्तस्य गुरुत्वेनांगीकृतस्य हितोपदेष्टुर्भगवतः स्वधर्मे प्रवर्त्तयितुमुद्यतस्य प्रहासो नोचितः, किन्तु (तद्विद्या) तद्विधाबुद्धिकौशल्यगर्वापनयनेन तत्त्वज्ञानाधिकारितासम्पादनाय तथा वचनमितीवशब्दाभिप्रायः ।

श्रीभगवानुवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

हे गोविन्द ! मैं न लड़ूँगा, चुप हो गये । (गोविन्द शब्द का यह अर्थ है कि भगवान् "गो" अर्थात् वेद की वाणी को जानते हैं और शिक्षा देते हैं अर्थात् सर्व वेद के उपदेष्टा और सर्वज्ञ हैं ।) ॥९॥

यह सुनकर कि अर्जुन लड़ाई छोड़ देने पर कटिबद्ध वा कृत-निश्चय हो गया, धृतराष्ट्र ने अपने मन में सोचा कि मेरे लड़कों का अब जीवन सुख से बीतेगा । इस विश्वास को दूर कराने के लिए और यह जनाने के लिये कि चेतन अचेतन के नियन्ता और दुर्जनों के नाश के अर्थ अवतार लेने वाले भगवान् के रहते तुम को ऐसी आशा न करनी चाहिये, संजय इस प्रकार बोला—

हे भारत ! अर्थात् भरतवंश से उत्पन्न धृतराष्ट्र ! (भारत सम्बोधन का अभिप्राय यह है कि तुम इतने बड़े महावीर भरत के कुल में उत्पन्न हुए हो । तुम को पुत्र स्नेह के वश हो अर्जुन के युद्ध से हट जाने पर खुशी नहीं माननी चाहिए ।) सब इन्द्रियों के नियन्ता भगवान् दोनों सेनाओं के बीच में स्थित और दुःख करते हुए अर्जुन के प्रति लज्जा और क्रोध पैदा करने के लिए, उसका उपहास करते हुए से ऐसा, यह बोले ।

यहाँ भगवान् पर यह आक्षेप हो सकता है कि अर्जुन को निमित्त करके सब सेनाओं का नाश करने में प्रवृत्त और अर्जुन को स्वधर्म में प्रवृत्त करने में उद्यत, उनके गुरु और उपदेष्टा बनकर उनको अर्जुन का ठठ्ठा मचाना उचित नहीं है । इसका उत्तर यह है कि अर्जुन की विद्या बुद्धि की कुशलता के घमण्ड को हटाकर तत्त्वज्ञान का अधिकारी बनाने के लिए भगवान् ने ठठ्ठा के सदृश कहा ॥१०॥

तत्र 'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय समन्विताय येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्वतो ब्रह्मविद्यामि'ति श्रुतेरुक्तलक्षणाधिकारिणे गुरुणा ब्रह्मविद्योपदेष्टव्या अतस्तथा-भूतार्जुनाय 'एतस्यप्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।

यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन्दृश्यते श्रूयतेऽपिवा ।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्यनारायणस्थितः ।।
नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः ।
नारायणः परोध्याता ध्यानं नारायणः परः ।।
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत् ।'
ससुरासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम् ।
जगद्वशे वर्त्ततेऽदः कृष्णस्यसचराचरम् ।।
यदाह वसुधा सर्वं सत्यमेतद्दिवौकसः ।
अहं भवो भवन्तश्च सर्वे नारायणात्मकाः ।।
किमनेन जगन्नाथ ! सर्वं त्वद्वशगं जगत् ।
एकः समस्तं यदिहास्ति किञ्चित् तदच्युतो नास्तिपरं ततोऽन्यत् ।
सकलमिदमहं च वासुदेवः परमः पुमान्परमेश्वरः स एकः ।।

शोक और मोह को जड़ से उखाड़ने वाली विद्या अर्जुन को सिखाने के लिए और देह और आत्मा का विवेक उत्पन्न करने के लिये एवं उसके पण्डित होने के अभिमान को हटाने के लिए भगवान् कहते हैं। अर्जुन सब प्रकार से शिष्य होने के योग्य है, क्योंकि जो गुण शिष्यों में होने श्रुति ने बताये हैं वे सब उसमें विद्यमान हैं। यथा—

"तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय समन्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्वतो ब्रह्मविद्याम् ।।"

अर्थात् विधि पूर्वक समीप में प्राप्त, अच्छी तरह से प्रशान्त चित्त और समन्वित (वाह्य, इन्द्रिय निग्रह युक्त) शिष्य को विद्वान् (गुरु) उस ब्रह्म विद्या का उपदेश करे जिससे अक्षर पुरुष अर्थात् परब्रह्म जाना जाता है। अब इस अक्षर पुरुष के विषय में श्रुति स्मृति यों कहती हैं—

"एतस्याक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः ।।
भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चन्द्रश्च मृत्युर्धावतिपञ्चमः ।।"

अर्थात् इस अक्षर परब्रह्म से शासित सूर्य और चन्द्रमा बिना आधार के स्थित हैं। इसके डर से वायु बहता है, इसके डर से सूर्य यथा समय उगता है और इसके भय से अग्नि, इन्द्र और पाँचवा मृत्यु दौड़ता है। और भी—

यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन्दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ।।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत' इत्यादि श्रुतिस्मृतिनिर्णीता सूर्यचन्द्रवाय्वग्नीन्द्रमृत्युद्यादिसर्वचेतनाचेतननियन्तृजगज्जन्मस्थितिलयाभिन्ननिमित्तोपादानकारणसर्वव्यापकसर्वात्मभूतसर्वभिन्नाभिन्नस्वरूपाक्षरनारायणहरिवासुदेवादिशब्दाभिधेयपरमब्रह्मस्वरूपगुणादिविषयिणी विद्या निःशेषशोकमोहविनाशिनी तामेवोपदेष्टुं तावन्नियम्यभूतचिदचिद्वर्गयाथात्म्यज्ञानाभावेन शोचते देहात्मविवेकमुत्पादयितुं तस्य पाण्डित्याभिमानं निरासयन् श्रीभगवानुवाच—अशोच्यानिति। अशोच्यान् शोचितुमयोग्यान् पुण्यलोकजयोद्यतान् भीष्मद्रोणादीन् त्वमन्वशोचः शोकमकार्षीः—

'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।
किन्नो राज्येन गोविन्द किंभोगैर्जीवितेन वा ॥'

—इत्यादिना। एतैर्विना राज्यादिना जीवितेन वाऽस्माकं किं प्रयोजनमित्येवं शोकंकृतवानसि इति ते मूर्खत्वम्। किञ्च प्रज्ञावादांश्च भाषसे प्रज्ञावतां वादाः प्रज्ञावादाः स्वपाण्डित्यद्योतकास्तान् "पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः, उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन। नरके नियतं वासो भवति, गुरून् हत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके' इत्यादिना भाषसे, कथयसि। एवं मूर्खत्वं पाण्डित्यं चैकस्मिन्विरुद्धमतो मुधा ते पाण्डित्यमित्यर्थः। यतो गतासून् गतप्राणान् मृतान् अगतासून्प्राणवतो जीवितान् पण्डिता नानुशोचन्ति। तत्वविवेचिनीबुद्धिः पण्डा सा जाता येषां ते पण्डितास्ते देहेन्द्रियादिविच्छेदे सत्वे वा तद्व्यतिरिक्तात्मनां शोकं न कुर्वन्ति इत्यर्थः।

इस जगत् में जो कुछ देखा वा सुना जाता है उन सबको बाहर भीतर से व्याप्त करके नारायण स्थित हैं। और भी श्रुति स्मृतियों से निर्णीत ब्रह्मविद्या, अर्थात् सूर्य, चन्द्र, अग्नि, मृत्यु इत्यादि सब चेतन और अचेतन के नियामक, जगत् के जन्म, स्थिति और लय के अभिन्न निमित्तोपादान कारण, सबमें व्यापक, सबके आत्मस्वरूप, सबसे भिन्नाभिन्नस्वरूप और जो नारायण वासुदेव इत्यादि नामों से पुकारे जाते हैं, उन्हीं ब्रह्म के गुण और स्वरूप बताने वाली विद्या भगवान् अर्जुन को सिखाना चाहते हैं। भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! पुण्यलोक जीतने की कामना करने वाले भीष्म, द्रोणादिक सोच करने योग्य नहीं है और तुम उनके लिये सोच कर रहे हो। यह तुम्हारी मूर्खता है। पर तुम बोल रहे हो पण्डितों जैसा, क्योंकि तुमने पीछे के अध्याय और इस अध्याय में भी कहा है कि—

"पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः।
गुरून् हत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ॥"

ये पण्डितों की सी बोली हैं। इस प्रकार मूर्खता और पाण्डित्य का एक ही जगह समावेश कर तुम अपने पाण्डित्य को व्यर्थ कर रहे हो। कारण कि मरे हुओं का और जीवितों का तत्त्वातत्त्वविवेकबुद्धियुक्त पण्डित सोच नहीं करते। तात्पर्य यह कि पण्डित लोग देह, इन्द्रिय आदि के नाश होने पर उनसे बिछुड़े हुए आत्मा के लिए शोक नहीं करते ॥११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

ननु कुतस्तेऽशोच्याः ? यतस्तान् पण्डिता न शोचन्तीत्यपेक्षायां देहातिरिक्तात्मनां नित्यत्वा दित्याह—नत्विति । तत्रात्मत्वेन स्वस्य जीवात्मसाम्यापत्तिं तु शब्देन निराकरोति । सर्वात्मनां मध्ये यथा अहं सर्वेश्वर इतः पूर्वस्मिन्काले जातु कदाचिन्नासं नाभवमिति न, अपित्वासमेव । तथात्वं नासी रिति न, किन्त्वासीरेव । तथेमे जनाधिपा नाऽऽसन्निति न, किन्त्वासन्नेव । एतेनात्मनां भूतकाले सत्त्वा दुत्पत्तिर्निराकृता । न चेति । पुनः सर्वे वयं पूर्वोक्ता अतः वर्तमानकालात् परमन्ते (परमग्रिमे) काले भविष्याम इति न, अपि तु भविष्याम एव । एतेन नाशाभावो निरूपितः, उत्पत्तिनाशाभावादेव मध्येऽ तेषां सत्वं सिद्ध्यति । एवं कालत्रयेऽपि सत्वप्रतिपादनात्सर्व एवात्मानो नित्या अतोऽशोच्या इति भावः

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

ननु देवदत्तस्य पुत्रो जातः, यज्ञदत्तोमृत इति परम्परागतप्रतीतेर्जन्ममरणयोर्दशाहानिः ब्राह्मणस्या शौचप्रतिपादकधर्मशास्त्रस्य च प्रामाण्यात्कथमात्मनां जन्मनाशाभावः, कथं वा शोच्यत्वमन्यथा प्रमाण बाधः स्यादित्याशङ्क्याह देहिन इति, देहः कर्मफलभोगायतनभूतो विद्यते यस्य स देही, तस्यैकस्मिन्ने देहे यथा कौमारं यौवनं जरा परस्परविरुद्धावस्थाः कालभेदेन प्राप्नोति, न त्ववस्थाभेदेनात्मभेदः, 'यो पित्राद्यंकेऽक्रीडं स एवाहं यौवने विषयमनुभूयेदानीं वार्द्धके पुत्रपौत्रादीननुभवामी'त्यबाधितप्रत्यभिज्ञाना

पण्डित लोग मृत और जीवित के विषय में जिस कारण से नहीं सोचते हैं उस (देह से भिन्न आत्म के नित्यत्वरूप) कारण को भगवान् कहते हैं—प्रथम 'तु' शब्द जीवात्मा और परमात्मा में समानत का निराकरण करता है । जिस प्रकार सब आत्माओं में सर्वेश्वर मैं पूर्वकाल में नही था, ऐसी बात नहीं है, अर्थात् पूर्वकाल में भी था, वैसे ही तुम भी या ये राजा लोग भी पूर्वकाल में नहीं थे, यह बात नहीं है, अर्थात् तुम और ये लोग भी पूर्वकाल में थे । इससे भूतकाल में भी सब आत्माओं को विद्यमा रहने से आत्मा की कभी उत्पत्ति हुई, इसका खण्डन भगवान् करते हैं । फिर हम लोग वर्त्तमान काल के बाद भविष्यत् काल में न होंगे, यह बात भी नहीं हैं, अर्थात् भविष्यत् में भी रहेंगे । इससे आत्मा का नाश नहीं होता, यह बात निरूपित की गई और जिसकी उत्पत्ति वा नाश नहीं वह बीच के समय में भी रहेगा ही । इस प्रकार आत्मा भूत, भविष्तत् और वर्त्तमान तीनों काल में स्थित है । इसलिए सब आत्माएँ नित्य हैं, तब उसके लिये सोच क्यों करना ? ॥१२॥

जैसे एक ही शरीर में देही (देह वाला जीव) काल भेद से लड़कपन, जवानी और बुढ़ापा तीन भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होता है, पर उसके स्वरूप में कुछ भेद नहीं होता, क्योंकि अनुभव वाले को ही अनुभूत विषय का स्मरण रहता है, इस नियमानुसार वह समझता है और उसको यह स्मरण होता है कि मैं ही एक समय लड़कपन में पिता की गोद में खेला करता था, फिर वही मैंने जवानी में विषय-

अनुभवस्मृत्योरेकाधिकरणनियमाच्च। तथा पूर्वदेहादन्यो देहो देहान्तरं तस्यप्राप्तिस्तस्यैवात्मनः, न तु देह-भेदेनात्मभेदः। तत्र देहान्तरप्राप्तौ धीरो धारणावती बुद्धिमान्न मुह्यति, पितृपुत्रादौ मृते नष्टोऽयमिति मोहं न प्राप्नोति इत्यर्थः। 'देहिन'इत्यारभ्य 'देही नित्यमवध्योऽयमि'त्यन्तेषु श्लोकेष्वेकवचनं जात्यभिप्रायकमेव, न तु जीवात्मस्वरूपैकत्वविषयम्। 'आचार्यप्रोक्ता या जातिः सा नित्या साऽजराऽमरे'ति सनत्सुजात-वचनात्।' 'न त्वं नेमे जनाधिपाः' इति निरन्तरश्लोके बहुत्वनित्यत्व—प्रतिपादनाच्च। नैतावदेव प्रमाणमपि तु 'कामात्मानः स्वर्गपराः, ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः। श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः। बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः। ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहं, सांख्ययोगौ-पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः, कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि। योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये। तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्त-रात्मना। न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः। येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्। ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः भजन्ते मां दृढव्रताः। यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः। महात्मानस्तु मां पार्थ ? दैवीं प्रकृतिमास्थिताः। ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते। मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः। मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्। इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च। निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः। द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तदि'त्यादि सर्वेषु अध्यायेषु प्रत्यागात्मबहुत्वप्रतिपादकानि वाक्यानि विद्यन्ते, एकात्मत्वांगी-कारे तानि बाध्येरन्। न चोपाधिकृतभेदप्रतिपादनेन न तद्बाध इति वाच्यं, तेषामुपाधिपरत्वकल्पने मानाभावात्। प्रत्युत 'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः। छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहितेरताः। कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्। अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनामि'ति निवृत्ताशेषा-ऽविद्यानामपि बहुत्वप्रतिपादनात् अन्यथा सर्वदेहेषु चेतनैकत्वांगीकारे एकस्मिन्सुप्ते मूर्छिते मृते वा सर्वेषां तत्साम्यापत्तिः स्यात्, सर्वान्तर्वृत्तिसुखदुःखादिज्ञानं सर्वेषां समानं स्यात्। किञ्च अहं त्वमयमिति प्रत्ययानां निगमनाविरहेण विभागाभावः स्यात्सर्वत्राहमेव प्रतीतिः स्यात् न तु तथाऽस्ति। किं तर्हि

भोग किया था और वही बुढ़ापे में पुत्र पौत्र का सुख अनुभव कर रहा हूँ। वैसे ही जीव को भी दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है, पर जीव वही रहता है। इसलिये स्वधर्म युद्ध में मरने पर विवेकियों को शोक मोह नहीं करना चाहिये।

इस श्लोक में देही (जीव) को एक वचन लिखा है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि जीव एक है। यहाँ देही शब्द का प्रयोग समुदाय वा जाति के अर्थ में हुआ है। जीव यथार्थ में अनन्त हैं और गीता के प्रत्येक अध्याय में ऐसे अनेकानेक श्लोक हैं जहाँ जीव के लिए बहुवचन व्यवहृत हुआ है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि जीव अनन्त हैं ॥१३॥

भगवदुक्तात्मभेदः स्वरूपनिरूपित इति श्रुतिरपि निश्चाययति। 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामानि'ति। तस्मादात्मैकत्ववादिनो भ्रान्ता इति निश्चीयते। अतः स्वधर्मे युद्धे मरणेऽपि विवेकिनो न शोकमोहौ स्यातामिति भावः।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय ! शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनो नित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

ननु भवत्वात्मनां स्वरूपेण नित्यत्वे बहुत्वे च तन्नाशनिमित्तं मोहानौचित्यमिति। तथाऽपि युद्धे शस्त्रपातादिना आचार्यपितृबन्धूनां प्रियदेहवियोगे सुखहानिर्दुःखावाप्तिश्च भवेदेव, तन्निमित्तो मोहः सम्भवतीत्याशङ्क्याह-मात्रास्पर्शा इति। मात्राः शब्दादितन्मात्राणि तत्कार्यत्वाच्छब्दस्पर्शादयो विषया मात्राशब्दवाच्यास्तेषां श्रोत्रादीन्द्रियैः स्पर्शाः शीतोष्णसुखदुःखदा भवन्ति। मृदुमधुराः सुखदाः कटुपरुषा दुखदाः। तथाऽपिनात्मवन्नित्याः किन्त्वागमापायिनः आगमापायशीलाः अतएव अनित्यास्ततस्तान्विवेक-धैर्यसम्पत्त्या तितिक्षस्व सहस्व। कालान्तरे स्वयमेव नंक्ष्यन्ति। तन्निमित्तो मोहस्तव नोचित इति कौन्तेय भारतेति सम्बोधनाभ्यां सूचितम्।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभः।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

मात्रास्पर्शतितिक्षायां किं फलं स्यादित्यपेक्षायामाह—यं हीति। हे पुरुषर्षभ ! यं पुरुषं स्वधर्मानु-वर्तिनं शास्त्रविहितं फलसंकल्पशून्यं युद्धादिकं स्वधर्मं कुर्वाणं समदुःखसुखं समे दुःखसुखे यस्य स तमतएव

यदि यही बात हो कि आत्मा स्वरूप से ही नित्य और अनेक है तो उसके लिए मोह करना अनुचित है सही, पर युद्ध में शस्त्र इत्यादि से आहत होकर गुरु, भाई इत्यादि की प्रिय देह की हानि तो होगी ही, तब बन्धुओं के वियोग से दुःख अवश्य होगा। इसके लिये दुःख और शोक होना सम्भव है। इसका उत्तर भगवान् देते हैं—

हे कुन्ति के पुत्र अर्जुन ! शब्दादि तन्मात्राओं के विषयों का अर्थात् शब्द स्पर्शादिकों का कान, आँख आदि इन्द्रियों के साथ सम्मिलन शीतल और गर्म, सुखद और दुखद होता है। जैसे जो मृदु वा मधुर हुआ वह सुखद मालूम पड़ता है और जो कटु वा कड़ा हुआ दुखद मालूम पड़ता है। पर ये शब्दादि विषय आत्मा के समान नित्य नहीं हैं। ये आने जाने वाले अर्थात् अनित्य हैं। इसके विवेक और धैर्य के बल से इनको सहो। ये कालान्तर में स्वयमेव नाश हो जाँयँगे। "भारत" और "कौन्तेय" सम्बोधन से यह दरसाया कि इनके लिए तुमको मोह करना उचित नहीं है, क्योंकि तुम बड़े विवेकियों के वंश में उत्पन्न हो॥१४॥

मात्रा स्पर्शों के सहने से जो फल वा लाभ होगा उसको अब कहते हैं। हे पुरुष श्रेष्ठ ! जो पुरुष अपने धर्म का अनुवर्त्ति होकर और फल सङ्कल्प शून्य शास्त्र में कहे हुए युद्धादि अपने धर्म को पालन करता है और जिस धीर पुरुष को दुःख सुख बराबर ही है, अर्थात् शस्त्रादिकों की मृदु वा कठोर चोट

धीरं धैर्यवन्तमेते शस्त्रपातादिजन्यमृदुपरुषाः स्पर्शा न व्यथयन्ति स्वधर्मान्न चालयन्ति। सोऽमृतत्वाय परमपुरुषार्थभूतजरामरणादिधर्मवर्जितस्वरूपप्राप्तये कल्पते योग्यो भवति।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

नन्वतिप्रभूतशीतोष्णादिप्राप्तावात्माऽप्यतिदुःख्यनुभूयते, अमुकोऽतिदुःखेनमृत इत्यात्मनोऽप्यभावप्रतीतेः कथं शीतोष्णादेरेवागमापायित्वं कथं वाऽऽत्मनोऽमृतत्वकल्पनमित्याशंकां निरासयति-नेति। असतोऽनात्मधर्मस्य विकारस्य शीतोष्णादेरात्मनि भावः सत्ता न विद्यते, सतोऽविकार्यस्यात्मनोऽभावो विनाशो न विद्यते। अनयोर्भावाभावौ नाज्ञप्रतीत्यवसेयावित्याह—उभयोरिति। उभयोरप्यनयोः सदसतोर्विचारे जाते अन्तः सिद्धान्तपक्षः निर्णय इत्यर्थः तत्वदर्शिभिर्दृष्टः। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, एतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो!' इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितं तत्वं जीवात्मपरमात्मनोः स्वरूपं, तद्दर्शनशीलैर्दृष्टो ज्ञात इत्यर्थः।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तुमर्हति ॥१७॥

जिसको धर्म से च्युत नही कराती, वह, परम पुरुषार्थरूप, जरा मरणादि से रहित, शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ॥१५॥

अब यहाँ यह शङ्का होती है कि अधिक शीत और उष्णता की प्राप्ति होने पर आत्मा भी दुःख अनुभव करने लगता है। वह पुरुष अधिक दुःख के कारण मर गया, ऐसा भी लोग कहते हैं और मरने पर आत्मा शरीर के साथ-साथ लापता हो जाता है। ऐसी दशा में आत्मा को नित्य और अमृत और शीतोष्ण को आने जाने वाला कैसे माना जाय? इस शङ्का का उत्तर देते हैं—

अनात्म धर्म वाले और विकारी शीतोष्ण की आत्मा में सत्ता वा स्थिति नहीं हैं, इससे सत् वा अविकारी जो आत्मा है इसका अभाव अर्थात् विनाश नहीं होता। यह बात मूढ़ों की कही हुई नहीं है, किन्तु सत् और असत् विचार के सिद्धान्त वा निर्णय के जो जानने वाले तत्वदर्शी हैं, उनकी देखी या जानी हुई है। यथा श्रुतिः—

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।
ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो॥"

अर्थात् हे सोम्य! (शिष्य) इसके (सृष्टि के) आगे एक सत् ही था। वह एक ही सत् ब्रह्म अद्वितीय था। इस सब जगत् का आत्मा वही है। हे श्वेतकेतो! वह सत्य है। वह आत्मा है। तुम्हारी अन्तरात्मा वही है। इससे अर्थात् तत्पद वाच्य ब्रह्म और त्वम्पदवाच्य जीवान्तर्यामी ब्रह्म के अभेद से तुम तदात्मक हो ॥१६॥

निर्णीतार्थमाह—अविनाशि इति। तत्तत्वं त्वविनाशि विनाशाभावशीलं विद्धि। किं तत्? येनात्मवर्गेण सर्वमिदमचेतनं ततं व्याप्तं, व्यापकं सूक्ष्मं व्याप्यं स्थूलं, व्यापकत्वेन सूक्ष्मत्वादव्ययस्यात्मतत्वस्य विनाशं कश्चिदनात्मपदार्थः कर्त्तुं नार्हति न योग्यो भवति।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युद्ध्यस्व भारत! ॥१८॥

नन्वात्मनां विनाशानर्हत्वेन नित्यत्वमुक्तं, तर्हि सर्वेषां मातृपित्रादयो नष्टा इत्यबाधितप्रतीतेः के विषया इत्याशङ्क्याह—अन्तवन्त इति। नित्यस्य शरीरिणः इमे कर्मफलभोगायतनभूताः पञ्चमहाभूतावयवोपचिता देहा अन्तवन्तो विनाशिन उक्ता व्यासादिभिः। तथाहि—

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च। संसारेष्वनुभूतानि याता यास्यन्ति यान्ति च॥
हर्षस्थानसहस्राणि शोकस्थानशतानि च। दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये, जीवो नित्यो हेतुरस्याप्यनित्य॥ इति

हेतु स्थूलसूक्ष्मशरीरम्। शरीरिणो नित्यत्वे हेतुर्गर्भितविशेषणमाह—अनाशिन इति। नाशाभाववतः अतएव नित्यस्य 'अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते। तत्तु नाशी न संदेहो नाशिद्रव्योपपादितमि'ति वैष्णवे जडभरतवाक्यात्। ननु नित्योऽविनाशी चेदात्मा तर्हि देहे नष्टेऽपि तदुपलब्धिः किन्न स्यादित्यशंका निरासाय हेतुर्गर्भितविशेषणमाह—अप्रमेयस्य इति। भगवत्कृपां शास्त्रमन्तरेण प्रत्यक्षादि-

---

अब निर्णीतार्थ कहते हैं। उस तत्त्व को तुम अविनाशी जानो। किस तत्त्व को? जिससे यह सब अचेतन व्याप्त है। क्योंकि जो व्याप्य होता है वह स्थूल और व्यापक सूक्ष्म होता है और इसलिये इस सूक्ष्म, व्यापक, अव्यय आत्मतत्त्व का नाश कोई अनात्म पदार्थ नहीं कर सकता है॥१७॥

विनाश के अयोग्य होने के कारण आत्मा को नित्य कहा गया है, तब अमुक की माता मरी, अमुक का पिता मरा, इन प्रतीतियों का विषय क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

नित्य आत्मा के कर्मफल भोग स्थानस्वरूप और पञ्चमहाभूत से बने हुए शरीर नाशवान हैं। व्यासादि तत्त्वज्ञ महर्षियों ने ऐसा ही कहा है, 'संसार में स्थित हजारों माता-पिता और सैकड़ों स्त्री पुत्र मर गये हैं, मरते हैं और मरेंगे। इस संसार में हर्ष के हजारों स्थान हैं और शोक के भी सैकड़ों स्थान हैं, पर इनसे मूर्खों को मोह होता है, पण्डितों को नहीं। धर्म नित्य है। सुख दुःख अनित्य हैं। जीव नित्य है। इसका हेतु स्थूल सूक्ष्म शरीर अनित्य है।'

आत्मा की नित्यता में हेतुपूर्ण विशेषण जोड़ते हैं। आत्मा अविनाशी है, इसलिये नित्य है। विष्णुपुराण में जड़भरत का वाक्य है:—'पण्डित लोग आत्मा को अनाशी और परमार्थ जानते हैं। नाशवान् द्रव्य से बना हुआ पदार्थ शरीर नाशवान् है, इसमें सन्देह नहीं।' यदि आत्मा अविनाशी है तो शरीर के नाश होने पर दीखता क्यों नहीं? इस शङ्का के उत्तर में यह कहते हैं, कि ऐसा होना सम्भव नहीं। क्योंकि आत्मा अप्रमेय है अर्थात् भगवत् कृपा और शास्त्र का प्रमाण छोड़कर और किसी

प्रमाणैरिदमित्थमिति प्रमातुमशक्यत्वात्। 'एनं विदुर्वैभगवत्प्रसादादि'त्याद्याचार्यपादोक्तेश्च। यद्देहादि इदमित्थमित्युपलभ्यते तन्नाशित्वेनाप्युपलभ्यते, आत्मा न तथा। किन्त्वहं जानाम्यनुभवामीति प्रतीत्या प्रमातृतयैवोपलभ्यते, यस्मादनाशित्वादात्मानो न शोच्याः, नाशित्वादन्तवन्तो देहा अपि न शोच्याः। तस्मान्मोहं विहाय हे भारत ! त्वं युद्ध्यस्व।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

एवमात्मनोऽविनाशित्वे सिद्धे गुरून् हत्वेत्यादिना आत्मनो गुर्वादिहन्तृत्वकल्पनं तेऽज्ञानमेवेत्याह—य इति। यः पुरुषः एनमुक्तविधं शरीरिणं हन्तारं हननक्रियायाः कर्त्तारमयं मम हन्तेति वेत्ति जानाति यश्चान्य एनं हतं हननक्रियायाः कर्मभूतं हतोऽयं मयेति मन्यते तावुभौ न विजानीतः, आत्मस्वरूपानभिज्ञावित्यर्थः। यतो नायं हन्ति न हन्यते, हननक्रियायाः कर्त्ता कर्म वा न भवतीत्यर्थः।

न जायते म्रियते वा कदाचिन् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

हननक्रियायाः कर्त्ता कर्म वाऽयं कुतो न भवतीत्याकांक्षायां जन्मादिषड्विक्रियारहितत्वादित्याह—नेति। अयं पुरुषः न जायते नोत्पद्यते। वा शब्दश्चार्थे। न चायं कदाचिन्म्रियते। तत्कुतो यस्मान्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अयमात्मा पूर्वं भूत्वा पश्चान्न भवितेति। न यो हि अभूत्वा भविता स उत्पद्यते,

---

प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा 'यह ऐसा ही है' ऐसे ज्ञान का विषय नहीं होता। आचार्यपाद श्रीनिम्बार्क भगवान की उक्ति है—'इस आत्मा को भगवान् ही की कृपा से जान सकते हैं।' देह आदि का जो 'इदमित्थम्' (यह ऐसा है) ज्ञान होता है, वह उनके नाशवान् होने के कारण। आत्मा वैसा नहीं है, इसीलिये उसका 'इदमित्थम्' ज्ञान होना असम्भव है। पर 'हम जानते हैं', 'हम अनुभव करते हैं' इन प्रतीतियों से प्रमाता रूप से (अर्थात् ज्ञानाश्रय रूप से) उसका ज्ञान प्राप्त होता है। इसीलिये अविनाशी होने से आत्मा के लिये शोक करना उचित नहीं है और नाशवान् होने से शरीर भी शोक करने के योग्य नहीं। इसलिये हे भारत ! मोह छोड़कर तुम लड़ो ॥१८॥

आत्मा अविनाशी सिद्ध होने पर गुरु आदि का हनन-संकल्प अज्ञानमात्र है। यही यहाँ कहते हैं। जो मनुष्य इस शरीरी अर्थात् आत्मा को मारनेवाला समझता है और जो यह समझता है कि आत्मा मारा गया ये दोनों आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ हैं, क्योंकि आत्मा न मारा जाता है न मरता है, अर्थात् हनन क्रिया का आत्मा न कर्म है न कर्त्ता ॥१९॥

आत्मा हनन क्रिया का कर्त्ता वा कर्म नहीं है, क्योंकि यह षड्विकार शून्य है। इसी को यहाँ दिखाते हैं :—

यह पुरुष कभी उत्पन्न नहीं होता और न कभी यह मरता है। ऐसा क्यों ? कारण कि यह पूर्व में होकर पीछे नहीं होगा ऐसी बात नहीं है। जो पहले नहीं होकर पीछे होता है उसी को उत्पन्न

यश्च प्राग्भूत्वा भूयो न भविता स म्रियते इत्युच्यते। अयं तु प्रागपि सत्वान्नोत्पद्यते। उत्तरकालेऽपि सत्वान्न म्रियते। यतो न जायते अतोऽजो न म्रियतेऽतो नित्यः, इति द्वाभ्यां पदाभ्यां जन्ममरणलक्षणे विक्रिये निरस्ते। अस्तित्वलक्षणविकारवारणायाह—शाश्वत इति। सनातनः प्राकृतवत्सदसत्परिणामशून्यः इत्यर्थः। वृद्धिलक्षणविक्रियावारणाय पुराण इति। पुरापि नव एव। यो हि सावयवः सोऽवयवोपचयाद्वर्द्धते। अयं तु निरवयवो ज्ञानैकस्वरूपत्वान्न वर्द्धते इत्यर्थः। परिशिष्टौ परिणामापक्षयौ जन्ममरणास्तिवृद्ध्यभावादेव निरस्तौ। एवं षड्विकारशून्य आत्मा शरीरे हन्यमाने सति न हन्यते। शरीरमेव हननक्रियायाः कर्मभूतमित्यर्थः।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ! कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

कथं तर्हि 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' इत्यादि निषेधशास्त्रस्य गोघ्नब्रह्मघ्नादेर्नरकादिविधायक शास्त्रस्य च सार्थक्यमित्याशङ्कापरिहारार्थमाह—वेदेति। अविनाशिनं विनाशाभाववन्तमत एव नित्यं यतोऽजमव्ययं जन्मपरिणामादिरहितमेनं प्रतिशरीरभिन्नमात्मानं यः पुरुषो वेद जानाति हे पार्थ! स कथं हन्ति कथं घातयति। बहुष्वेव किं शब्दप्रयोगो लोके शास्त्रे च दृष्टः। तथा च ब्राह्मणादिश्वपचपशुकृम्यन्त शरीरेषु विनाशानर्हस्वभावतया वर्तमानेष्वात्मसु कं कतमं हन्ति हननक्रियायाः कर्त्ता भवति। कं वा घातयति तां

होना कहते हैं, और जो पहले से होकर पीछे नहीं होता है उसे मरना कहते हैं। यह आत्मा पहले भी था इसलिये उत्पन्न नहीं हुआ और पीछे भी रहेगा इसलिये मरता नहीं। जन्म नहीं लेता है इससे अज है। नहीं मरता है इससे नित्य है। इन दोनों शब्दों से आत्मा को दो विकारों से अर्थात् जन्म और मरण से रहित बतलाया। अब तीसरे विकार (अस्तित्व) से भी इसको रहित बताने के लिये कहते हैं कि आत्मा शाश्वत है अर्थात् सनातन है और प्राकृत वस्तुओं के समान सत् और असत् परिणामवाला नहीं है। फिर चौथे विकार (वृद्धि) बढ़ने से शून्य बताने के लिये कहते हैं, कि आत्मा पुराण है, अर्थात् पुराना होने पर भी नया ही है। जो अवयव (भाग) वाला होता है उसी की अवयव के बढ़ने से बृद्धि होती है। आत्मा ज्ञानस्वरूप एवं अवयव हीन है, इसलिए इसकी बृद्धि सम्भव नहीं। और शेष दो विकार परिणाम (अदल बदल) और अपक्षय (नाश) आत्मा में सम्भव नहीं। जिसमें होना और बृद्धि सम्भव नहीं, उसमें ये अदल बदल और नाश ही सम्भव नहीं हो सकते।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि षड्विकार रहित आत्मा का नाश, इस शरीर के नाश होने से नहीं होता। षड्विकारवाला शरीर ही हनन क्रिया का कर्म है ॥२०॥

यदि ऐसी बात है तो (ब्राह्मणो न हन्तव्यः) ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिये इत्यादि निषेध शास्त्र और ब्राह्मण और गौको मारनेवाला नरक में जाता है इस विधायक शास्त्र की सार्थकता कैसे होगी? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि, जो इस प्रति देह में भिन्न आत्मा को जन्म परिणामादि से रहित अतएव अविनाशी और इसीलिये नित्य जानता है, हे अर्जुन! वह कैसे मारता है और किसको

क्रियां प्रति प्रयोजको भवति । न कश्चिदपि इत्यर्थः । एतेन त्वं प्रयोजको भूत्वा घातयसि अहं त्वन्नियुक्तो हन्मीत्यत उभयोः पापं स्यादिति न शंकितव्यमिति ध्वनितम् । एवञ्च ब्राह्मणादिहननिषेधशास्त्रस्य हननजन्यपापफलाभिधायकस्य च उक्तात्मस्वरूपस्वभावयाथात्म्यज्ञानाभाववद्विषयकत्वेन सार्थक्यम् ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

नन्वात्मनामविनाशित्वेन शोकानर्हत्वेऽपि देहानां विनाशित्वात्तद्विनाशनिमित्ते युद्धे प्रियभोगसाधनभूतेषु भीष्मादिप्रियदेहेषु नश्यत्सु तद्वियोगनिमित्तः शोकः स्यादेवेत्याशंकायामाह—वासांसीति । यथा नरो जीर्णानि वस्त्राणि विहायाऽपराणि नवानि गृह्णाति, न तत्त्यागे शोको भवति, प्रत्युत हर्ष एव जायते । तथा देही जीर्णानि शरीराणि विहायाऽन्यानि नवानि शरीराणि संयाति प्राप्नोति । न तस्य पूर्वदेहत्यागे शोको भवति, प्रत्युत हर्ष एवोपजायते । तस्मात्स्वधर्मे युद्धे पूर्वशरीरं त्यक्त्वाऽन्यत्कल्याणतरं शरीरं गृह्णतां भीष्मादीनां हर्षविशेष एवोत्पत्स्यते । अतस्त्वया तदुपकार एव कृतः स्यान्न द्रोहसंभावना कर्त्तव्येति भावः ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

ननु गृहदाहे तदन्तर्वर्त्तिपुरुषदाहवद्देहस्य छेददाहादौ सत्यात्मनोऽपि छेददाहादिः किन्न स्यात्तथात्वेऽविनाशित्वहानिरत्यत आह नैनमिति । सर्वदेहेषु समानरूपमेनमात्मानं शस्त्राग्न्यब्वायवः छेदनदहन-

---

मरवाता है ? अर्थात् तुम ऐसा समझो कि यह आत्मा न किसी को मारता है न किसी को मरवाता है । इससे यह भाव निकलता है कि यह शंका नहीं करनी चाहिये कि हमको मरवाने का और तुमको मारने का पाप लगेगा और ऊपर उल्लेखित ब्राह्मणादि मारने का निषेधशास्त्र उन लोगों में सार्थक अर्थात् लागू होता है, जिन को यह ज्ञान नहीं है कि यह आत्मा उक्त अविनाशी आदि स्वभाववाला है ॥२१॥

माना कि आत्मा अविनाशी होने से शोक करने के योग्य नहीं है, पर शरीर तो विनाशी है उसके लिए तो शोक होगा ही । हमारे भाई बान्धवों के शरीर का इस युद्ध में नाश होगा इससे उनके, प्रिय भोगों के भोगने का साधन, शरीर के वियोग के लिये दुःख तो होगा ही । अर्जुन की इस शङ्का का उत्तर भगवान् देते हैं :—

जैसे मनुष्य पुराने फटे वस्त्रों को छोड़कर दूसरे नये वस्त्रों को धारण करता है और पुराने वस्त्रत्याग के लिए शोक नहीं करता, वरंच खुशी मानता है, वैसे ही देही अर्थात् जीव पुराने शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण करता है । उसको पूर्व देह त्याग के लिए दुःख नहीं होता, वरंच खुशी ही होती है । इसलिए भीष्मादि तुम्हारे भाई बान्धव इस स्वधर्म युद्ध में अपने पुराने शरीरों को छोड़ दूसरे अधिक कल्याणकर शरीरों को धारण कर खुशी मानेंगे, दुःख नहीं । इसलिए तुम उनका उपकार ही करोगे और तुम्हें उनके द्रोह की सम्भावना नहीं करनी चाहिये ॥२२॥

क्लेदन शोषणात्मकक्रियाफलाश्रयं न कुर्वन्ति, छेदनदहनक्लेदनादिना विनाशयितुं न शक्नुवन्तीत्यर्थः। एकेनापि प्रसज्यात्मकनञोक्तार्थसिद्धौ तस्य चतुःकृत्व उपादानमुक्तार्थदार्ढ्यायार्जुनस्य हृदि मन्दीभूयापि शंका न तिष्ठेदित्येतदर्थम्।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

शस्त्रादिजन्यतन्नाशानर्हत्वे हेतूनाह—अच्छेद्य इति। यतोऽच्छेद्योऽयं तस्मादेनं शस्त्राणि न छिन्दन्ति। एवमेवाशोष्यन्तानि विशेषणानि हेतुरूपविशेषणानि योज्यानि। अच्छेद्यत्वादिष्वपि हेतुमाह—नित्य इति। अनित्यश्छेद्यदाह्यादिरूपो भवति, नो नित्यः। नित्यत्वेऽपि हेतुः—सर्वगत इति। सर्वगतत्व-व्यापन स्वभावोऽतिसूक्ष्म इत्यर्थः। नहि व्यापनशीलमतिसूक्ष्मं वस्तु शस्त्राग्न्यादिभिश्छेद्यदाह्यादि कर्त्तुं शक्यते। यतोऽछेद्योऽदाह्यश्च तत एव स्थाणुः स्थिरस्वभावः स्वरूपान्यथाभावरहितः। स्थाणुत्वादक्लेद्यः अद्भिरार्द्रीकृत्य स्वरूपाच्च्यावयितुमशक्यः। स्थाणुत्वादेवाचलः अप्रकम्प्यः। अचलत्वादशोष्यो वायुना शोषयितुमशक्यः। तस्मादुक्तेभ्यो हेतुभ्यः सनातनः, नित्यस्वरूप इत्यर्थः।

घर जलने पर उसके भीतर के मनुष्य जल जाते हैं उसी प्रकार शरीर नष्ट हो जाने से उसके भीतर का आत्मा क्या नष्ट नहीं हो जा सकता है ? इस शङ्का का उत्तर यहाँ देते हैं :—

सब देहों में समानरूप से वर्त्तमान इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते। आग भी इसको नहीं जला सकती, जल भी इसे नहीं भिगो सकता और वायु इसे नहीं सुखा सकता। इसलिए इसके अविनाशित्व की हानि नहीं हो सकती। जिसमें अर्जुन के हृदय में शङ्का न रह जाय इसलिए भगवान् ने इस श्लोक में चार बार नकार का प्रयोग किया है ॥२३॥

शस्त्रादि से आत्मा का नाश क्यों नहीं होता इसका कारण बताते हैं—यह आत्मा काटने योग्य जहीं है इसलिये शस्त्र इसको काट नहीं सकता। यह आत्मा जलाने योग्य नहीं है इसलिए आग इसे जला नहीं सकती। यह आत्मा भिगोने योग्य नहीं है इसलिए पानी इसे भिगो नहीं सकता। यह आत्मा सुखाने योग्य नहीं है इसलिये वायु इसको सुखा नहीं सकता।

आत्मा में ऊपर लिखित शस्त्रादिकों से नाशादि की अयोग्यता इसलिए है कि यह नित्य है और नित्य इसलिए है कि यह सर्वगत नाम व्यापन स्वभाव वाला है, इसलिए बहुत सूक्ष्म है और व्यापनशील अतिसूक्ष्म होने से शस्त्र, अग्नि, जल, वायु का इस पर प्रभाव नहीं पड़ता। अच्छेद्य और अदाह्य होने से आत्मा स्थाणु अर्थात् स्थिर स्वरूपवाला है, इसके स्वरूप में हेर फेर नहीं होता। स्थिर स्वभाववाला होने से जल इसको भिगोकर बदल नहीं सकता और यह हिलाया डुलाया भी नहीं जा सकता, अर्थात् अचल है। अचल होने से वायु इसको सुखा नहीं सकता क्योंकि यह अपने पूर्व रूप से चलायमान नहीं होता। भाव कि इन ऊपर कहे कारणों से आत्मा सनातन और नित्य स्वरूप है ॥२४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

किञ्चान्योऽप्यशोच्यत्वे हेतुरित्याह अव्यक्त इति । छेद्यादिद्रव्याणि यथा यैः प्रमाणैर्व्यज्यन्ते तथा तैः प्रमाणैरयमात्मा न व्यज्यतेऽतोऽव्यक्तः । तथा स्वेतरसमस्तवस्तुस्वरूपस्वभावौपम्येन चिन्तयितुमर्हतेऽतोऽचिन्त्यः, अत एवाविकार्यः । दध्यादिवद्विकारशून्य उच्यते तस्मादेवमुक्तस्वरूपस्वभावमेनमात्मानं विदित्वा त्वं शोचितुं नार्हसि ।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथाऽपि त्वं महाबाहो ! नैनं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

एवं वैदिकमतानुकूल्येन भगवता प्रत्यगात्मनोऽशोच्यत्वमुपपाद्येदानीं देहातिरिक्तो देहतुल्यपरिमाणक आत्मा देहेन सह जायते म्रियते चेति दिगम्बरमतांगीकारेऽपि तस्याशोच्यतोच्यते—अथ चेति । अथेति पक्षान्तरे मदुक्तमतेतरमताभ्युगमपक्षेऽपि नित्यजातं नित्यं वा मृतमेनमात्मानं त्वं मन्यसे तथापि हे महाबाहो ! नैवं शोचितुमर्हसि ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्ममृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

कुतस्तत्राह—जातस्येति । उत्पन्नस्य विनाशोऽवश्यम्भावी तच्छरीरारम्भकर्मणां नियतकालस्थायित्वनियमात् । मृतस्य च पूर्वदेहकृतस्योत्तरदेहसंबंधहेतुकर्मणो विद्यमानत्वाज्जन्माप्यवर्जनीयं,

---

आत्मा अशोच्य है इसमें और कारण बतलाते हैं। आत्मा अव्यक्त है अर्थात् जिन प्रमाणों द्वारा काटी और जलाई जानेवाली वस्तु प्रकट की जाती है, उन प्रमाणों द्वारा आत्मा प्रकट नहीं किया जा सकता इससे अव्यक्त कहा जाता है। आत्मा अचिन्त्य है अर्थात् उससे पृथक् वस्तु द्वारा उसके स्वरूप और स्वभाव की उपमा देकर हम लोग उसको नहीं समझ सकते। आत्मा इसलिए सर्वथा विकारहीन है। दूध का विकार जैसे दही हो जाता है, वैसे आत्मा का किसी प्रकार का विकार नहीं हो सकता। इन कारणों से आत्मा को पीछे कहे हुए स्वरूप और स्वभाववाला जानकर, हे अर्जुन ! तुमको उसके लिए शोक नहीं करना चाहिए ॥२५॥

वैदिकमतानुकूल आत्मा शोच करने योग्य नहीं है, यह प्रतिपादन करके अब भगवान यह कहते हैं कि दिगम्बर मत अङ्गीकार करने पर भी, (जिस मत में आत्मा देह से पृथक् होने पर भी देह के समान परिणामवाला है और देह के साथ ही नित्य जन्मता और मरता है,) आत्मा शोच करने लायक नहीं है। हे अर्जुन ! पक्षान्तर में यदि मेरे मत से दूसरे मत को भी स्वीकार कर आत्मा को नित्य जन्मने और मरनेवाला मानो तब भी आत्मा के लिए तुमको शोच करना योग्य नहीं है ॥२६॥

जो उत्पन्न हुआ है उसका नाश अवश्य होगा क्योंकि ऐसा नियम है कि शरीर को आरम्भ करनेवाले प्रारब्धादि कर्म नियत ही काल तक अर्थात् उनके भोग के समय तक ही स्थित रहते हैं।

हेतुसत्वे कार्योत्पत्तेः सम्भवात् । यस्मादेवं तस्मादपरिहार्येऽर्थे तत्तत्कर्माधीनावर्जनीयजन्ममरणपदार्थे त्वं शोचितुं नार्हसि ।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत !
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

देहवियोगयोगयोरवर्जनीयत्वेऽपि अस्मदनुभूतभीष्मादिदेहेषु नश्यत्सु एतान्कथं पुनर्द्रक्ष्यामः, क्व गमिष्यन्तीति शोककारणमस्तीत्याह—अव्यक्तादीनि इति । अव्यक्तं त्रिगुणात्मकं प्रधानं मायादिरुत्पत्तेः पूर्वं स्वरूपं येषां तान्यव्यक्तादीनि भूतानि चेतनाधेयभूतशरीराणि सद्रूपकारणद्रव्यात्मना स्थितान्यपि अतिसूक्ष्मत्वादुपलब्धुमयोग्यानि, न तु तार्किकाभिमतप्रागभावरूपाणि ततो व्यक्तमभिव्यक्तमवस्थान्तरापत्तिलक्षणं जन्मैव मध्ये येषां तथा तानि । सदेव कारणद्रव्यमवस्थान्तरापत्त्या कार्यव्यक्तादिशब्दाभिधेयं प्रत्यक्ष शास्त्राभ्यां गृह्यते । अतो मध्येऽवस्थान्तरापन्नान्यपि कारणाभिन्नान्येव । 'सदेवसोम्येदमग्र आसीत्' इति श्रुतेः 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः, भावे चोपलब्धेः, सत्त्वाच्चावरस्ये'त्यादिसूत्रेभ्यश्च । ननु 'असदेवेदमग्र आसीत् ततः सदजायते'ति श्रुतेः कार्यस्योत्पत्तेरसत्पूर्वकत्वोक्तेस्तदनन्यत्वे चासदेवेदं जगदिति चेन्न, एतच्छ्रुतिस्थासच्छब्दार्थस्य सूत्रकारेणैव निर्णीतत्वात् 'असद्व्यपदेशादिति चेन्न,

---

और जो मर गया उसका भी जन्म अनिवार्य ही है क्योंकि पूर्व देह से कृत कर्म उत्तर देह से सम्बन्ध करानेवाले होते हैं, कारण कि हेतु के रहने पर उसके कार्य की उत्पत्ति होती ही है । इस लिए यदि कर्म के अधीन होने से जन्म और मरण ये दोनों अनिवार्य (कभी नहीं मिटनेवाले) हैं तो उसके लिए शोच नहीं करना चाहिए ॥२७॥

देह का योग और वियोग अनिवार्य होने पर भी हम लोगों से अनुभूत भीष्म आदि के ये शरीर नष्ट हो जाएँगे और उनको हम फिर से देख नहीं सकेंगे । वे लापता हो जाएँगे । इन सबका दुःख तो अवश्य होगा ही । इसी का उत्तर यहाँ देते हैं—

भीष्मादि के चेतन का आधेय शरीर इस जन्म के पूर्व अव्यक्त था अर्थात् सत् रूप कारण द्रव्य में स्थित भी इतना सूक्ष्म था कि उसकी उपलब्धि या प्राप्ति नहीं हो सकती थी । यह बात नहीं थी कि वह था ही नहीं, जैसा कि तार्किकों का मत है । वह था जरूर, पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से अपने सत् रूप कारण (प्रकृति) में स्थित था । फिर यह शरीर बीच में जन्म होने पर व्यक्त अर्थात् प्रकट हुआ । अवस्थान्तर का प्राप्त होना (सूक्ष्म से स्थूल होना) ही उसका जन्म या प्रकट होना है । कारण द्रव्य जो सत्य है उसी का अवस्थान्तर होने से कार्य ऐसा नाम पड़ जाता है अर्थात् कार्य और कारण में अभिन्नता है । इसमें शास्त्र और प्रत्यक्ष दोनों भाँति के प्रमाण हैं । श्रुति कहती है—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" अर्थात् हे शिष्य ! इस सृष्टि से आगे सत् ही था । फिर व्यास के सूत्र हैं—"तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः, भावे चोपलब्धेः, सत्त्वाच्चावरस्य ।" (इन सभी का अर्थ श्री श्रीनिवासाचार्यकृत वेदान्त कौस्तुभ भाष्य में देखिए ।) इनका भावार्थ यह है कि कार्य कारण में सदा अनन्यत्व है । कारण

धर्मान्तरेण वाक्य शेषात्, पटवच्चे'ति सूत्राभ्याम् । अन्यथा तत्रैव वाक्यशेषे 'कथमसतः सज्जायेते'ति श्रुतिविरोधात् । असत उत्पत्यंगीकारे तिलेभ्य इव सिकताभ्योऽपि तैलोत्पत्ति स्यान्न च सा दृष्टा श्रुता वा । तस्मात्सत एव सूक्ष्मद्रव्यस्य स्थूलावस्थापत्तिः कार्यत्वेनाभिधीयते इति दिक् । यदुपादानकं वस्तु तस्य तत्रैव लयो नान्यत्रेत्याह—अव्यक्तनिधनान्येवेति । अव्यक्ते प्रधाने एव निधनं प्राणवियोगानन्तरावस्थानम् येषां तानि घटकुण्डलादेर्मृत्सुवर्णादिस्वरूपापत्तिवत् । तत्रैवम्भूतेषु देहेषु नश्यत्सु का परिदेवना कः शोकनिमित्तो विलापः । बुद्धिमतो न युज्यत इत्यर्थः ।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

स्यादेतद्देहानामचित्प्रधानपरिणामत्वादन्ते तत्रैव लयसम्भवान्न पुनस्तद्दर्शनादीति, आत्मा त्वपरिणामिस्वभावतया नित्यो ध्रुवश्चोक्तस्ततो देहवैलक्षण्येन दर्शनादियोग्यो भवेदित्याकांक्षायां दुर्बोध

से ही कार्य की प्राप्ति होती है और कारण में कार्य सूक्ष्मरूप से रहता है अतः कार्य भी सत् है। पर इसमें शङ्का यह हो सकती है कि "असदेवेदमग्र आसीत्ततःसदजायत" अर्थात् प्रारम्भ में यह असत् ही था उसी से सत् की उत्पत्ति हुई और जब कारण ही असत् ठहरा और कार्य कारण में अनन्यत्व सम्बन्ध है तो यह जगत् भी असत् ही है। पर ऐसी शंका करना भूल है, क्योंकि इस श्रुति में जो असत् शब्द व्यवहार हुआ है उसके अर्थ का निर्णय स्वयं सूत्रकार ने ही कर दिया है। वे कहते हैं—"असद्व्यपदेशादिति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्, पटवच्च" अर्थात् ऊपर उल्लेखित श्रुति से यह नहीं समझना चाहिए कि कारण असत् है किन्तु इस असत् कहनेवाली श्रुति में केवल धर्मान्तर कहा गया है। नहीं तो वहाँ पर ही वाक्य शेष में कहा है कि "कथमसतः सज्जायेत" अर्थात् असत् से सत् कैसे पैदा हो सकता है? फिर भी यदि असत् से सत् का होना माना जाय तो तिल से तेल निकालने की क्या आवश्यकता है, बालू ही से तेल और जल मथकर घी निकाल लेना चाहिए। किन्तु यह कहीं देखा सुना नहीं जाता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण हुआ इन सबसे स्पष्ट सिद्ध हुआ कि सूक्ष्मरूप से जो द्रव्य कारण में स्थित है उसी का स्थूल होकर दृष्टिगोचर होने को कार्य कहते हैं।

जो वस्तु जहाँ से निकलती है उसका लय भी वहीं होता है इसलिए कहते हैं कि इस शरीर का अन्त अव्यक्त अर्थात् प्रधान में ही होता है। जैसे घड़ा फूटने पर मिट्टी में मिल जाता है और कुण्डल टूटने पर स्वर्ण ही हो जाता है, वैसे ही अव्यक्त माया व प्रधान से निकला हुआ शरीर फिर उसी में लीन हो जाता है। तब ऐसे शरीर के नाश के लिए शोक करना बुद्धिमानों का काम नहीं है ॥२८॥

शरीर मायापरिणामी होने के कारण माया में ही उसका लय हो जाता है। इसलिए मृत्यु के बाद उसका देखा जाना असम्भव है। पर आत्मा देह से विलक्षण है और परिणामी स्वभाववाला नहीं होने से नित्य और ध्रुव है इसलिये उसका देखा जाना सम्भव होना चाहिए। इसका उत्तर यहाँ देते हैं।

आत्मेत्याह—आश्चर्यवदिति। सहस्रेषुमध्ये कश्चिद्भगवदाराधनलब्धतत्प्रसादनिवृत्तदेहाद्यभिनिवेश एनं देहिनं पश्यति, शास्त्रसंस्कृतबुद्धावनुभवति। कथमाश्चर्यवत् पूर्वानुभूतसर्ववस्तुविजातीयत्वादद्भुतमिव, न तु लौकिकवस्तुसाधारणतया न केवलमनुभवितुस्तदाश्चर्यवत्त्वमपि तु तद्वक्तुरपीत्याह-आश्चर्यवदिति। तथैव कश्चिदेवान्यस्तदुपदेष्टा गुरुरपि शिष्यायाश्चर्यवद्वदति, न तु केनचिद्दृष्टवस्तुनोपमातुं शक्नोति। तथैवान्य आश्चर्यवदेनं शृणोति। कश्चिदेनं श्रुत्वाऽपि न च नैव वेद। तस्माद्द्रष्टा श्रोता वक्ता चास्य दुर्लभ इति भावः।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत !
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

एनमित्येकवचनेनात्मैक्यभ्रमं मा कार्षीरिति वदन्नात्मोपदेशमुपसंहरति-देहीति। हे भारत ! सर्वस्य देवतिर्यग् कीटादिप्राणिमात्रस्य देहे वध्यमानेऽप्ययमुक्तविधो देही कर्मफलभोगायतनभूतं देहं प्रति भिन्नस्वरूपेणाश्रयीभूतोऽवध्यः, हन्तुमशक्यः। यस्मादेवं तस्मात्सर्वाणि भूतानि आत्माश्रितशरीराणि त्वं शोचितुं नार्हसि।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

सहस्त्रों मनुष्यों में कोई एक जिसका देहादि में अभिनिवेश भगवदाराधना से प्राप्त भगवत्-कृपा से छूट गया है, आत्मा को देखता है, अर्थात् शास्त्र से पवित्र की हुई बुद्धि से उसका अनुभव करता है, यह मनुष्य आत्मा को आश्चर्य पदार्थ के ऐसा देखता है अर्थात् जितनी भी वस्तुएँ उसने पूर्व में देखी या अनुभव की हैं उन सबसे आत्मा विलक्षण जान पड़ता है। केवल अनुभव ही करनेवाला आत्मा को आश्चर्य के ऐसा देखता है सो नहीं। आत्मस्वरूप का कहनेवाला या उसकी अपने शिष्य को शिक्षा देनेवाला गुरु भी उसको आश्चर्य पदार्थ के ऐसा ही कहता है अर्थात् किसी दृष्ट या अनुभूत पदार्थ से उपमा देकर उसका वर्णन नहीं कर सकता। इसी प्रकार श्रोता भी आश्चर्य पदार्थ के ही ऐसा सुनता है अर्थात् आत्मा के विषय में सुननेवालों को भी यही मालुम होता है कि ऐसी बात को कभी नहीं सुना। कोई आत्मा के विषय में सुनकर भी इसको नहीं जानता। कहने का तात्पर्य यह कि आत्म-स्वरूप के देखने, कहने और सुननेवाले बहुत दुर्लभ हैं ॥२९॥

पूर्व श्लोक में (एनं) शब्द आत्मा के लिए व्यवहृत हुआ है। यह एक वचन है। इससे यह भ्रम हो सकता है कि आत्मा एक ही है। उसी भ्रम को हटाते हुए आत्मा के विषय में भगवान् उपदेश करते हैं।

हे अर्जुन ! सब (देव, तिर्यक्, कीट इत्यादि) के नाश होने योग्य शरीर में आत्मा नित्य और अवध्य है, क्योंकि कर्मफल भोग के स्थानस्वरूप शरीर से यह भिन्न है। इसलिए कोई इसको मार नहीं सकता। इससे आत्माश्रित शरीरों के लिए दुःख करना तुझको योग्य नहीं हैं ॥३०॥

एतावताऽऽत्मनोऽशोच्यत्वमुपपाद्य 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' इति यदर्जुनेनोक्तं तस्योत्तरमाह—स्वधर्ममिति। न केवलमात्मतत्त्वमेवावेक्ष्य किन्तु स्वधर्म-क्षत्रियधर्ममपि चावेक्ष्य शास्त्रेण निश्चित्य त्वं विकम्पितुं विचलितुं धर्मादधर्मभ्रान्त्या निवर्त्तितुं नार्हसि। कोऽसौ धर्म इत्यपेक्षायामाह—धर्म्यादिति। धर्मादनपेतं धर्म्यं तस्मात् युद्धादन्यत् क्षत्रियस्य श्रेयो न विद्यते। शास्त्रे इति शेषः। तथोक्तं याज्ञवल्क्यन—'पदानि क्रतुतुल्यानि भग्नेष्वनिवर्त्तिनामिति' एतेन 'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण! युयुत्सुं समुपस्थितमि'त्यारभ्य 'वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायत' इति मध्ये 'न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मन' इत्यन्तं स्वधर्मप्रतिकूलं ते वचनमनुचितमिति भावः।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ! लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

स्वश्रेयो महता यत्नेन प्राप्यते, इदं तु तवायत्नतः प्राप्तमित्याह-यदृच्छयेति यदृच्छया स्वप्रयत्नं विनैवोपपन्नमुपस्थितमीदृशं पौरुषविशेषविशिष्टवीरपुरुषप्रतियोद्धृनिष्ठमैहिकामुष्मिकेष्टकीर्तिलाभकरं युद्धं सुखिनः सुखार्हाः क्षत्रियाः लभन्ते। ननु युद्धे मृतश्चेत् तस्य किं सुखं स्यादित्यत्राह-स्वर्गद्वारमिति। अप्रतिरुद्धं स्वर्गस्य द्वारभूतं, तत्—

य आहवेषु युद्ध्यन्ते भूम्यर्थमपराङ्मुखाः।
अकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा॥
—इति वचनात्।

आत्मा शोक करने योग्य नहीं है, यह प्रतिपादन कर अर्जुन ने जो पूछा था कि जो हमारे लिए सर्व श्रेय हो उसे निश्चय करके कहिए, उसका उत्तर भगवान देते हैं—

आत्मतत्त्व के विचार से ही नहीं, बल्कि धर्म के विचार से भी अर्थात् शास्त्रोक्त अपने (क्षत्रिय) धर्म का भी विचार कर तुमको धर्म में अधर्म की भ्रान्ति मान उससे हटना नहीं चाहिए। क्षत्रियों के लिए धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर कल्याणकारी वस्तु शास्त्र में नहीं है। याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं—"पदानि भग्नेष्वनिवर्त्तिनाम्" अर्थात् लड़ाई से जो विमुख नहीं होते हैं, उनका प्रत्येक पद यज्ञ के समान पवित्र है। इसलिए अपने धर्म के प्रतिकूल "दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण" से आरम्भ कर "न च शक्नोम्यवस्थातुं" तक, जो तुम पीछे वाक्य बोले हो, वह तुम्हारे योग्य नहीं है ॥३१॥

अपने कल्याण को ढूँढ़ने में लोग कितना परिश्रम करते हैं और तुम्हारे पास तुम्हारा कल्याण आप से आप आ गया है। इसी को दिखाते हैं—

हे पार्थ बिना प्रयत्न के अपनी इच्छा से आया हुआ ऐसा युद्ध, जिसमें तुम बड़े पराक्रमशाली वीरों से लड़कर अपनी कीर्ति इस लोक तथा परलोक में फैला सकते हो, भाग्यवान क्षत्रियों को ही मिलता है। यदि यह पूछो कि हम लड़ाई में मारे गए तो कौन फल होगा? मारे जाओगे तो तुम्हारे लिए स्वर्ग का द्वार खुल जाएगा क्योंकि शास्त्र का यह वचन है कि—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्त्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

यदुक्तं 'एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन। अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते। कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन। इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन। इति तस्योत्तरमाह—अथ चेदिति। अथ पक्षान्तरे ऐहिकामुष्मिकसुखलाभानपेक्षया चेद्यदि धर्म्यं धर्मादनपेतं 'निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेदि'ति शास्त्रविहितमिमं संग्रामं त्वं न करिष्यसि ततः संग्रामाकरणात्स्वधर्मं स्वधर्मजन्यं निरतिशयसुखं देवसममहावीरपुरुषविजयागामिनीं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

संग्रामत्यागे न केवलं भाविस्वधर्मकीर्त्तिहानिमात्रमपि तु महान्दोषः स्यादित्याह—अकीर्तिमिति। क्षत्रियहर्षकरे संग्रामे प्राप्ते पाण्डुपुत्रो गाण्डीवधन्वाऽर्जुनः कातरो भूत्वा पलायित इत्यव्ययां बहुजनदृष्टश्रुतपरम्परया सर्वदेशव्यापिनीं पुनरविनाशिनीं तेऽकीर्त्तिं न केवलं क्षत्रियाः कथयिष्यन्ति किन्तु

य आहवेषु युद्धयन्ते भूम्यर्थमपराङ्मुखाः ।
अकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा ॥

अर्थात् जो भूमि के लिए बिना पीठ दिखाए हुए सामने लड़ते हैं और शस्त्रों से मारे जाते हैं वे योगियों के समान स्वर्ग में चले जाते हैं ॥३२॥

पीछे अर्जुन ने जो कहा कि तीनों लोक के राज्य के लिए और इनसे मारे जाने पर भी मैं इन लोगों को नहीं मारूँगा पृथ्वी के राज्य के लिए मारना तो दूर की बात है। और मैं दादा और गुरु को बाणों से कैसे मारूँगा, उसका उत्तर भगवान देते हैं—

यदि सांसारिक और पारलौकिक लाभों की उपेक्षा कर तुम शास्त्रविहित धर्मयुक्त युद्ध को नहीं करोगे तो अति सुख देनेवाले शास्त्र में कहे हुए—"निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्" अर्थात् शत्रु की सेना को जीतकर पृथ्वी को धर्म से पाले, इस अपने क्षत्रियधर्म और स्वधर्मजन्य श्रेष्ठ सुख एवं देव सरीखे वीरों की जय से प्राप्त कीर्त्ति को नाशकर पाप कमाओगे ॥३३॥

युद्ध से हटने से केवल तुम्हारी भविष्यत् में ही धर्म और कीर्त्ति की हानि होगी सो नहीं। इस समय भी तुम्हारा बड़ा अपकार होगा और तुमको बड़ा दोष होगा। यही कहते हैं—

क्षत्रिय को आनन्द देनेवाले युद्ध को प्राप्त कर वीर पाण्डु का पुत्र, गाण्डीव धनुष का धारण करनेवाला अर्जुन कातर होकर और डरकर रणक्षेत्र से भाग गया, ऐसी तुम्हारी अक्षय अकीर्त्ति सदा के लिए सारे संसार में फैल जाएगी। केवल क्षत्रिय लोग ही नहीं, किन्तु देव, ऋषि, क्षत्रिय, वैश्य,

देवर्षिक्षत्रियवणिग्शूद्रान्तान्ति सर्वाणि भूतानि कथयिष्यन्ति । ननु युद्धे मरणसन्देहान्मरणादकीर्त्तिर्नाधिके त्यतः सा सोढव्या, न तु मरणोपायं कुर्यात् । तथोक्तं शान्तिपर्वणि—

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरुत चापृथक् ।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न तु युद्धेत् कदाचन ॥
अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः ।
पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेदि'ति ॥

तस्मान्मरणादकीर्त्तिः किमधिकं दुःखमित्यत आह—सम्भावितस्येति । खाण्डवे इन्द्रेणापि अनिवार्यो वासुदेवसखाऽग्नितर्पणाद्यतुल्यपराक्रमैरन्यदुर्लभैर्गुणैर्बहुमतस्याकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते । अधिका भवति ।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

ननु नाहं युद्धात्कातरतया भीतो निवर्त्ते । किन्तु बन्धुस्नेहकारुण्यादतोऽकीर्तिनिमित्ताभावात्कथं मेऽकीर्तिं कथयिष्यन्तीति चेत्तत्राह-भयादिति । युद्धोद्योगात्पूर्वमेव नाहं युद्धं करिष्यामीति व्यवसाये-

---

शूद्र इत्यादि सभी तुम्हारी अकीर्ति की बात कहेंगे । और यदि यह समझ बैठे हो कि युद्ध में मारे जाने से अकीर्त्ति अधिक दुःखद न होगी इसलिए उसी को सह लेंगे, मरने का उपाय क्यों करें । महाभारत के शान्तिपर्व में भी युद्ध के खण्डन में ऐसा लिखा है—

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरुत चापृथक् ।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न तु युद्धेत् कदाचन ॥
अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः ।
पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥

अर्थात् साम, दाम, भेद से या इनमें से कोई एक से शत्रु को जीतने की कोशिश करे । लड़नेवालों का जय पराजय दोनों अनित्य हैं, इसलिए युद्ध को छोड़ देना चाहिए । पर ऐसा समझना तुम्हारी भूल है क्योंकि सम्मानित पुरुषों की अकीर्त्ति मरने से भी अधिकतर दुःखद है और तुम जो खाण्डव वन के दहन में इन्द्र से भी अनिवार्य और अग्नि को तप्त करनेवाले हो, हमारे सखा हो, और और भी अतुल पराक्रम इत्यादि दुर्लभ गुणों से युक्त हो, अतः सभी लोग तुमको अति सम्मान की दृष्टि से देखते हैं और इसलिए तुम्हारी अकीर्त्ति मरने से भी अधिक दुःखदायी होगी ॥३४॥

यदि अर्जुन ऐसा उत्तर दे कि मैं भय से तो कातर होकर लड़ाई से मुँह नहीं मोड़ता हूँ । किन्तु बन्धु-स्नेह के वश करुणा उत्पन्न होने से नहीं लड़ता हूँ । इसमें अकीर्ति होने का कोई कारण नहीं है, तो भगवान कहते हैं—

नानुद्युक्तश्चेत्तर्ह्येवं सर्वे मन्येरन्, पूर्वन्तु गराग्निदानकपटद्यूतसर्वस्वाहरणवननिर्यापणादिबह्वपकारिधार्तराष्ट्रवधेच्छुः परशुरामाद्यजेयभीष्मादिभयात्तदधिकविद्यालाभाय तपःकरणगिरीशतोषणस्वर्गप्रयाणाद्यद्भुतकर्म कृत्वा सर्वान्विधिष्यामीति प्रतिज्ञापूर्वकं युद्धार्थमागत्य बहुशस्त्रास्त्रशौर्यतेजःपराक्रमैर्येषां त्वं बहुमतोऽर्जुनेन युद्धं भविष्यतीति हर्षेणागतास्ते महारथाः इदानीमुभयोः सेनयोर्मध्ये रथं मे स्थापयेति मां प्रेर्य्य रथे स्थित्वा सम्प्रतिन्यस्तशस्त्रमश्रुव्याप्ताक्षं त्वां दृष्ट्वा भयाद्रणाद्युपरतं मंस्यन्ते। नहि भयं विना क्षत्रियाणां युद्धादुपरामः संभवतीति भावः। तस्माद्युद्धादुपरतो भीष्मद्रोणकर्णादिभ्यो लाघवं यास्यसि।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

न केवलं लाघवमात्रमपि त्वन्यदपि दुःखमित्याह—अवाच्येति। दुर्बलहृदयः पार्थोऽस्मच्छरैः कथमयं योद्धुं शक्नुयात्। भीष्मादिभ्योऽन्यत्रैव यस्य सामर्थ्यमतोऽस्मत्सन्निधौ स्थातुमपि न समर्थ इति तव सामर्थ्यं निन्दन्तस्तवाहिताः कर्णदुर्योधनादयो राज्ञामग्रे बहूनवाच्यवादान् वदिष्यन्ति।

हे अर्जुन ! चाहे तुम युद्ध से हटो किसी कारण से, किन्तु महारथ लोग यही समझेंगे कि हम लोगों के भय से ही अर्जुन भाग गया, क्योंकि यदि तुम युद्ध के उद्योग करने के पूर्व ही निश्चयपूर्वक कह देते कि मैं नहीं लड़ूंगा, तब जो तुम कहते या समझते हो वे लोग सभी मान लेते, पर अब तो वह रही नहीं। अग्नि से तुमको जलाने के इच्छुक, कपटजुए से तुम्हारे सर्वस्व के अपहरणकारी तुमको वन में निर्वासन कर और भी तुम्हारा भाँति-भाँति से अपकार करनेवाले धृतराष्ट्रपुत्रों के वध की इच्छा से, परशुराम इत्यादि से अजेय भीष्मादि के भय से उनसे अधिक विद्या सीखने के निमित्त तुमने तप किया, शिव को प्रसन्न किया, स्वर्ग में गए और ऐसे ही ऐसे अद्भुत कर्म किए, फिर सबको मैं मारूँगा ऐसी प्रतिज्ञा कर लड़ाई में आए, बहुत से अस्त्र-शस्त्र, शूरता, तेज और पराक्रमों के कारण जो तुमको सम्मान की नजर से देखते हैं, वे महारथ तुम ही से युद्ध करने का आनन्द लूटने के लिए यहाँ आए; तुमने मुझसे अपना रथ दोनों सेनाओं के बीच खड़ा करवाया, और यह सब कर-धर के अब जब शस्त्र फेंक आँख में आँसू ला रहे हो तो महारथ लोग क्या समझेंगे ? वे जरूर यही समझेंगे कि हम लोगों के डर से अर्जुन की यह दशा हो रही है। क्योंकि भय के बिना और किसी कारण से क्षत्रिय लड़ाई से हट नहीं सकता, इस प्रकार युद्ध से हटने पर भीष्म कर्णादिकों की दृष्टि में तुम तुच्छ हो जाओगे ॥३५॥

केवल लघुता को प्राप्त होगे यही नहीं बल्कि और भी दुःख होगा, सुनो ! दुर्बल हृदय अर्जुन हम लोगों के बाणों के सामने कैसे ठहर सकता ? उसकी सामर्थ्य भीष्म आदि से दूसरी ही जगह चल सकती है, इसलिए हम लोगों के सामने से भाग गया। इस प्रकार से तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए दुर्योधन, कर्ण इत्यादि जो तुम्हारे शत्रु हैं, वे और और राजाओं के सामने तुमको बहुत गालियाँ सुनावेंगे। इससे बढ़कर और दुःख क्या होगा, अर्थात् कुछ नहीं ॥३६॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय ! युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

अतः सामर्थ्यवतो वीरस्योभयलोकरक्षणाय परैर्युद्धकरणमेव श्रेय इत्याह—हत इति । धर्मयुद्धे शत्रुभिर्हतश्चेत्स्वर्गं प्राप्स्यसि ताञ्च जित्वा वा महीं भोक्ष्यसे, एतेन 'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुरि'ति संशयो निरस्तः । यत उभयथाऽपि लाभ एव । तस्माद्युद्धाय युद्धं कर्तुं कृतनिश्चयः सन्नुत्तिष्ठ ।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

यदुक्तं 'पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिन'इति तस्योत्तरमाह—सुखदुःखेति । यद्यपि स्वधर्मभूतयुद्धे शस्त्रपातादिनिमित्ते सुखदुःखे अवर्जनीये तथापि देहस्यैव ते, नोक्तस्वभावस्य देहविलक्षणस्यात्मन इति मत्वा, ते समे कृत्वा तद्धेतुभूतौ लाभालाभौ जयाजयौ च समौ कृत्वा स्वर्गादिफलेऽभिसन्धिरहितः सन् युद्धाय युज्यस्व । केवलं स्वधर्मानुष्ठानबुद्ध्या युद्धमारभस्व । एवं विवेकबुद्ध्या एतान्सर्वान्हत्वा पापं नावाप्स्यसि, प्रत्युत स्वधर्माकरणजन्यपापात्प्रमोक्ष्यसे ।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ ! कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

सामर्थ्यवान् वीरों को दोनों लोकों की रक्षा के लिए वैरियों के साथ युद्ध करना ही भला है । इसी को स्पष्ट समझाते हैं । धर्मयुद्ध में शत्रुओं से हत होओगे तो स्वर्ग पाओगे और उनको जीतकर पृथ्वी को भोगोगे । इससे भगवान् ने अर्जुन का (न चैतद्विद्मः) जो सन्देह था कि "न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः" इत्यादि, अर्थात् नहीं जानता कि मैं उनको जीतूँगा कि वे मुझको जीतेंगे और इन दोनों में से श्रेष्ठ कौन है—"निरस्त किया" । इस प्रकार दोनों भाँति लाभ ही है । इसलिए लड़ाई करने के लिए पक्का निश्चय करके उठो ॥३७॥

अर्जुन ने जो पीछे कहा है कि—"पापमेवाश्रयेदस्मान्" आदि अर्थात् हमें इन आततायियों को मारकर पाप ही होगा उसका उत्तर भगवान देते हैं—यद्यपि लड़ाई में शस्त्रादि की चोट से दुःख निश्चय है, तथापि यह समझकर कि यह सुख दुःख शरीर को ही होगा, देह से विलक्षण आत्मा को नहीं । सुख दुःख दोनों को बराबर समझो और उनके हेतुभूत लाभ, हानि, जय, पराजय को भी बराबर ही समझ और उनके स्वर्गादि फलों की आकांक्षा से रहित हो, और युद्ध के लिए सचेत हो । अर्थात् अपने धर्म के अनुष्ठान की बुद्धि से लड़ाई आरम्भ करो । इस प्रकार विवेक रखते हुए इन सबको मारकर भी तुमको कोई पाप नहीं होगा, बरन् अपना धर्म नहीं पालने के कारण जो पाप होगा उससे छूटोगे ॥३८॥

एवं देहाद्विविक्तात्मतत्वयाथात्म्यज्ञानमुपदिश्य तदर्जुनस्य हृद्यदृढभूतं ज्ञात्वा नहि साधनमृते तत्त्वज्ञानं स्थिरीभवतीति दर्शयन्साधनानुष्ठानदार्ढ्यायोक्तमनुवदन् तत्साधनभूतं कर्मयोगं वक्तुं प्रस्तौति—एषेति। एषा 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वमि'त्यारभ्य 'तस्मात्सर्वाणि भूतानि'इत्यन्तैः श्लोकैः सांख्ये सम्यक् ख्यायते प्रकथ्यते तत्त्वमनयेति संख्याऽध्यात्म शास्त्रजा बुद्धिस्तयाऽवधारणीयं तत्त्वं सांख्यं तस्मिन्विषये बुद्धिरभिहिता निरूपिता। तथापि (तव) तत्साधनानुष्ठानाभावात्त्वय्यस्थिरेव लक्ष्यतेऽतो योगे निःसंगतया भगवदाराधनात्मके कर्मयोगे तु तद्भिन्नां तत्साधनभूतामिमां सुखदुःखे समे कृत्वा" इत्यनन्तरमेव संक्षेपेणोक्तामग्रे विस्तरेण वक्ष्यमाणां शृणु। हे पार्थ! शुद्धान्तःकरणायाः पृथायाः पुत्र! यया बुद्ध्या युक्तस्त्वं कर्मबन्धं कर्मणा बन्धभूतं संसारं प्रहास्यसि प्रकर्षेण त्यक्ष्यसि।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

ननु 'यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' इति श्रुत्या कर्मणां कृषिवत् क्षयिष्णुत्वाभिधानात्किञ्चिदंगवैगुण्ये प्रत्यवायसम्भवाच्च कुतः कर्मयोगस्य कर्मबन्धप्रहणन-शक्तिरिति चेत्तत्राह—नेहेति। इह भगवदाराधनात्मके निष्कामकर्मणि अभिक्रमः प्रारम्भस्तस्य नाशो नास्ति। कृष्यादेरिव विघ्नबाहुल्येन नैष्फल्यं नास्ति इत्यर्थः। आरब्धस्य च विच्छेदेऽपि प्रत्यवायो न

भगवान् ने अर्जुन को देह से पृथक आत्मतत्त्व के यथार्थ ज्ञान का उपदेश दिया; पर यह देखकर कि अर्जुन के हृदय में वह ज्ञान बैठा नहीं और यह समझ कि साधन के बिना तत्त्वज्ञान स्थिर नहीं हो सकता, अब आत्मतत्त्वज्ञान को दृढ़ करने के लिए उसके साधनभूत कर्मयोग को कहते हैं। "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं" से लेकर "तस्मात् सर्वाणि भूतानि" तक के श्लोकों से मैंने तुम्हारी बुद्धि सांख्य (अध्यात्म) योग से लगायी अर्थात् इन श्लोकों से मैंने तुमको सांख्ययोग (आत्मतत्त्व) का उपदेश दिया, उस पर भी साधनानुष्ठान के बिना वह तुम्हारे मन में बैठा हुआ नहीं दीखता। इसलिए भगवदाराधनरूप निष्काम कर्मयोग जो उसका साधन है, वह मैं तुमसे कहता हूँ। पीछे के श्लोक में संक्षेप से मैंने इसको कह दिया है! अब सविस्तार सुनो। हे शुद्धान्तःकरणवाली पृथा के पुत्र! इस साधनरूप कर्मयोग की बुद्धि से युक्त तुम कर्म के बन्धनों से पूर्णतया मुक्त हो जाओगे ॥३९॥

श्रुति में यह बात लिखी हुई है कि "यथेह कर्मचितो लोकःक्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" अर्थात् जैसे यहाँ कर्म से प्राप्त किए हुए लोक (फल) का क्षय हो जाता है, इसी प्रकार यागादि पुण्य कर्मों से प्राप्त स्वर्गादि लोक भी नाश हो जाते हैं। इससे श्रुति, कर्म को खेती के जैसा नाशवान् कहती है और सकामकर्म में मन्त्रादिकों के अन्यथा उच्चारणादि कुछ भी अंगहानि होने से प्रत्यवाय का भय बना रहता है। यदि ऐसी बात है तो कर्मयोग को कर्मबन्धन से छुड़ाने की शक्ति कहाँ से हो सकती? इस शंका का उत्तर यहाँ देते हैं।

विद्यते। भगवदाज्ञापालनबुद्ध्याऽनुष्ठिते प्रत्यवायासम्भवात्। अतोऽस्य निष्कामकर्मयोगस्य धर्मस्य स्वल्पमप्यनुष्ठानं महतो भयात्संसारात्त्रायते रक्षति।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

सकामकर्मविषयाया बुद्धेर्निष्कामभगवदाराधनात्मककर्मयोगविषयबुद्धेः सुखहेतुत्वेन महान्विशेष इत्याह—व्यवसायेति। इह कर्मानुष्ठातरि जीवलोके व्यवसायात्मिका बुद्धिरेका। भगवत्तोषणात्मकमेव कर्त्तव्यं नान्यत् तत्प्रसादेन सुखेनैव तरिष्यामो नान्याराधनेनेति। निश्चयो व्यवसायस्तदात्मिका बुद्धिः सर्वनियन्तृसर्वकर्मफलप्रदातृसर्वमुमुक्षुध्येयसर्वेश्वराराधनैकविषयत्वादेकफलकत्वाच्चैका, अतः सुखदा, सा च परमनिःश्रेयस्कामानां मुमुक्षूणामेवेति निश्चीयते। अव्यवसायिनामनिश्चिततत्वानां स्वर्गधनस्त्रीपुत्र-पश्वादिबहुकामानां तत्तत्कर्मफलसाधनकर्मनिष्ठानां बुद्धयः कर्मकाण्डे कामानां बहुभेदेन बहुशाखाः, तत्राप्यवान्तरानन्तप्रकारभेदादनन्ताश्च दुःखदाश्चेत्यनुभवगम्यम्।

भगवदाराधनरूप निष्काम कर्म के प्रारम्भ का नाश नहीं होता, जैसा कि कृषिकर्म में विघ्नों से होना सम्भव है। और भगवदाज्ञापालनरूप बुद्धि से कर्म किए जाने पर यदि आरम्भ किए हुए कर्म का विच्छेदन भी हो जाए तो उसमें प्रायश्चित् नहीं होता। कारण कि भगवदाज्ञापालन की बुद्धि से किए गए कर्म में प्रत्यवाय होना सम्भव नहीं। इसलिए इस निष्काम कर्म का थोड़ा भी अनुष्ठान संसाररूपी बड़े भारी भय से रक्षा करता है ॥४०॥

सकाम कर्मविषयक बुद्धि से निष्काम भगवद्आराधनात्मक कर्मयोगविषयक बुद्धि अधिक सुख देनेवाली है। इसी को कहते हैं—

हे अर्जुन ! भगवान को प्रसन्न करनेवाले कर्म को ही करना चाहिए, और दूसरे कर्म को नहीं। भगवान की कृपा से हम सुख से संसार को तर जाएँगे, दूसरे देवताओं के आराधन से नहीं। ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि एक है अर्थात् भ्रम में डालनेवाली नहीं है। सबके नियन्ता, सब फल के दाता होने के कारण सब मोक्षार्थियों को ध्यान करने योग्य और सबके आराध्य सर्वेश्वर भगवान ही इस व्यावसायात्मिका बुद्धि के एक विषय हैं और इसका फल भी एक मुक्ति ही है। अतएव यह बुद्धि सुख देनेवाली है और ऐसी बुद्धि परम कल्याण के चाहनेवालों की ही होती है। जिन लोगों की बुद्धि अव्यवसायी है, अर्थात् किसी एक वस्तु की निश्चयरूप से कामना करनेवाली नहीं है, स्वर्ग, धन, स्त्री, पुत्र इत्यादि बहुत सी कामनाओं से भ्रमित हो रही है, वे उन कामनाओं को प्राप्त करने के लिए बहुत से कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करते हैं। अतएव ऐसी बुद्धि, कामनाओं के बहुत भेद से, बहुशाखावाली है, और उसमें बहुत प्रकार के अवान्तर भेद होने से अनन्त है। इसलिए यह दुःख देनेवाली है। यह बात अनुभव से जानी जा सकती है ॥४१॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

ननु विधिवदधीतवेदानां तदर्थपरिशीलिनां पण्डितानामपि व्यवसायात्मिका बुद्धिः कुतो न भवतीत्यपेक्षायां वेदशिरोभागमविदित्वा वेदतात्पर्याज्ञानादित्याह—यामिति त्रिभिः । यामिमां वक्ष्यमाणां पुष्पितां विषलतावदापातरमणीयां प्रकर्षेण वदन्ति तेऽविपश्चितो ज्ञानहीनाः न तु पण्डिताः । कुतो यतो वेदवादरताः वेदेषु ये फलार्थवादाः 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्यस्य याजिनः सुकृतं भवति, अपाम सोमममृता अभूम, यत्र नोष्णं न च शीतं स्यान्न ग्लानिर्नाप्यरातय' इत्यादयस्तेषु रताः सक्ताः । सक्तत्वलक्षणं नान्यदस्तीति वादिन इति । स्वर्गादिभोगादधिकं किञ्चितफलं मोक्षसुखं नास्तीति वदनशीलाः ।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

एतत्कुतो यतः कामात्मानः । कामा विषयेन्द्रियजन्यसुखानि तेष्वेवात्मा मनो येषां ते तथा । अत एव स्वर्गपराः एतद्देहत्यागानन्तरं दिव्यविमानारोहणाप्सरोभोगाम्लानपारिजातपुष्पमालाविधारण-दिव्यचन्दनालेपामृतपानादिस्वर्गफलमेव परमपुरुषार्थं मन्यमानाः स्वर्गफलभोगावसाने इहलोके विद्या-धनाढ्यकुले जन्म तदनुगुणश्रेष्ठवर्णाश्रमनिबन्धनानि कर्माणि च पुनस्तज्जन्यं पूर्वोक्तं फलं तानि प्रकर्षेण

जिन्होंने वेद का विधिवत् अध्ययन किया है; और उनके अर्थों को भी विचारा है, ऐसे पण्डितों की बुद्धि व्यवसायात्मिका क्यों नहीं होती ? इसका कारण वेद के शिरोभाग उपनिषदों के ज्ञान के अभाव से वेद के तात्पर्य का ज्ञान न होना ही है । इस आशय को तीन श्लोक से कहते हैं—

जो लोग आगे कही जानेवाली, पुष्पित विषलता के समान ऊपर से देखने में सुन्दर पर भीतर से हलाहल भरी हुई वार्त्ता की प्रशंसा करते हैं, वे मूढ़ और ज्ञानहीन हैं, क्योंकि वे वेद के फलार्थवाद में रत हैं, अर्थात् वेद में जो सब फलार्थवाद के वचन हैं यथा—"अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य याजिनः सुकृतं भवति, अपाम सोमममृता अभूम, यत्र नोष्णं न च शीतं स्यान्न ग्लानिर्नाप्यरातयः" अर्थात् चतुर्मास में जो यज्ञ करता है, उसको अक्षय पुण्य होता है । हम सोम पीकर अमर हो गए । जहाँ स्वर्ग में न गर्मी है न सर्दी, न दुःख है न शत्रु है । इन्हीं सकाम वेद के वचनों में उनको प्रेम है । और उसका प्रमाण यह है कि वे कहते हैं कि स्वर्गादि भोगों से अधिक और कोई दूसरा मोक्ष सुख नहीं है ॥४२॥

ऐसा क्यों अर्थात् ये लोग इस प्रकार के वेदवाद में रत क्यों हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

इन लोगों का आत्मा (मन) विषयेन्द्रियजन्य सुख के पीछे लालायित है, इसलिए वे स्वर्ग के इच्छुक हैं । इस देह को छोड़ने के बाद दिव्यविमान में चढ़कर अप्सराओं के भोगविलास का सुख भोगना, न मुरझनेवाले पारिजात के पुष्पों की माला धारण करना, दिव्य चन्दनादि का लेपन, अमृत का पान इत्यादि जो स्वर्ग के सुख हैं उन्ही को ये परम पुरुषार्थ मानते हैं । फिर स्वर्गफल के भोगों के अन्त हो जाने पर इस भूलोक में विद्या और धन से युक्त कुल में उत्पन्न होकर उस कुल के अनुकूल

घटीयन्त्रवदविच्छेदेन ददातीति तथा तां, पुनर्भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रियाविशेषबहुलां पूर्वोक्तो भोग ऐश्वर्यं च क्वचिदिन्द्रेण देवाधिकारे गन्धर्वाप्सरोदेवविशेषं प्रत्याज्ञापनं तयोर्गतिं प्राप्तिं प्रति साधनभूतायाः क्रियाया विशेषा बहुद्रव्याऽऽयाससाध्यचार्तुमास्यज्योतिष्टोमदर्शपूर्णमासादयस्तैर्बहुलां विस्तृतां भोगैश्वर्य-प्राप्तिफलकातिविस्तृतक्रियाप्रतिपादिकामिति यावत् एतादृशीं वाचं प्रवदन्तीत्यनुषंगः ।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

तेषां भोगैश्वर्ययोः प्रसक्तानां तया पुष्पितया वाचाऽपहृतं चेतो येषां परमार्थतत्त्वविचारानर्ह-चेतसामिति यावत् अतः उक्तप्रकाराव्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते, समाधीयते आत्मतत्त्व-मस्मिन्निति समाधिश्चित्तैकाग्र्यं तस्मिन्मोक्षसाधनभूतभगवदाराधनात्मककर्मनिश्चयरूपा बुद्धिर्न विधीयते नोत्पद्यते इत्यर्थः ।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ! ।
निर्द्वन्द्वोनित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

ननु यदि स्वर्गादिकं फलं परमार्थरूपं न भवति चेत्तर्हि अपौरुषेयतया निर्दोषा वेदाः सर्वजनस्य हितार्थाववोधने प्रवृत्ताः किमिति स्वर्गाद्युद्देशेन कर्माणि विदधतीति चेत्तत्राह—त्रैगुण्यविषया इति । त्रयो गुणाः सत्वरजस्तमांसि तत्र भवास्तद्वृत्तिस्थाः पुरुषास्त्रैगुण्यशब्दवाच्याः । तत्र केचित्सत्वाधिकाः

वर्णाश्रम धर्म को करते हुए फिर धर्म के बल स्वर्ग को प्राप्त कर पुनः पुण्य भोग के बाद इस संसार में आते हैं। इस प्रकार घटीयन्त्र के जैसा वेदों के उक्त वचन अविच्छेदरूप से जन्म और कर्म के देनेवाले हैं। और फिर भोग और ऐश्वर्य पाने के लिए, यथा—कभी इन्द्र से देवता के अधिकारी बन गन्धर्व, अप्सरा तथा और देवों के ऊपर शासन करने का काम पाने के लिए, लाखों प्रकार के, बहुत द्रव्य और परिश्रम से साध्य, ज्योतिष्ठोम आदि यज्ञ के प्रतिपादक ऐसे ही वचनों की वे मूढ़ लोग, अर्थात् वेद के वास्तविक तात्पर्य को नहीं जाननेवाले प्रशंसा करते हैं ॥४३॥

भोग और ऐश्वर्य में आसक्त चित्तवाले और ऊपर कही हुई लुभानेवाली बातों से परमार्थ तत्त्व के विचार में अयोग्य बुद्धिवाले की व्यवसायात्मिका बुद्धि में चित्त की एकाग्रता नहीं होती है, अर्थात् भगवान की सेवा ही एकमात्र मोक्ष का साधन है ऐसी दृढ़ और निश्चयात्मिका बुद्धि उनमें नहीं उपजती ॥४४॥

यदि स्वर्गादिफल परमार्थरूप या परमश्रेय नहीं है तो ईश्वरोक्त होने से जो निर्दोष वेद हैं, और जो सब जीवों के कल्याण की शिक्षा देने में रत हैं, वे स्वर्गादि की प्राप्ति के उद्देश्य से काम्यकर्मों का विधान क्यों करते हैं ? इस शंका का उत्तर देते हैं—

गुण तीन प्रकार के होते हैं, यथा—सत्, रज और तम और इन्हीं के अनुसार मनुष्य भी तीन प्रकार के होते हैं, यथा—जिसमें सतोगुण की मात्रा अधिक रहै, वह सत्त्वगुणवाला हुआ, जिसमें

केचिद्रजोऽधिकाः, केचित्तमोऽधिका इति त्रिविधा जना भवन्ति, तद्विषया वेदा उपनिषद्व्यतिरिक्ताः काम्यफलाद्यभिधायकाः यो यत्कामस्तस्य तदेव विहितं, तदनुसारेण तत्तत्फलस्तुतितत्प्रकारांस्तत्साधनानि कर्माणि बोधयन्ति यदि तेषां तत्तद्गुणानुसारेण तत्तद्धितसाधनं वेदा न बोधयेयुस्तर्हि तत्त्वज्ञाननिष्ठाभावात् त्रिगुणविलक्षणमोक्षफलमजानन्तः स्वाभिमतस्वर्गादिफलहितप्राप्तिसाधनानि कर्माण्यप्यविज्ञायोभयथा नष्टा भवेयुरिति तद्धितकर्मबोधनास्त्रैगुण्यविषया इति युक्तमुक्तम्। हे अर्जुन ! त्वन्तु निस्त्रैगुण्यो भवेति त्रिगुणमयस्वर्गादिफलतत्साधनतत्प्रतिपादकवेदानिष्ठो भव। वेदविहितेऽपि त्रिगुणात्मकफलसाधनादौ निःस्पृहो भवेति भावः। ननु स्वर्गादौ निःस्पृहत्वेऽपि सर्वस्यान्नवस्त्रादेस्त्रिगुणमयत्वमेव ? तस्य च देहनिर्वाहार्थमवश्यापेक्षितत्वात् कथं निस्त्रैगुण्यसंभव इत्यत आहनिर्द्वन्द्व इति। द्वन्द्वानि शीतोष्णक्षुधापिपासा सुखदुःखानि तद्रहितो भव तानि सहस्वेत्यर्थः। कथमिति चेत्तत्राह—नित्यसत्त्वस्थ इति। नित्यसत्वं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्वं तल्लक्षणं धैर्यं तत्रस्थः सन्, रजस्तमोऽभिभूतसत्त्वः पुरुषः शीतोष्णादिप्राप्तौ मरणभयेन धैर्यात्प्रचलति। त्वं तु रजस्तमसी अभिभूय शुद्धसत्वनिष्ठो भवेति भावः।

रजोगुण की मात्रा अधिक हो वह रजोगुणी और जिसमें तमोगुण की मात्रा अधिक हो वह तमोगुणी हुआ। उपनिषदों के अतिरिक्त जो काम्यफल कहनेवाले वेद हैं, वे इन्हीं तीन प्रकार के मनुष्यों को अपना विषय बनाते हैं, अर्थात् जो जिस गुणवाला होता है वेद उसके लिए वैसा ही कर्म और उसका साधन बताते हैं, और उन्हीं कर्मों की स्तुति करते हैं। यदि वेद ऐसे मनुष्यों के हितसाधन के लिए उनके गुण के अनुसार कर्म और उसका साधन नहीं बतावें तो ये लोग दोनों प्रकार से नष्ट हो जावें। उधर तत्त्वज्ञान में तो उनकी निष्ठा नहीं इसलिए त्रिगुण से पृथक मोक्षफल को नहीं जानते और इधर स्वर्गादि प्राप्ति के साधन कर्मों को यदि वेद नहीं बतावें तो उनको स्वर्गादि भी नहीं मिले। इसलिए वेद भिन्न-भिन्न गुणवालों के लिए त्रिगुणात्मक कर्मों और उनके साधनों को बताते हैं। इस प्रकार वेदों को त्रिगुण विषयवाला कहना बहुत ठीक है। इसलिए हे अर्जुन ! तुम त्रिगुणमय वेदों में प्रतिपादित स्वर्गादि फलों के साधन स्वरूप कर्मों में निष्ठा मत करो। अर्थात् वेदों के पूर्वकाण्ड में प्रतिपादित त्रिगुणात्मक फलसाधनादि में निस्पृह बनो।

अर्जुन शंका करते हैं कि त्रिगुणात्मक होने के कारण स्वर्गादिकों में यदि स्पृहा न भी करें पर देहनिर्वाह के लिए अन्न-वस्त्रादि की तो स्पृहा करनी ही पड़ेगी और ये भी त्रिगुणात्मक हैं। इस प्रकार त्रिगुणयुक्त विषयों में बिल्कुल निस्पृह होना कैसे सम्भव हो सकता है ? इसके उत्तर में भगवान कहते हैं कि निर्द्वन्द्व हो जाओ अर्थात् सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दुःख इत्यादि द्वन्द्वों से रहित हो जाओ, अर्थात् इनको सहन करो।

अर्जुन पूछते हैं कि किस प्रकार सहें ?

भगवान कहते हैं कि नित्य सत्त्वस्थ होकर सहो, अर्थात् रजोगुण तमोगुण को छोड़ जब तुम सतोगुण में स्थित हो जाओगे तब तुमको धैर्य होगा। इसी धैर्य के बल पर इन द्वन्द्वों को सहो।

ननु परिग्रहवतस्तद्योगक्षेमार्थिनः कुतो नित्यसत्त्वस्थत्वमिति चेत्तत्राह—निर्योगक्षेम इति। अपेक्षितस्य लाभो योगः लब्धस्य रक्षणं क्षेमस्तन्निरपेक्षो भव। एवं चेत्कथं मे निर्वाहो भविष्यतीति सन्देहो न कर्त्तव्य इत्याह—आत्मवानिति। आत्मा परमात्मा सर्वाभीष्टप्रदो ध्येयतया विद्यते यस्य स तथा तदाश्रितो भूत्वा चिन्तां विहाय किञ्चिद्योगक्षेमाय नान्यं कञ्चन समाश्रयेति भावः।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

ननु वेदविषयपरित्यागे तदर्थातिरिक्तपदार्थाभावान्मुमुक्षोरपि साधनानुष्ठानाद्यपेक्षितं सर्वं हेयं स्यात्तथात्वे तस्य स्वार्थभ्रंश एव स्यादिति चेत्तत्राह—यावानिति। यथा स्नानपानाद्यर्थिनः पुरुषस्य उदपाने वापीकूपतडागादिषु यावान्यावत्परिमाणः स्नानपानाद्यर्थः सर्वतः संप्लुतोदके बहुदेशप्रसृतजल-समूहे महानद्यादिषु तावानेवार्थः। एवं वेदार्थं विजानतः ब्राह्मणस्य ब्रह्मज्ञस्य मुमुक्षोरिति यावत्। वेदैकदेशे यावानर्थः स्वश्रेयःसाधनभूतसर्वदेवेशभगवत्तोषकरं कर्माचरणं प्रयोजनं तावानेव सर्ववेदेष्वर्थः

रजोगुण और तमोगुण से ही जो लोग घिरे हुए हैं, उन्हीं लोगों को सर्दी-गर्मी आदि के प्राप्त होने पर मरने का भय होता है और वे उससे अधीर हो उठते हैं। तुम सत्त्व में स्थिर होकर और इस प्रकार धैर्य प्राप्त कर सभी द्वन्दों को सहो।

अर्जुन फिर शंका करते हैं कि जो गृहस्थ है, वह संसार में संग्रह करना और संग्रह किए हुए की रक्षा करना चाहता है, तो वह सतोगुण में हमेशा कैसे रह सकता है? भगवान इसका उत्तर देते हैं, कि योग अर्थात् अपेक्षित वस्तु की प्राप्ति और क्षेम अर्थात् उसका संरक्षण दोनों से ही मन को फेर लो। तब अर्जुन पूछते हैं कि ऐसा करने से निर्वाह कैसे होगा? भगवान कहते हैं कि निर्वाह की चिन्ता मत करो। आत्मवान् हो जाओ, अर्थात् परमात्मा सब अभीष्ट के देनेवाले हैं और उन्हीं का आश्रय सबको करना चाहिए ऐसा विचार कर चिन्ता छोड़ दो और योगक्षेम के लिए उन्हीं की शरण में जाओ और उन्हीं का भरोसा करो ॥४५॥

वेदों को छोड़कर साधनादि का बतानेवाला दूसरा कोई पदार्थ नहीं है, और मुमुक्षु को भी वेद में कहे हुए मोक्ष के साधन और उसके अनुष्ठान की आवश्यकता होती है। इन सबके हेय हो जाने से मुक्ति की इच्छा करनेवालों के भी स्वार्थ का नाश हो जाएगा। इस शङ्का का उत्तर भगवान यहाँ देते हैं—

स्नान, पान इत्यादि मनुष्यों का काम जैसे कूप, तड़ागादि से सधता है, वैसे ही बहुत से देशों में फैले हुए जलसमूह जैसे महानदी, सरोवर इत्यादि से भी चलता है, अर्थात् चाहे कूप हो या तड़ाग, नदी हो या बड़ा जलाशय, मनुष्य अपने काम भर ही जल उससे लेगा, अर्थात् दोनों (बड़े और छोटे जलसमूह) से उसका काम एक ही रूप से चलेगा। इसी प्रकार वेद के अर्थ को जाननेवाले ब्रह्मज्ञ या मोक्षार्थी को वेद के उन्हीं भागों से काम है, जहाँ अपने कल्याण (मोक्ष) के साधनभूत, सब सृष्टि के

प्रयोजनं, नतु वेदोक्तं सर्वं सर्वैरुपादेयं किन्तु यथाधिकारमेव। यथा वेदोदितमेवाग्निहोत्र—श्राद्धपितृ-तर्पणादिकं कर्म न संन्यासिनाऽनुष्ठेयमनधिकारात्। किन्तु प्रवृत्तिनिष्ठगृहस्थस्यैव तत्राधिकारः। संन्यासिनां तु स्नानप्रणवजपतत्त्वानुसंधानयावद्देहयात्रामात्रभिक्षावसनोपादानमेव वेदोदितमनुष्ठेयम् तद्वदिति विवेकः।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

ननु यद्येवं तर्हि मुमुक्षुणा ज्ञाननिष्ठैव सम्पादनीया, किं कर्मणेति चेत्तत्राहकर्मण्येवेति। ते तव मुमुक्षोः तत्त्वनिष्ठापादनाय तावदन्तःकरणशुद्ध्यर्थं कर्मण्येवाधिकारोऽस्ति। न च कर्मणि अधिकृतस्य मे तत्राऽऽसक्त्याऽव्यवसायात्मिका बुद्धिः स्यादिति वाच्यमित्याह—मा फलेषुकदाचनेति। कर्मफलेषु ते अधिकारो मा भूत्। नहि फलेच्छां त्यक्त्वा कर्म कुर्वतोऽव्यवसायात्मिका बुद्धिर्भवति, अपि तु फलासक्त-स्यैव। न तु फलेच्छाभावेऽपि कर्म कुर्वतः फलावाप्तिः स्यादेवेति चेत्तत्राह—मा कर्मफलहेतुर्भूरिति। मत्कृतस्य कर्मण इदं फलमित्यात्मानं फलं प्रति हेतुं मा भावयेथाः। फलोद्देशं विनैव कर्म कुर्वित्यर्थः। ननु निष्फलकर्मकरणादकरणमेव ज्यायो 'न कुर्यान्निष्फलं कर्मे'ति निषिद्धत्वादिति चेत्तत्राह—मा ते

स्वामी भगवान् को तोष (संतुष्ट) करनेवाले कर्मों का वर्णन है। समूचे वेद से उसको कुछ भी प्रयोजन नहीं। वेदों में कहे हुए सब विषय सबको ग्रहण करने योग्य नहीं होते हैं। किन्तु, अपने-अपने अधिकारानुसार प्रयोजनीय विषय ही ग्रहण करना चाहिए। जैसे वेद में कहे हुए अग्निहोत्र श्राद्ध, तर्पण आदि कर्मों से सन्यासी को क्या प्रयोजन हो सकता है? उन कर्मों से तो केवल गृहस्थ को ही प्रयोजन है। सन्यासियों को तो वेद के उतने ही भाग से प्रयोजन है जहाँ स्नान, प्रणव, जप, तत्त्वा-नुसन्धान, देहयात्रा के लिए भिक्षाग्रहण इत्यादि का विधान है। ऐसे ही मोक्षार्थियों के बारे में भी समझना चाहिए ॥४६॥

यदि ऐसी बात है तो मोक्षार्थियों को केवल ज्ञाननिष्ठा के लिए चेष्टा करना चाहिए, कर्म से उनको क्या प्रयोजन है? इसके उत्तर में भगवान कहते हैं—

तत्त्वनिष्ठा प्राप्त करने के लिए जब तक अन्तःकरण की शुद्धि न हो तब तक तुम्हारा (अर्थात् मोक्षार्थी का) कर्म में ही अधिकार है। तब तक तुमको कर्म ही करना चाहिए। पर कर्म करने से उसमें आसक्ति होकर बुद्धि अव्यवसायात्मिका (अनिश्चिता) हो सकती है। तब कर्म के फल में तुम अपना अधिकार मत समझो, कर्म के फल की इच्छा मत करो, क्योंकि फल में आसक्ति होने से ही बुद्धि अनिश्चित हो जाती है। पर फल की इच्छा न करने पर भी फल तो होगा ही। इसका उत्तर भगवान देते हैं कि फल होगा तो होने दो। उसका तुम कारण मत बनो। ऐसा मत समझो कि मेरे इस कर्म का यह फल है। बिना फल के उद्देश्य से ही कर्म करो। तो ऐसे फलशून्य कर्म के करने से तो न करना ही अच्छा है क्योंकि कहा गया है—"न कुर्यान्निष्फलं कर्म" अर्थात् निष्फल कर्म नहीं करना चाहिए।

संगोऽस्त्वकर्मणि इति । अकर्मणि कर्माकरणे तव मुमुक्षोः संगो न, योत्स्यामीत्यहंकारो माऽस्तु नित्य-नैमित्तिकाकरणे प्रत्यवायापत्तेः 'मोक्षार्थी न प्रवर्त्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः । नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्य-वायजिहासये'ति मनुस्मरणात् ।

योगस्थ कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय !
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

तर्हि किं कुर्यामित्यत आह—योगस्थ इति । योगस्थः सन् संगं कर्तृत्वाभिनिवेशं त्यक्त्वा सिद्ध्य-सिद्ध्योः समो भूत्वा कर्माणि कुरु । कर्माणि इति बहुवचनं नित्यनैमित्तिकयोरेव बहुप्रकाराभिप्रायेण । न च काम्यस्यापि ग्रहणमिति वाच्यम् । पूर्वापरविरोधात् । योगशब्दार्थं स्वयमेवाह समत्वं योग उच्यते इति सिद्ध्यसिद्ध्योर्यत्समचित्तत्वं स एव योग उच्यते विवेकिभिः ।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय !
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

ननु फलार्थमपि कर्मकर्त्तुरभीष्टदानेन श्रेष्टं प्रतीयते किमर्थमसकृत्तन्निषिध्यत इत्यत आह—दूरेणेति । हे धनञ्जय, पूर्वमेव धनं जितवानसि नहि ते धनादिफलाकांक्षया स्वधर्मे प्रवृत्तिरिति भावः । व्यवसायात्मिकबुद्ध्याऽनुष्ठितः कर्मयोगो बुद्धियोगस्तस्मात् काम्यं कर्म दूरेणावरम् अतिनिकृष्टमित्यर्थः ।

इसके उत्तर में भगवान कहते हैं कि तेरा अकर्म में प्रेम न हो अर्थात् तुम्हारे जैसे मुमुक्षु को "मैं युद्ध न करूँगा" इस प्रकार अभिमानपूर्वक अकर्म में प्रेम नहीं होना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से नित्य नैमित्तिक कर्मों के नहीं करने का पाप लगेगा । मनु ने कहा है—

मोक्षार्थी, काम्य और निषिद्ध कर्मों में न लगे । पाप से बचने की इच्छा से नित्य नैमित्तिक कर्मों को अवश्य करे ॥४७॥

अर्जुन पूछते हैं कि तब हम क्या करें ? भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन ! योग में स्थित होकर, संग अर्थात् मैं इस कर्म का कर्त्ता हूँ, यह अभिमान छोड़, फल की आशा से रहित हो और काम की सिद्धि से न प्रसन्न, और न उसकी असिद्धि से अप्रसन्न हो, केवल नित्य नैमित्तिक कर्मों को करो । काम्य कर्म को मत करो । यहाँ 'कर्माणि' यह बहुवचन का व्यवहार नित्य और नैमित्तिक कर्मों के नाना प्रकार के होने के कारण हैं । बहुवचन के प्रयोग से काम्य कर्म का ग्रहण नहीं हो सकता । क्योंकि इससे पूर्वापर का विरोध होता है । समत्व को ही योग कहते हैं अर्थात् सिद्धि और असिद्धि में एक-सा रहना, दुःख सुख का अनुभव नहीं करना, इसी को विवेकी लोग "योग" कहते हैं ॥४८॥

अर्जुन कहते हैं कि करनेवालों को फल देने के कारण, फल के लिए किए गए कर्म तो बहुत श्रेष्ठ मालुम पड़ते हैं । आप फिर क्यों बार-बार उनका निषेध करते हैं । भगवान उत्तर देते हैं कि हे धनञ्जय ! (धनञ्जय शब्द के प्रयोग करने का भाव यह है कि तुमने तो पहले ही धन को जीता है, इसलिए तुम्हारी धर्म में प्रवृत्ति धनादि की प्राप्ति के फल की कामना से नहीं हो सकती ।) व्यवसा-

हि यस्मादेवं तस्माद् बुद्धौ शरणं निवासस्थानमाश्रयमिति यावत्। अन्विच्छ तदाश्रितो भवेत्यर्थः। फलहेतवः फलोद्देशेन कर्मकुर्वाणाः कृपणा अतिदीनाः। त्वं तु कृपणो मा भवेति भावः।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

काम्यकर्मणि दोषं प्रदर्श्य बुद्धियोगे गुणं दर्शयति-बुद्धीति। बुद्धियुक्तः पुरुषः इह कर्मभूमौ उभे सुकृतदुष्कृते पुण्यपापे जहाति। तस्माद्योगायोक्तबुद्धियोगाय युज्यस्व प्रवृत्तो भव। कर्मसु वर्तमानस्य पुरुषस्य योगः समत्वं कौशलं यद्बन्धनहेतूनां कर्मणां मोक्षहेतुत्वापादनमितिमहत्कुशलत्वमित्यर्थः।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

ननु दुष्कृतत्यागे भवति कौशलं सुकृतं तु किमर्थं त्याज्यमित्यत आह-कर्मजमिति। उक्तबुद्ध्या युक्ता मनीषिणः बन्धमोक्षहेतुमननशीलाः हि यतः कर्मजं फलं सुख-दुःखात्मकमुभयविधमपि बन्धनरूपं मत्वा न केवलं दुष्कृतफलमपि तु जन्मापादकं सुकृतफलमपि त्यक्त्वा जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः जन्मैव बन्धस्तस्माद्विनिर्मुक्ताः सन्तः अनामयम् आमयो मायाकार्यस्वभावः परिणामापक्षयादि-रूपो रोगस्तद्रहितं पदमुपनिषत्प्रतिपाद्यं परवैकुण्ठाख्यं स्थानं गच्छन्ति। तस्मात्तुच्छफलं सुकृतमप्यनन्तफलाय त्याज्यमिति भावः।

यात्मिका बुद्धि से किए गए कर्मों की अपेक्षा काम्य-कर्म बहुत निकृष्ट या तुच्छ होते हैं। इसलिए आत्मज्ञान के साधक, हे अर्जुन ! तुम एक निश्चयात्मक बुद्धि की शरण में स्थित हो और कामनाशून्य होकर काम करो। फल की इच्छा से काम करनेवाले वास्तव में अति दीन हैं। अभिप्राय यही है कि तुम धनञ्जय हो, तुम दीन मत बनो ॥४९॥

आत्मज्ञान को ठीक से समझने के लिए काम्यकर्मों में दोष (आनंदाभाव) देखा गया, अब बुद्धियोग का गुण कहते हैं। बुद्धियुक्त पुरुष इस कर्मभूमि में पुण्य-पाप दोनों को छोड़ देता है। इसलिए बुद्धियोग में तुम प्रवृत्त हो। ईश्वरार्थ कर्म करनेवाले पुरुष का कर्म में योग होना अर्थात् इसमें समता प्राप्त करना ही कुशलता है क्योंकि इससे बन्धन के हेतु जो कर्म हैं, वे भी मोक्ष के साधन हो जाते हैं ॥५०॥

दुष्कर्मों को त्यागना ही कर्म की कुशलता है, किन्तु सुकर्मों को क्यों छोड़ा जाय ? इसका उत्तर देते हैं, यथा—

बन्धमोक्ष के हेतु के विषय में विचार करनेवाले पुरुष उपरोल्लिखित अर्थात् व्यवसायात्मिका बुद्धि से युक्त हैं। वे सुखदुःखात्मक अच्छे बुरे दोनों प्रकार के कर्मों को बन्धनरूप समझकर ही छोड़ देते हैं। और इस प्रकार कर्म से उत्पन्न जन्मरूपी बन्धन से छुटकारा पाकर माया के कार्यों में पाये जानेवाले परिणाम और अपक्षय आदि रोगों से रहित तथा जो उपनिषदों से प्रतिपाद्य परवैकुण्ठ है

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्ताऽसि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

कर्माणि कुर्वतो ममाप्येवम्भूतो निर्वेदः कदा भविष्यतीति अपेक्षायामाह—यदेति । नास्ति कालनियमः किन्तु यदा यस्मिन्काले ते बुद्धिर्मोहकलिलं मोहो मन्निमित्तमेते मरिष्यन्ति अहं पापभागी स्यामित्याद्यन्तःकरणविभ्रम एव कलिलं गहनकर्दमं व्यतितरिष्यति विशेषेणोल्लंघ्य गमिष्यति तदा श्रोतव्यस्य श्रोतुं योग्यस्य श्रुतस्य च कर्मफलस्य निर्वेदं वैराग्यं गन्तासि गमिष्यसि प्राप्स्यसि । पुनस्तज्जिज्ञासां न करिष्यसीति भावः ।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

निष्कामकर्मानुष्ठानेन कदा योगं प्राप्स्यामीत्यपेक्षायामाह—श्रुति इति । इतः पूर्वमतत्त्वविद्भ्यः श्रुतिभिर्नानाविधसाधनफल-श्रवणैस्ते बुद्धिर्विप्रतिपन्ना इदं श्रेय इदं वेत्यादिसंशयग्रस्ततयाऽतत्वनिष्ठासती विक्षिप्ताऽऽसीत् । यदा यस्मिन्काले समाधिर्मनस आत्मप्रावण्यं तस्मिन्नचला विषयान्तराग्रहणेन तदेकनिश्चया सती स्थास्यति । तदा योगं योगफलमात्मयाथात्म्यानुभवमवाप्स्यसि ।

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव !
स्थितधीः किं प्रभाषेत् किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

वहाँ पहुँच जाते हैं । कहने का भाव यह है कि सुकृत या अच्छे कर्म का भी तो अन्त होने ही वाला है । इसलिए वह भी तुच्छ और क्षणिक फल का दाता है और अनन्त फल (मुक्ति) के लिए तुच्छ फलवाले पुण्य कर्मों को भी छोड़ देना चाहिए ॥५१॥

अर्जुन शंका करते हैं कि इस प्रकार कर्म करता हुआ मैं वैराग्य को कब प्राप्त होऊँगा ? भगवान उत्तर देते हैं कि इसका कोई समय निश्चित् नहीं है । जिस समय तुम अन्तःकरण में भरे हुए मोह के गाढ़े कीचड़ को पार कर जाओगे अर्थात ये मेरे भाई-बान्धवादि मेरे लिए मरेंगे, मैं पाप का भागी होऊँगा इत्यादि जो ये विभ्रम हैं, ये जब छूट जाएँगे तब तुमको सुनने के योग्य और सुने हुए कर्मफल से विराग हो जाएगा । और तुम तब कर्मफल जानने की इच्छा न करोगे ॥५२॥

अर्जुन पूछते हैं कि निष्काम कर्म करते हुए योग को कब पाऊँगा ? भगवान उत्तर देते हैं—हे अर्जुन ! श्रुतियों में वर्णित नाना प्रकार के साधनों और उनके फलों को अज्ञानियों से तुम अब तक सुनते आए हो, इससे तुम्हारी बुद्धि विक्षिप्त हो गई है, अर्थात् यह श्रेष्ठ है कि वह श्रेष्ठ है, ऐसे ही विचारों से संशयग्रस्त हो गई है । जिस समय तुम्हारा मन, अचल हो और विषयों को न ग्रहण कर आत्मोन्मुखी हो जाएगा । तब तुम्हारी बुद्धि निश्चल हो जाएगी, तभी तुम योग को पाओगे अर्थात् निष्काम कर्मयोग का फल, आत्मा के स्वरूप का यथार्थ अनुभव प्राप्त करोगे ॥५३॥

यदा समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसीत्युक्तं तेन समाधिस्थः स्थितप्रज्ञस्तत्त्वज्ञो भवतीति विज्ञाय तस्य लक्षणभाषणासनव्रजनानि जिज्ञासुरर्जुनः पृच्छति स्थितप्रज्ञस्येति। हे केशव ! स्थिता प्रज्ञा बुद्धिर्यस्य तत्कुतो यतः समाधिस्थस्तस्य का भाषा ? भाष्यते प्रकर्षेण कथ्यतेऽनयेति भाषा लक्षणमित्यर्थः। तथा स्थितधीः पुरुषः समाधेरुत्थाय किं प्रभाषेत् ? किं भाषणं कथं वा भाषणं कुर्वीत। तथा किमासीत कथमासीत उपविशेत। तथा किं कथं वा व्रजेत गमनं कुर्यात्। स्थितप्रज्ञस्य मूढजनाद्विलक्षणानि भाषणादीन्यतः पृच्छामि एतद्ब्रूहि इति शेषः। ननु समाधिस्थस्य लक्षणभाषणादिकं समाधिमच्छ्रेष्ठो ब्रह्मशिवादिः कश्चिज्जानीयात्तत एव जिज्ञासितव्यमित्याशंकानिरासकं संबोधनमुक्तं-केशवेति। कश्च ईशश्च केशौ वापयति उत्पादयति नियमयति ताभ्यां ज्ञानं प्रापयति वा तथा स त्वमेव ब्रह्मशिवादिजनकत्वान्नियन्तृत्वाद्गुरुत्वाद्वा सर्वेश्वरः सर्वज्ञश्च समाश्रयणीय इत्यर्थः। 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वा वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं, मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये, तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात् त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषोऽजायत, क इति ब्रह्मणो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम्। आवां तवांगसम्भूतौ तस्मात्केशवनामवानि'त्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः।

जब समाधि में तुम्हारी बुद्धि अचल हो जाएगी तब तुम योग को पाओगे, ऐसा भगवान ने अर्जुन से कहा। तब समाधिनिष्ठस्थितप्रज्ञ ही तत्त्वज्ञ होता है ऐसा जानकर अर्जुन भगवान से पूछते हैं कि ऐसी समाधि में स्थित, स्थित बुद्धिवाले तत्त्वज्ञ के लक्षण क्या हैं ?

हे केशव ! समाधि में स्थित होने के कारण जिसकी बुद्धि निश्चल हो गई है उसकी क्या भाषा होती है, और लक्षण कैसे होते हैं ? समाधि से उठने पर ऐसा पुरुष क्या और कैसा बोलता है ? वह कैसे रहता-बैठता है ? वह कैसे चलता-फिरता है ? अभिप्राय यह है कि संसारी मूढ़जनों की बोलचाल, चलन व्यवहार से इस समाधिस्थ पुरुष के बोलचाल, चलन व्यवहार में क्या अन्तर होता है, जिससे वह पहचाना जाता है ? इन अन्तरों को मैं आपसे पूछता हूँ। आप कहें।

यहाँ भगवान् यह कह सकते हैं कि ब्रह्मा, शिव आदि जो समाधिष्ठों में श्रेष्ठ हैं उन्हीं से तुमको समाधिस्थों के लक्षण पूछना चाहिए। इसी के उत्तर में अर्जुन उन्हें केशव कहकर सम्बोधन करते हैं। अर्थात् आप तो "क" ब्रह्मा और "ईश" शिव के उत्पादक तथा नियामक और उनको ज्ञान देनेवाले हैं। इसलिए उनके पिता, नियन्ता और गुरु होने से सर्वेश्वर और सर्वज्ञ हैं। इसलिए मैं आपकी ही शरण में आया हूँ। आप ही मुझे बतावें। शिव और ब्रह्मा की आपसे ही उत्पत्ति हुई है। इसको श्रुति भी कहती है। यथा—

पहली श्रुति का अर्थ पीछे लिखा जा चुका है। दूसरी का अर्थ यह है कि भगवान के ध्यान में स्थित होने पर उनके ललाट से तीन नेत्रवाले और हाथ में शूल लिए हुए पुरुष अर्थात् शिवजी पैदा हुए। स्मृति का अर्थ यह है कि—"ब्रह्मा और सब देहियों के ईश्वर हम (शिव) आपके अंग से निकले हैं। इसलिए आपका नाम केशव है ॥५४॥

श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ ! मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

एवमर्जुनस्य चतुरः प्रश्नान् क्रमेण यावदध्यायान्तं वक्तुं तावत्प्रथमप्रश्नस्योत्तरं श्रीभगवानुवाच—प्रजहाति इति द्वाभ्याम् । मनोगतान् सर्वान् कामान् यदा प्रजहाति प्रकर्षेण त्यजति, तदा स्थितप्रज्ञः उच्यते । मनोगतकामपरित्यागे किं गमकमित्यत आह—आत्मन्येवात्मना तुष्ट इति । आत्मनि स्वस्वरूपे प्रजापतिविद्योक्तापहतपाप्मत्वादिविशिष्टे ज्ञानानन्दस्वरूपे आत्मना काममलपरित्यागान्निर्मलीभूतेन मनसा तुष्टः प्रसन्नो यदा भवति तदा तस्य स्थितप्रज्ञता ज्ञेयेत्यर्थः ।

दुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

नन्विदं लक्षणं स्वसंवेद्यं तस्यात्मसंतुष्टत्वमन्यैः कथं ज्ञेयमित्यपेक्षायामाह-दुःखेष्विति । दुःखानि तावदध्यात्माधिदैवाधिभौतिकभेदात्त्रिविधानि । तत्राध्यात्मं शारीरकमानसभेदात् द्विविधम्, तत्राक्षिशिरोरोगातिसारज्वरादिकं शारीरकम्, निन्दाऽसूयाऽवमानेर्ष्यादिजन्यं मानसम्, शीतोष्णवातवर्षाविद्युदादिसमुद्भवमाधिदैविकम्, मनुष्यराक्षसपशुपक्ष्यादिजन्यमाधिभौतिकमिति विवेकः । तेषु प्रारब्धवशात्

अर्जुन के प्रश्नों का उत्तर अध्याय की समाप्ति तक एक-एक करके देते हैं । प्रथन प्रश्न का उत्तर दो श्लोकों से देते हैं—

जो मन में स्थित सब अभिलाषाओं को छोड़ देता है और इस कारण सामवेदीय छान्दोग्य उपनिषद की प्रजापति-विद्या में कहे गए, सब पापों से रहित होना इत्यादि आठ गुणों से युक्त, ज्ञानानन्द, अपने आत्मस्वरूप में ही, कामरहित अतएव निर्मल मन के द्वारा, आनन्द अनुभव करता है, वही स्थितप्रज्ञ कहलाता है । अर्थात् जब किसी की ऐसी दशा हो जाय तब समझना चाहिए कि उस मनुष्य को स्थितप्रज्ञता प्राप्त हो गयी ॥५५॥

ऊपर के कहे गए लक्षण तो स्वसम्वेद्य हैं अर्थात् इनको जिनमें हैं, वे ही अनुभव कर सकते हैं, बाहर के दूसरे लोग कैसे जान सकते हैं कि कोई व्यक्ति स्थितधी हो गया ? इसी का उत्तर देते हैं ।

दुःखों को आने जानेवाले स्वभाव का और प्रारब्ध से आया हुआ मान, ऐसा विचार कर कि भोग हो जाने से स्वयं ही नाश हो जाएँगे, स्थितधी मनुष्य का मन दुःख पड़ने पर चंचल नहीं होता । उसी प्रकार सुख को प्रारब्ध से ही आया हुआ जानकर ऐसा मनुष्य और अधिकाधिक सुखों की भी इच्छा नहीं करता । (दुःख तीन प्रकार के होते हैं, यथा—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक । आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार का है, शरीर सम्बन्धी जैसे ज्वर, आँख की पीड़ा इत्यादि, और मनसंबंधी जैसे ईर्षा, डाह इत्यादि, आधिभौतिक दुःख वह है जो सांसारिक जीवों के द्वारा प्राप्त होता है, जैसे

प्राप्तेषु एतान्यागमापायित्वात्स्वयमेव भोगेन वा नक्ष्यन्तीति विचारेण नोद्विग्नं मनो यस्य सोऽनुद्विग्नमनाः तथा प्रारब्धवशात्सुखानि अपि प्राप्नुवन्ति तेष्वनागतेषु विगतस्पृहः वाञ्छारहितः। तत्र हेतुः वीतरागभयक्रोध इति। मनस आसक्तिविषयेष्वभीष्टपदार्थेषु ममैते मा छिद्येरन्निति प्रीत्यतिशयो रागः। प्रियवियोगजन्यागामिदुःखनिमित्तजन्यं दुःखं भयं, प्रियवस्तुनाशहेतावुपस्थिते तद्वियोगकर्तृविषयोऽन्तःकरणविकारविशेषः क्रोधः, एते रागादयो नित्यसुखस्वरूपे आत्मन्यविवेकेन जायन्ते, तद्विवेकेन (वीता) गता यस्मात्स मुनिर्मननशीलः स्थितप्रज्ञ उच्यते विवेकिभिरिति शेषः।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

इदानीं स्थितधीः किं प्रभाषेतेत्यस्योत्तरमाह—यः सर्वत्रेति। यो मुनिः सर्वविषयेष्वनभिस्नेहश्चित्तासक्तिरहितस्ततः एव तत्तत् शुभाशुभं मूढजनाभिमतं शुभं सुखहेतुं सुमिष्टस्निग्धपायसमोदकादिभोजनमिष्टरसादिपानं कोमलं सुरूपं वस्त्रं गृहपानादिकं वा प्राप्य नाभिनंदति। त्वया ममातिप्रियं कृतं त्वत्समो नास्ति कश्चिदित्यभिनंदनं न करोति। अशुभं दुःखहेतुतया मतं उक्ताद्विपरीतभोजनपानादिमृषासमाधिर्दाम्भिक इत्यादिवाक्यं वा प्राप्यकश्चित्प्रति न द्वेष्टि। अतोरागदोषाभावात्स्तुतिनिन्दारहितं सर्वहितमल्पभाषणं करोतीति भावः। तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता, स स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः।

मनुष्य, पशु, पक्षी और राक्षस इत्यादि से उत्पन्न और आधिदैविक दुःख वह है जो दैवी शक्तियों से जैसे वर्षा, बिजली इत्यादि से उत्पन्न होता है।)

स्थितप्रज्ञ मनुष्य सुख-दुःख की परवाह नहीं करता इसका कारण यह है कि राग (प्रेम या आसक्ति) भय और क्रोध से वह रहित है। यह नाश न हो जाय ऐसी अभीष्ट पदार्थ में जो मन की अतिशय प्रीति है उसी को राग कहते हैं। प्रियवियोगजन्य आगामी दुःख को भय कहते हैं। प्रिय वियोग करानेवाले के प्रतिः अन्तःकरण में जो विकार होता है, उसको क्रोध कहते हैं। ये रागादिक नित्य सुख स्वरूप आत्मा में अविवेक से पैदा होते हैं। आत्मस्वरूप के विवेक होने से जिनके रागादि छूट गये हैं, ऐसे ही रागादिरहित मननशील मनुष्य को विवेकी लोग स्थितप्रज्ञ कहते हैं ॥५६॥

स्थित बुद्धिवाला कैसे बोलता है अब इसका उत्तर देते हैं—जो मननशील पुरुष विषयों से आसक्तिरहित होकर मूढ़जनों से अभिलषित सुख अर्थात् खीर, लड्डू इत्यादि तथा मीठी पेय वस्तु या कोमल वस्त्रादिकों को पाकर आनंदित नहीं होता और ठीक इसके उलटा दुःख देनेवाले, अरुचिकर भोजन, पान इत्यादि को पाकर दुःखी नहीं होता और उसके लिए किसी से प्रीति या द्वेष नहीं करता अर्थात् अच्छी वस्तु देनेवालों की बड़ाई खुशामद या बुरी वस्तु या गाली देनेवालों की शिकायत नहीं करता वही स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। राग-द्वेषादि दोषों से शून्य होने के कारण जो निन्दा-स्तुति से रहित होकर सबके हितार्थ कम बचन बोलता है (आत्म-तत्त्व के ज्ञान से युक्त वचन बोलता है) ऐसे मनुष्य की बुद्धि ही प्रतिष्ठित है, निश्चल है, वही वास्तव में स्थितप्रज्ञ है ॥५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञाप्रतिष्ठिता ॥५८॥

किमासीतेत्यस्योत्तरमाह—यदेति । यदा समाधेर्व्युत्थानसमये अयं योगी इन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादि-विषयेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वश इन्द्रियाणि श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियाणि संहरते बहिर्न प्रवर्त्तयति । कर्मेन्द्रियाणि त्वावश्यके कर्मणि संकोचेन प्रवर्त्तयति च । तत्र दृष्टान्तः कूर्मोऽङ्गानीवेति । यथा यथा कूर्मोऽन्यभयात्कर-चरणाद्यंगानि शरीरान्तरुपसंहरति आहारार्थं शनैर्निःसार्य्य प्रवर्त्तते च, तद्वत् । तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता स्थितप्रज्ञ एवमासीतेत्यर्थः ।

विषयाविनिवर्त्तन्ते निराहारस्यदेहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥५९॥

नन्वयोगिनां मूढानामपि रोगादिवशादिन्द्रियाणि विषयेभ्यः स्वयमुपसंह्रीयन्ते कथमिन्द्रियाणां विषयेष्वप्रवर्त्तनं स्थितप्रज्ञस्य लक्षणमिति चेत्तत्राह—विषया इति । निराहारस्य रोगेण भोजनरहितस्य देहिन इन्द्रियशैथिल्याद्विषयाः शब्दस्पर्शादिभोगास्तद्ग्रहणाशक्यत्वात् विशेषेण निवर्तन्ते इति सत्यं, तथापि रसवर्जं रसो विषयेष्वन्ता रागः स्नेहस्तं विना रोगिणः पुरुषस्य विषयभोगो निवर्तते । परन्तु

स्थितधी कैसे रहता है ? उसका उत्तर देते हैं। समाधि से उठने पर यह योगी शब्दादि सब विषयों से सब प्रकार इन्द्रियों को खींच लेता है अर्थात् उनको बाहर नहीं फैलने देता। आवश्यक कार्मों को करने के लिए बड़े संकोच से उनका व्यवहार करता है। इसमें समझने के लिए दृष्टान्त देते हैं। जैसे कछुआ भय के कारण अपने हाथ, पैर आदि अङ्गों को अपने शरीर के भीतर छिपाए रहता है, केवल भोजन संग्रह करने के लिए धीरे-धीरे कभी-कभी उनको निकालता है, उसी प्रकार यह योगी अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से रोके रखा है। ऐसे ही योगी की बुद्धि प्रतिष्ठित या स्थिर रहती है अर्थात् स्थितप्रज्ञ इसी भाँति रहता है ॥५८॥

अयोगी याने मूढ़ का मन भी रोगावस्था में विषयों से हट जाता है। तब विषयों से मन का हटना स्थितप्रज्ञ का लक्षण कैसे हो सकता है ? इस शंका का उत्तर देते हैं—

यह सही है कि रोग के कारण भोजन से रहित मनुष्य का मन, इन्द्रियों के विषय रस, रूप, गन्ध इत्यादि से हट जाता है, पर इसका कारण विषय त्याग नहीं है क्योंकि उस समय आहार आदि के न मिलने से जो भोग करने के लिए साधन रूप इन्द्रियाँ हैं वे शिथिल और बलहीन हो जाती हैं—इसलिए विषयों का भोग करने में अशक्त हो जाती हैं। किन्तु भीतर-भीतर मन में इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में राग बना ही रहता है। उसमें कोई कमी नहीं होती है। रोगी मन ही मन यह सोचता रहता है कि अच्छे होने पर सुन्दर षट्रस भोजन, पान, स्त्रीसंभोग इत्यादि सब विषयों का सुख भोगूंगा। किन्तु योगी में ऐसी बात नहीं होती।

दुःखनिवृत्तेरनन्तरं मधुराम्लभक्षणपानस्त्रीभोगादिसर्वं सुखं भोक्ष्यामीति मनसि वासना न निवर्त्तते इत्यर्थः। स रसोऽप्यस्य विदुषः परं परमानंदं दृष्ट्वा निवर्त्तते। नहि नित्यानन्तानन्दज्ञस्य विनाशिनि तुच्छानन्दे रागो भवति। परशब्दार्थस्तु सर्वानन्दकारणस्य निखिलहेयगन्धवर्जितस्य (ध्येयस्य) भगवतश्चिद्घनं वपुरेव। 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति, यदात्मको भगवाँस्तदात्मिका व्यक्तिः किमात्मको भगवान् ज्ञानात्मक ऐश्वर्यात्मकश्चे'ति श्रुतेः।

यततो ह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

स्थितप्रज्ञतायामिन्द्रियसंयमस्य कारणत्वमुक्तं तदभावे दोषमाह—यतत इति। हे कौन्तेय ! विपश्चितः विविधं गुणदोषं पश्यतो विवेकिनः पुरुषस्य यततोऽपि मनोध्येयरूपे प्रवणीकरणार्थं भूयो भूयो विषयेभ्यो विनिवर्त्तने प्रयतमानस्यापि मनः सर्वेन्द्रियाणि प्रसभं बलात्कारेण हरन्ति विषयेषु रागवत्कुर्वन्ति। यततोऽपि विपश्चितश्च कथं हरन्ति तत्राह—प्रमाथीनीति। प्रमथनशीलानि अतस्तद्विवेकं यत्नं चाकिञ्चित्कृत्वा विषयानुध्याने प्रवर्त्तयन्तीत्यर्थः।

परमानन्द को देखकर (पाकर) विद्वान योगी का विषयों में अन्तराग भी नष्ट हो जाता है। क्या नित्य अनन्त आनन्द को जाननेवाले को कभी तुच्छ विनाशी विषयानन्द में प्रेम हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं। परमानन्द का तात्पर्य यहाँ सर्वानन्द के कारण, समस्त हेय गुणों की गन्ध से रहित और सब मुमुक्षुओं के ध्येय भगवान् के चिद्घनविग्रह से ही है। क्योंकि श्रुति कहती है कि इसी ब्रह्मानन्द (परमात्मा) के आनन्द की मात्रा से सब लोग जीते हैं। अभिप्राय यह है कि सर्वानन्द-स्वरूप भगवान के ही आनन्द का छींटा इस लोक के आनन्द का कारण है। भगवान का स्वरूप जैसा आनन्दमय है, वैसे ही उनका विग्रह भी आनन्दस्वरूप है। भगवान का क्या स्वरूप है ? भगवान ज्ञानात्मक और ऐश्वर्यात्मक हैं। कहने का भाव यह है कि भगवान जैसे चिद्घन हैं वैसे ही उनका विग्रह भी चिद्घन होने से आनन्दस्वरूप है ॥५९॥

स्थितप्रज्ञता में इन्द्रिय संयम को कारण बतलाकर अब इन्द्रिय संयम के अभाव में जो दोष उत्पन्न होते हैं, उनको कहते हैं—

हे अर्जुन ! विवेकी पुरुषों के यत्न को मिट्टी में मिलाकर (बेकार करके) बलात् विषयों की ओर ले जाने की शक्तिवाली इन्द्रियाँ गुण-दोष के देखनेवाले विवेकी पुरुषों के भी मन को बलात् हरती हैं। उनके मन में भी विषयासक्ति उत्पन्न करती हैं। यद्यपि वह विवेकी पुरुष विषयों से अपने मन को हटाकर उसको ध्येय की ओर लगाने की बार-बार चेष्टा करता है तथापि इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं, अतः बलशील विवेकी पुरुष के मन में भी विक्षोभ पैदा करके विषयों (भोगों) के ध्यान में उसको लगा देती हैं ॥६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिताः ॥६१॥

यस्मादवशीकृतेन्द्रियाण्यनर्थकारणानि तस्मान्मुमुक्षुणा प्रथमं तज्जयः कर्त्तव्यः इत्याह—तानि दुष्टानि सर्वाणीन्द्रियाणि संयम्य सम्यङ्नियम्य वशीकृत्य युक्तः ध्येये नियुक्तमना आसीत् समादध्यादित्यर्थः । ननु यदि तानि प्रमाथीनि तर्हि कथं तेषां संयमः स्यादित्याह—मत्पर इति । अहं हृषीकेशः पर उत्कृष्ट उपायो यस्य स तथा मदाश्रयो भूत्वा अनायासेन जयेदित्यर्थः । मदाश्रयणं विनेन्द्रियाणि वशीकर्त्तुमशक्यानीति भावः । इन्द्रियवशीकरणमेव पुरुषार्थकारणमित्याह—वशे हीति-हीत्यवधारणे । यस्य साधकस्येन्द्रियाणि वशे भवन्ति तस्यैव प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवति, नान्यस्येत्यर्थः । एतावता किमासीतेत्यस्योत्तरमुक्तम् ।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

एवं वशीकृतेन्द्रियत्वं स्थितप्रज्ञतालक्षणमुक्तमिदानीं बाह्येन्द्रियसंयमे सत्यपि मनः संयमाभावे-ऽनर्थप्राप्तिः स्यादित्याह—ध्यायत इति द्वाभ्याम् । विषयान् रूपरसादीन् ध्यायतो मनसा पुनः पुनश्चिन्तयतः पुंसस्तेषु संग आसक्तिः सुखहेतुबुद्ध्या प्रीत्यतिशय उपजायते । संगात्कामः संगस्य परिणामो

वश में नहीं की गई इन्द्रियाँ अनर्थ की कारण हैं इसलिए मोक्षार्थियों को पहले उन्हीं को जय करना (जीतना) चाहिए, यही कहते हैं। इन दुष्ट तथा दुर्जेय इन्द्रियों को सम्यक् प्रकार से वश में करके मन को ध्येय-विषय में लगावे। यदि अर्जुन यह शंका करें कि इन्द्रियाँ तो बड़ी प्रबल हैं, ये कैसे वश में हो सकती हैं ? तो भगवान कहते हैं कि हमारा आश्रय ग्रहण करने से ही ये सहज में ही वश की जा सकती हैं क्योंकि मैं हृषीकेश हूँ अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी (नियन्ता) हूँ। कहने का तात्पर्य यह है कि बिना मेरी शरण में आए इन्द्रियाँ वश में नहीं हो सकतीं।

इन्द्रियों को वश में करना ही पुरुषार्थ का कारण है। जिस साधक की इन्द्रियाँ वश में हो गई हों उसी की स्थितप्रज्ञ संज्ञा होती है अर्थात् उसकी प्रज्ञा या बुद्धि निश्चल होती है। यहाँ तक, स्थितप्रज्ञ कैसे रहता है, उसका उत्तर कहा ॥६१॥

इस प्रकार इन्द्रियों को वश में करने को स्थितप्रज्ञता का लक्षण बताकर, बाहर की इन्द्रियों को वश में रखते हुए भी मन के संयम के अभाव से जो हानियाँ होती हैं, उनको दो श्लोकों से बतलाते हैं।

रूप, रस आदि विषयों का मन में बार-बार चिन्तन करने से मनुष्यों को उनमें आसक्ति पैदा होती है। वह उनमें, (उनको सुख का हेतु समझकर) अतिशय प्रीति होने से उनके लिए मन में काम

अवस्थाविशेषः, यस्मिन् जाते पुरुषो विषयानुभूय बधिरोऽन्धउन्मत्त इव जायते । स कामः सम्यग् जायते, कामात् क्रोधोऽभिजायते । कामे जाते विषयप्राप्तिप्रतिबन्धे सति तत्प्रतिबन्धकेषु जनेषु अभिज्वलनात्मकोऽन्तः करणपरिणामः क्रोधः साक्षाज्जायते । क्रोधात्संमोहः कार्याकार्याविवेको भवति । संमोहात् स्मृतिविभ्रमः स्मृतेराचार्योपदिष्ट शास्त्रार्थविचारस्य विभ्रमो भ्रंशो भवति । स्मृतिभ्रंशात् सुखरूपात्मव्यवसायात्मिकाया बुद्धेर्नाशो भवति। बुद्धिनाशात्प्रणश्यति सर्वपुरुषार्थहीनो मृततुल्यो भवतीत्यर्थः। तस्मान्मनो निग्रहोऽवश्यं कर्त्तव्य इति भावः ।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

मनसो निग्रहे बाह्येन्द्रियनिग्रहाभावोऽपि न दोषयोग इति वदन् व्रजेत्किमित्यवशिष्टस्य प्रश्नस्योत्तरमाह—रागादेः द्वाभ्याम् । तु शब्दः पूर्वस्माद्वैलक्षण्यद्योतनार्थः । विधेयः वशीभूतः आत्मा मनो यस्य स रागद्वेषवियुक्तैरिन्द्रियैर्विषयान् चरन् भुञ्जानः प्रसादं चित्तस्य प्रसन्नतामधिगच्छति निर्मलान्तःकरणो भवतीत्यर्थः ।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्न चेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

उत्पन्न होता है । काम संग का फल है । काम होने पर मनुष्य विषयों का अनुभव कर बहरा, अन्धा, और पागलों जैसा हो जाता है । उसको कुछ सुनाई या दिखाई नहीं पड़ता । काम से क्रोध पैदा होता है अर्थात् मन में काम उत्पन्न होने पर विषयप्राप्ति में रुकावट डालनेवाले मनुष्य के प्रति शरीर को जलानेवाली अन्तःकरण की वह अवस्था प्राप्त होती है जिसको क्रोध कहते हैं । क्रोध से मोह होता है जिसके वश में होकर मनुष्य कार्य या अकार्य (अच्छे-बुरे) का विचार नहीं कर सकता ! मोह होने से स्मृति अर्थात् आचार्य के सिखाए हुए सदुपदेशों को मनुष्य भूल जाता है जिसके कारण उसकी निश्चयात्मिका सुखरूपी बुद्धि लोप हो जाती, और जब बुद्धि ही नहीं रही तो उस बुद्धिहीन मनुष्य का नाश उपस्थित होता है । वह बुद्धिहीन मनुष्य सर्व पुरुषार्थ से रहित मृततुल्य हो जाता है । इसलिए सब अनर्थों की जड़ मन को जरूर वश में करना चाहिए ॥६२-६३॥

मन को रोक लेने पर बाहरी इन्द्रियाँ न भी रोकी जाँय तो कुछ ज्यादा हानि नहीं होती इसी को कहते हुए अर्जुन के अन्त के प्रश्न का उत्तर भगवान दो श्लोकों में देते हैं । प्रश्न था कि स्थितधी पुरुष कैसे चलता है ।

जिस मनुष्य ने मन को वश में कर लिया है, वह वश में की गई और राग-द्वेष से हीन इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ भी प्रसन्नता को प्राप्त करता है, अर्थात् उसके अन्तःकरण में कुछ भी विकार नहीं होता । वह निर्दोष और निर्मल बना रहता है ॥६४।

चित्तप्रसादे सति अस्य मुमुक्षोः सर्वदुःखानामाध्यात्मिकादीनां हानिरुपजायते। विषयासक्तचेतसां विपाकदशायां यान्यवर्जनीयानि दुःखानि, निर्मलमनसस्तेषां हानिर्नियतभोगनिवृत्तिरनायासेन भवतीत्यर्थः। न केवलं तस्य दुःखहानिमात्रमपि तु महत्फलं प्राप्नोतीत्याह—प्रसन्नचेतस इति। हीत्यवधारणे। प्रसन्नचेतस आशु शीघ्रमेव बुद्धिः पर्यवतिष्ठते परितः सर्ववृत्तीः समाकृष्य निश्चला भवतीत्यर्थः।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

उक्तार्थदृढीकरणायासंयतमनसः सर्वं विपरीतफलं दर्शयतीति—नास्ति इति। अयुक्तस्यवशीकृतचित्तस्य बुद्धिः सर्ववेदवेदान्तनिर्णीत तत्वविषयिणी व्यवसायात्मिका न भवति। किञ्च अयुक्तस्य भावना तत्त्वपरिशीलनात्मिका मनोवृत्तिर्नास्ति। अभावयतः भावनाशून्यस्य शान्तिर्विषयेभ्य उपरतिर्न भवति। अशान्तस्य सुखं दुःखलेशात् संभिन्नं नित्यानपायिसुखं कुतः स्यात्। प्राकृतविषयजन्यं राजसं सुखं तु तस्यापि भवति, विषयेन्द्रियसंयोगादित्यादिना वक्ष्यमाणत्वात्।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

अयुक्तस्य बुद्धिः कुतः? नास्तीत्यत आह—इन्द्रियाणामिति। हि यस्मात् इन्द्रियाणां चरतां

चित्त की प्रसन्नता होने से उस (मोक्ष की इच्छा करनेवाले) पुरुष के सब आध्यात्मिकादि दुःखों का नाश हो जाता है अर्थात् विषय में आसक्त चित्तवाले को विपाकदशा अर्थात् भोग के समय में जो दुःख उन्हें अवश्य भोगना ही पड़ता है, उन दुःखों से विषय में रागहीन पुरुषों का बिना ही परिश्रम छुटकारा हो जाता है। केवल दुःख से छुटकारा ही नहीं होता बल्कि और भी बड़ाभारी फल होता है। वह यह कि ऐसे प्रसन्न चित्तवाले की बुद्धि शीघ्र ही निश्चय सब वृत्तियों से याने इन्द्रियों के सब विषयों से हटकर ध्येयस्वरूप भगवान में निश्चल (केन्द्रित) हो जाती है ॥६५॥

पीछे कहे हुए विषय को दृढ़ करने के लिए असंयत मनवाले को जो विपरीत फल मिलता है उसको स्पष्ट करते हैं।

जिसने मन को वश में नहीं किया है उसको सब वेद-वेदान्त से निर्णय किए हुए परमतत्त्व निश्चयात्मिका (दृढ़) बुद्धि नहीं होती। ऐसे अयुक्त पुरुष की भावना अर्थात् तत्त्व को विचारने की भी मनोवृत्ति नहीं होती। अर्थात् उसका मन तत्त्व के विचारने में नहीं लगता। भावनाहीन मनुष्य को विषयों से शान्ति अथवा आराम नहीं होता। और जिसको शान्ति नहीं उसको नित्य अनपायी सुख कहाँ से मिल सकता है। प्राकृत विषयों से उत्पन्न राजसी सुख उसको भी मिल सकता है जैसा कि आगे "विषयेन्द्रिय संयोगात्" इत्यादि से कहेंगे ॥६६॥

अयुक्त अर्थात् जिसने इन्द्रियाँ वश में नहीं की हैं उसको बुद्धि (प्रज्ञा) क्यों नहीं होती, इसका अब उत्तर देते हैं।

विषयेषु प्रवर्त्तमानानां मध्ये यत्किमपीन्द्रियं मनोऽनुविधीयते, कर्मभूतं मनः पुरुषेणाऽनुवर्त्यते । तदिन्द्रियं मनो वा अस्य पुरुषस्य प्रज्ञां आत्मतत्वविषयिणीं बुद्धिं हरति, तत्वतः प्रच्याव्य स्वानुवर्त्तिनीं विषयाभिमुखीं करोति । तत्र दृष्टान्तः—वायुर्नाक्मिति । यथा अम्भसि नीयमानां नावं प्रतिकूलो वायुर्हरति । गन्तव्यमार्गात् प्रच्याव्य विकटे प्रक्षिप्य नाशयति, तद्वदित्यर्थः ।

तस्माद्यस्य महाबाहो ! निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

एवमिन्द्रियाणि प्रमाथीनीत्यादिनेन्द्रियाणां मनोबुद्धिभ्रंशकत्वं तन्नियमनस्य च स्थितप्रज्ञताहेतुत्वं चानेकधोपपाद्येदानीं तमर्थमनूद्योपसंहरति-तस्मादिति । यस्मादिन्द्रियाण्येव विषयप्रवृत्तिहेतुत्वेनानर्थकराणि तस्मात् हे महाबाहो ! यस्य पुरुषस्य सर्वशः सर्वप्रकारेण इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यो निगृहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवति ।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी ।
यस्यां जागर्त्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

ननु सर्वेन्द्रियव्यापारशून्यः स्थितप्रज्ञ उक्तस्तथाभूतो न कोऽपि दृश्यते, किन्त्वन्यजनवद्दर्शन श्रवणादि व्यापारः स्थितप्रज्ञस्याप्यवर्जनीयः कथमुक्तार्थः सम्भाव्येतेत्याशंक्य स्थितप्रज्ञस्य दर्शनादि सर्वलोकविलक्षणमित्याह—या निशेति । सर्वभूतानां प्राणिनां या निशेव निशा आत्मस्वरूपादिदर्शनयोग्या

जिस पुरुष का मन विषयों में लगी हुई इन्द्रियों का कुछ भी अनुसरण करता है उसका मन या इन्द्रियाँ उसकी प्रज्ञा या आत्मतत्त्वविषयिणी बुद्धि को हर लेती हैं । अर्थात् बुद्धि को तत्त्व से हटाकर अपनी अनुवर्त्ति बनाकर विषय की ओर लगा देती हैं । जिस प्रकार जल में चलते हुए असावधान मल्लाह की नाव को वायु ठीक राह से हटाकर विपत्ति में डाल नाश कर देती है ॥६७॥

इन्द्रियाँ बड़ी बलवती होती हैं और मन-बुद्धि को भ्रष्ट करनेवाली हैं । इसलिए इनका संयम करना स्थितप्रज्ञता का कारण है । इस बात को बहुत प्रकार से समझाकर अब भगवान स्थितप्रज्ञता का अर्थ कहकर इस विषय को समाप्त करते हैं ।

हे महाबाहो ! (अर्जुन) ये इन्द्रियाँ ही मनुष्य को विषय में लगाकर अनर्थ पैदा करती हैं । इसलिए जिस पुरुष ने इन्द्रियों को उनके विषयों से रोका है उसी पुरुष की बुद्धि स्थिर रहती है ॥६८॥

यहाँ तक शंका होनी है कि जैसे सोया हुआ पुरुष, इन्द्रियों के व्यापार से शून्य हो जाता है ऐसा इन्द्रियों के व्यापार से शून्य तो कोई देखा ही नहीं जाता स्थितप्रज्ञावालों का भी देखना सुनना और लोगों के ही देखने सुनने के समान होता होगा, तब पीछे जो कहा गया है कि ये स्थितप्रज्ञ इन्द्रियों के व्यापार को रोके रखते हैं, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? इसके उत्तर में स्थितप्रज्ञावालों के देखने सुनने की विलक्षणता बतलाते हैं ।

बुद्धिवृत्तिः, विषयासक्तचेतसां दर्शनाद्ययोग्यतया गाढान्धतमस्वती कुहूशर्वरीव, तस्यामात्मस्वरूपादि-दर्शनार्हबुद्धिवृत्तौ प्राणिमात्रनिशायां संयमी सम्यङ्नियमित-बाह्यान्त.करणे मुनिर्जागर्त्ति, प्रबुद्धः सन् याथात्म्येन शास्त्रतत्त्वं बुद्धावनुभवति। यस्यां तु विषयानुभवयोग्यायामनात्मनिष्ठायां बुद्धिवृत्तौ भूतानि अवशीकृत-बाह्यान्तःकरणाः प्राणिनः जाग्रति सावधानतया वर्त्तन्ते, सा विषयानुभवयोग्या बुद्धिवृत्तिः आत्मतत्वं याथात्म्येन पश्यतो मुनेर्निशा निशेव निशा विषयदर्शनानर्हा बुद्धिवृत्तिरित्यर्थः। अतः सम्भावितमेवेदं स्थितप्रज्ञस्य लक्षणमिति सिद्धम्।

आपूर्यमाणमचल-प्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

नन्वेवं निगृहीतसर्वेन्द्रियस्य सर्वविषयेभ्यो निवृत्तबुद्धेर्योगिनो योगप्रभावाद्यदि सर्वकामसिद्धयः स्वयं प्राप्नुयुः स तान् कामान् गृह्णीयाच्चेत्तर्हि तस्य तत्रासक्त्या तत्त्वतश्च्युतिः स्यादित्याशंकावारणाय आह—आपूर्णमाणमिति। सर्वाभिर्नदीभिः सदा आपूर्यमाणं तथाऽप्यनुल्लंघितमर्यादं समुद्रं पुनरपि वृष्टिजाः सर्वा आपः प्रविशन्ति स यद्वन्न कञ्चन विशेषमापद्यते, तद्वत्। विषयात्मभिः काम्यन्त इति कामाः सर्वे रूपरसादयो विषयाः प्रारब्धवशाद्योगविघ्नार्थं देवैः प्रेषिताः वा यं स्थितप्रज्ञं मुनिं प्रविशन्ति तदिन्द्रिय-

---

जो आत्मस्वरूप के दर्शन करने के योग्य बुद्धिवृत्ति सब विषयासक्त जीवों के लिए अमावस्या की अंधेरी रात जैसी है, अर्थात् जैसे अंधेरी रात में कुछ नहीं सूझता वैसे ही इन जीवों को आत्मतत्व का अनुभव नहीं होता, उस रात्रि में इन्द्रिय संयम करनेवाले जागते हैं। अर्थात् जो लोग अच्छी रीति से बाहर भीतर की इन्द्रियों को संयम में किए हुए हैं, वे जागकर अपनी बुद्धि में शास्त्रोक्त तत्त्व आत्म-स्वरूप का यथार्थ अनुभव करते हैं। और विषय को अनुभव करने की शक्ति या योग्यता रखनेवाली और अनात्म वस्तु में निष्ठा रखनेवाली जिस बुद्धिवृत्ति में बाहर भीतर की इन्द्रियों को नहीं वश में किए हुए लोग जागते हैं अर्थात् उसमें साबधानी से लगते हैं वह आत्मतत्व को साक्षात् देखनेवाले मुनियों को रात्रि के समान है। अर्थात् वे मुनिलोग उसमें आत्मतत्व का साक्षात् अनुभव करते हैं, अतएव उनकी बुद्धि विषयों के दर्शन के अयोग्य हो जाती हैं। इसलिए स्थितप्रज्ञ का जो ऊपर लक्षण कहा गया है वह सम्भव है ऐसा सिद्ध हुआ ॥६९॥

यदि ऐसे इन्द्रियसंयमी और सब विषयों से निवृत्त बुद्धिवाले योगी को उसके योग के बल से सब सिद्धियाँ आप ही आप प्राप्त हो जाएँ और वह उनको ग्रहण कर ले तब उनमें उसकी आसक्ति हो सकती है। और इस प्रकार वह तत्त्वज्ञान से गिर सकता है। इसी शंका का उत्तर देते हैं—

जैसे सब नदियों के जल से सदा भरे हुए सदा अचल और अपनी मर्यादा को न छोड़नेवाले समुद्र में वर्षा का सब पानी आ गिरता है पर समुद्र में उससे कोई विकार, बढ़ना या घटना अथवा और कोई विशेषता पैदा नहीं होती उसी प्रकार प्रारब्धवश आए हुए या योग में विघ्न करने के लिए

ग्राह्यतां स्वयमेव प्राप्नुवन्त्यपि किञ्चिद्विकारं कर्त्तुं न प्रभवन्ति। स शान्तिं सर्वविक्षेपहेतुकर्मध्वंसेन निरतिशयानन्दरूपां मुक्तिमाप्नोति। न तस्य तत्त्वनिष्ठाया भ्रंशशंकाऽपीत्यर्थः। विषयिणस्तदभावमाह—न कामकामीति। कामान्विषयान्कामयितुं शीलं यस्य स तथा शान्तिं न प्राप्नोति। किन्तु विषयानुभवार्हे संसार एव वर्त्तते।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

एवम्भूतमहाफलस्य योगस्य कोऽधिकारीत्यपेक्षायामाह—विहायेति। सामान्ययच्छब्दप्रयोगात्सर्वविषयत्यागपूर्वकालनिष्ठायां वर्णाश्रमविशेषनियमो नास्ति। किन्तु यः कश्चिदपि पुमान्सर्वान्कामानप्राप्तान्प्राप्तान्वा विहाय विशेषेण त्यक्त्वा देहयात्रामात्रेऽपि निस्पृहः अत एव निर्मम यदृच्छाप्राप्ते भोजनाच्छानादौ ममेदमित्यभिमानशून्यः पुनश्च निरहंकारः देहेन्द्रियादावहंकाररहितः आत्मनस्तद्वैलक्षण्यज्ञानपूर्वकदेहादि संबंधस्यानित्यत्वज्ञानात् चरति यदृच्छाप्राप्तभोगान् भुङ्क्ते यत्र क्व वा गच्छति स शान्तिमुक्तलक्षणामधिगच्छति निर्वन्धतया प्राप्नोति।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वा स्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

देवताओं द्वारा भेजे हुए रूप, रस, गन्धादि विषय उस स्थितप्रज्ञ मुनि की इन्द्रियों को स्वतः प्राप्त हो जाते हैं, पर वे विषय, उसके मन में कोई विकार पैदा नहीं कर सकते।

ऐसा स्थितप्रज्ञ मुनि विक्षेप उत्पन्न करनेवाले सब कर्मों का विध्वंस कर शान्ति अर्थात् निरतिशय आनन्दरूप मुक्ति को पाता है। भाव यह है कि उसके तत्त्वज्ञान से गिरने की कोई भी आशंका नहीं रहती।

जो कामना की इच्छा करनेवाले और लोग हैं वे इस शान्ति को नहीं पाते। वे विषय के अनुभव करने योग्य संसार में ही स्थित रहते हैं ॥७०॥

ऐसे महाफलवाले योग का कौन अधिकारी है ? उसको कहते हैं—

जो कोई मनुष्य, चाहे वह किसी भी जाति या आश्रम का ही क्यों न हो, सब प्राप्त या अप्राप्त कामों या अभिलाषाओं को पूर्णरूप से छोड़ देहयात्रा में भी स्पृहाहीन हो अर्थात् भोजन-कपड़ा कैसे मिलेगा इसकी भी चिन्ता छोड़ और इसीलिए भोजन-कपड़े में ममतारहित हो और देह-इन्द्रिय आदि में भी यह जानकर कि ये आत्मा से भिन्न हैं और इनका आत्मा के साथ सम्बन्ध भी अनित्य है, अहंकाररहित होकर अपने प्रारब्ध से प्राप्त भोगों को भोगता हुआ जहाँ कहीं रहे, वह बिना रोक-टोक के शान्ति अथवा मोक्ष को पाता है ॥७१॥

उक्तात्मनिष्ठां स्तुवन्नुपसंहरति-एषेति। एषाऽसंगकर्मपूर्विका ब्राह्मी ब्रह्मसंबंधिनी ब्रह्मप्रापिकेति यावत् स्थितिः स्थितप्रज्ञा लक्षणा निष्ठोक्तेति शेषः। एनां स्थितिं प्राप्य कर्मयोगी न विमुह्यति देहात्मबुद्धिं न प्राप्नोति। अस्यां स्थित्यां अन्तकाले मरणासन्नकालेऽपि स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मणि निर्वाणं सर्वकर्मध्वंसपूर्वकं दुःखात्यन्ताभावं निरतिशय-सुखं मोक्षमृच्छति प्राप्नोति। प्राकृतोभयशरीर त्यागपूर्वकमप्राकृतदेहवान् भूत्वा निरंतरभगवद्भजनानंदसुखानुभवयोग्यो भवतीति भावः। किं पुनर्वक्तव्यं ? यदि पूर्वसमर्थे वयस्यस्यां स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणमृच्छतीति।

भगवत्प्राप्तिहेतुस्तत्पराभक्तिर्हि वक्ष्यते।
तदंगमात्मविज्ञानं साधनं तस्य कर्म च ॥१॥
असंगं तेन शुद्धात्मा स्थितप्रज्ञो भवेत्ततः।
सर्वदुःखविनिर्मुक्तः परां शान्तिनिगच्छति ॥२॥
इति गीतार्थसंक्षेपः श्रीकृष्णेन कृपावशात्।
अध्यायेऽस्मिन् समादिष्टो भक्तानां हितसिद्धये ॥३॥

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायां तत्वप्रकाशिकायां जगद्विजयिश्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यविरचितायां गीतासंग्रहार्थप्रकाशो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

हे अर्जुन यह मैंने तुमसे ब्राह्मीस्थिति कही, अर्थात् आसक्तिहीन कर्म से युक्त जो स्थिति ब्रह्मसम्बधिनी या ब्रह्म को मिलानेवाली है। इस स्थिति को प्राप्तकर कर्मयोगी को मोह नहीं होता अर्थात् देह में आत्मबुद्धि उत्पन्न नहीं होती। मरणकाल में भी इस स्थिति में स्थित हो जाने से मनुष्य को सब दुःखों से एकदम रहित, निरतिशय सुख का देनेवाला मोक्षपद मिलता है। अर्थात् वह जीव स्थूल सूक्ष्म दोनों प्रकार के प्राकृत शरीरों को छोड़ अप्राकृत (दिव्य) शरीर को धारण कर सदा भगवत् भजन के आनंद सुख को अनुभव करने योग्य हो जाता है और यदि वह ब्राह्मीस्थिति युवावस्था से ही हो जाय तो फिर क्या पूछना ? ॥७२॥

इस दूसरे अध्याय में भगवान् को प्राप्त करने का कारण पराभक्ति कही। इस पराभक्ति का अङ्ग आत्मस्वरूप का विज्ञान अर्थात् देह और आत्मा का यथार्थ विवेक भी बतलाया। और देहात्मविज्ञान का साधन आसक्ति रहित निष्कामकर्म करना और उस निष्कामकर्म से अन्तःकरण की शुद्धि, तब श्रीभगवान् का आश्रयग्रहण करने से इन्द्रियों का संयम, उससे स्थितप्रज्ञता और तब सब दुःखों से छुटकारा पाकर पराशान्ति (मुक्ति) लाभ होना, यह समूचे गीताशास्त्र का अर्थ संक्षेप में श्रीकृष्णभगवान् ने कृपा करके भक्तों के हित के लिए इसमें कहा।

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायां द्वितीयोऽध्याय ॥२॥

* श्रीमते निम्बार्काय नमः *

श्रीमद्भगवद्गीता

तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ? ॥१॥

एवं तावदर्जुनस्यात्मतत्त्वोपदेशनिमित्तशोकमोहप्रदर्शनायोपोद्घातत्वेन प्रथमाध्यायो निरूपितः । ततः शोकमोहनिवृत्तये देहात्मविवेकः तत्साधनभूतासंगकर्मयोगसत्त्वशुद्धिपूर्वकभगवदाश्रयणसाध्य-सर्वेन्द्रियसंयमस्ततः स्थितप्रज्ञता तत्फलं सर्वदुःखनिवृत्तिपूर्वकपरमा शान्तिरिति सर्वगीताशास्त्रार्थः संक्षेपेण द्वितीयाध्याये निरूपितः । तत उक्तार्थस्यैव षोडशाध्यायैर्विस्तरो कृतो बोध्यः । तत्र तावत्पूर्वाध्याये 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वमिति श्लोकेनात्मज्ञानहीनं मां कुत्सयित्वा 'न त्वेवाहमित्यारभ्य 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिरि'त्यन्तेन शोकविनाशोपायं ज्ञानयोगम् मह्यमुपदिश्य पुनर्योगेत्विमां शृण्वि'त्युक्त्वा 'कर्मण्ये-वाधिकारस्ते, मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि, योगस्थः कुरुकर्माणि' इत्यादिना कर्मनिष्ठामुपादेयतयाऽभिधाय 'श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चले'त्यादिना समाधिनिष्ठामुपदिश्य, स्थितप्रज्ञलक्षणे सर्वकाम-

---

अर्जुन को आत्मतत्त्व का उपदेश देने के लिए पहले अध्याय में भूमिका के स्वरूप में उनके शोक मोह को दिखाया। उसके बाद दूसरे अध्याय में उनके शोक मोह को छुड़ाने के लिए देह और आत्मा का विवेक अर्थात् उनकी पृथक्ता का निरूपण किया। फिर इस विवेक के साधनभूत इन्द्रिय-संयम को बताया। अनन्तर यह इन्द्रियसंयम आसक्तिहीन कर्मों के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धिपूर्वक, भगवान् का आश्रय ग्रहण करने से ही प्राप्तव्य है, यह बताया। फिर इस इन्द्रियसंयम से स्थितप्रज्ञता प्राप्त होती है, जिसका फल सर्वदुःखों की निवृत्तिपूर्वक परमशान्ति (मुक्ति) मिलना है।

अब अर्जुन कहते हैं कि हे भगवान् ! पीछे के अध्याय में 'न शोक करने योग्य वस्तु के लिए तुम शोक करते हो' इस श्लोक से आपने मुझ (आत्मज्ञानहीन) को भर्त्सना कर "नत्वेवाहम्" इस श्लोक से प्रारम्भ कर "एषातेभिहिता सांख्ये", तक के श्लोकों से ज्ञानयोग को शोक के विनाश का उपाय बताया। फिर "पुनर्योगेत्विमां श्रृणु", ऐसा कह "कर्मण्येवाऽधिकारस्ते", "मा ते संगोस्त्वकर्मणि", "योगस्थः कुरु कर्माणि", इत्यादि से कर्मनिष्ठा का प्रतिपादन किया। फिर 'श्रुति विप्रतिपन्नाते यदा

त्यागपूर्वक-सर्वेन्द्रियसंयममात्मनैव संतुष्टत्वं चोक्त्वा 'या निशे'त्यादिना 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति'इति ज्ञानफलेनोपसंहारात् मध्येऽभिहितायाः कर्मबुद्धेः सकाशात् ज्ञाननिष्ठाया ज्यायस्त्वं भगवतोऽभिप्रेतमिति प्रतीयते । एवं सति सर्वज्ञो हितोपदेष्टा गुरुर्भगवान् निकृष्टे कर्माधिकारे कथं मां नियोजयतीति संदिह्य, पृच्छति । अर्जुन उवाच—ज्यायसी चेदिति । हे जनार्दन ! श्रेयोऽर्थिभिः सर्वैर्भक्तैः स्वस्याभीष्टमर्द्यते याच्यते तथा भूतस्त्वं मयाऽपि स्वश्रेयः साधननिश्चयार्थं याच्यते इत्यर्थः । कर्मणः सकाशात्, बुद्धिर्ज्ञानयोगाख्या मोक्षहेतुत्वेन ज्यायसी श्रेष्ठतरा चेद्यदि ते तव मता ? तत्तर्हि किं किमर्थं घोरे हिंसाबहुले युद्धाख्ये कर्मणि मां त्वदेकशरणं नियोजयसि । 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इत्यादिना प्रेरयसि । हे केशव ब्रह्मशिवादीनामीश्वर ! त्वया भक्तस्य मम बुद्धि-व्यामोहो न कर्त्तव्य इत्यभिप्रायः ।

व्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

ननु नाहं त्वद्बुद्धिं मोहयामि त्वं मे किं व्यामोहकत्वं पश्यसि तद्वदेति चेत्तत्राह—व्यामिश्रणैवेति । 'न त्वेवाहमि'त्यादिना ज्ञाननिष्ठामुपदिश्य 'योगस्थः कुरु कर्माणी'ति कर्मनिष्ठां चोपदिश्य पुनरन्ते

स्थास्यति निश्चला', इत्यादि से समाधिनिष्ठा का उपदेश कर सर्वकर्मत्यागपूर्वक इन्द्रियों के संयम को और आत्मा में ही आनन्द के अनुभव करने को स्थितप्रज्ञ का लक्षण बतलाया और शेष में फिर "या निशा" इत्यादि से और "एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! "स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति" से स्थितप्रज्ञता के ज्ञानरूपी फल का कथन किया ।

इससे मालुम होता है कि आपके मत में ज्ञाननिष्ठा कर्मबुद्धि से श्रेष्ठ है, क्योंकि आरंभ और अन्त में आपने ज्ञाननिष्ठा की ही बड़ाई की है । यदि यथार्थ में ऐसी बात है और आपका यही मत है तो आप सर्वज्ञ, हित का उपदेश देनेवाले, भगवान्, और हमारे गुरु होकर मुझे ज्ञान की अपेक्षा निकृष्ट कर्म में क्यों लगाते हैं ? ऐसा ही मन में सन्देह कर अर्जुन, भगवान् से पूछते हैं—"हे जनार्दन ! (जनार्दन शब्द का अर्थ यह है कि अपने श्रेय की इच्छा करनेवाले सब भक्त आपसे अपने अभीष्ट की याचना करते हैं । मैं भी अपने श्रेय के निश्चय करने के लिए आपसे प्रार्थना करता हूँ ।) यदि आपके विचार में मोक्ष पाने के लिए कर्म से ज्ञानयोग अर्थात् बुद्धि ही श्रेष्ठ है, तब आप मुझको, जिसके आप ही एकमात्र शरण्य हैं, ऐसे हिंसापूर्ण घोर युद्ध में "कर्मण्येवाधिकारस्ते" ऐसा कहकर क्यों लगाते हैं ? अभिप्राय यह है कि हे केशव ! अर्थात् ब्रह्मा, शिव आदि के स्वामी आपको मेरे जैसे भक्त की बुद्धि में मोह उत्पन्न करना उचित नहीं है ॥१॥

यदि भगवान कहें कि हम तो तुम्हारी बुद्धि को नहीं मोहते हैं । हमारे वचनों में मोह उत्पन्न करनेवाली कौन-सी बातें हैं ? तब भगवान् के इस प्रश्न का अर्जुन यों उत्तर देते हैं—"नत्वेवाहं जातुनासं" इत्यादि श्लोकों से आपने ज्ञाननिष्ठा का उपदेश दिया । फिर "योगस्थः कुरु कर्माणि" से

ज्ञाननिष्ठामेव सप्रशंसं यदुपदिष्टवान् भवांस्तत्ते वाक्यमधिकारिभेदाप्रतिपादनेन मदेकविषयत्वाद्व्यामिश्रेणेव वाक्येन मम बुद्धिं मोहयसीव। यद्यपि महाकारुणिकस्य सर्वसुहृदो गुरोस्तव मोहकत्वं नास्त्येव, तथापि तव वाक्यार्थानिश्चयान्ममैव तथा भातीतीव शब्दाभिप्रायः। यस्मादेवं तस्मादेकं ज्ञानं कर्म वा निश्चित्य वद येनानुष्ठितेनाहं श्रेयोऽर्थी श्रेय आप्नुयां प्राप्नुयाम्।

श्रीभगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ !।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥

तत्रोत्तरं—श्रीभगवानुवाच। लोकेऽस्मिन्निति। हे अनघार्जुन ! त्वं तूपदेशयोग्यः, यथा तव संदेहो जातस्तथा न मया मोक्षसाधनत्वेन परस्परनिरपेक्षत्वेन ज्ञानकर्मात्मिके द्वेनिष्ठे एकाधिकार्य्युद्देशेनाभिहिते, किन्तु एकस्याप्यधिकारभेदेनांगांगिभावेन निष्ठाद्वयमुक्तमिति विविच्य दर्शयति-लोक इति। नानाविधेऽपि अस्मिन् लोके जने मुमुक्षुजनोद्देशेन द्विविधा द्विप्रकारा ज्ञानकर्मात्मिका निष्ठा मत्प्राप्तिसाधनलक्षणा स्थितिर्यथाधिकारमसंकीर्णा पुरा पूर्वाध्याये मयोक्ता 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु'इत्यादिना। अधिकारभेदमेव दर्शयति—ज्ञानेति। सम्यक्ख्यायते आत्मतत्वमनयेति संख्या बुद्धिस्तन्निष्ठाः सांख्यास्तेषां यथाऽधिकारमनभिहितफलकैरीश्वराराधनभूतैः कर्मभिः शुद्धान्तःकरणानां

कर्मनिष्ठा का उपदेश किया और अन्त में फिर ज्ञाननिष्ठा की ही प्रशंसा कर उसी का उपदेश दिया, और ये सब बातें अधिकारी भेद के अभाव में मेरे ही लिए कही गईं। अर्थात् मैं ही इन दोनों ज्ञान और कर्मनिष्ठाओं का अधिकारी माना गया। इसलिए इन बातों से मेरे मन में मोह जैसा मालुम होता है। (यद्यपि परम कारुणिक, सबको भलाई करनेवाले और गुरु होकर आप मोह पैदा नहीं करना चाहते हैं, पर वाक्यार्थ का निश्चय न होने के कारण मुझको ही मोह-सा मालुम पड़ता है। इस श्लोक में 'इव' शब्द का व्यवहार करने का यही भाव है।) अतएव ज्ञान या कर्म किसी एक को निश्चय करके कहिए जिससे कल्याण चाहनेवाले मुझको श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त हो ॥२॥

अर्जुन के प्रश्न का भगवान् उत्तर देते हैं—हे पापरहित अर्जुन ! (पापरहित कहने का आशय यह है कि तुम उपदेश के योग्य हो।) जैसा तुमने सन्देह किया है वैसी बात नहीं है। मैंने ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा को मोक्ष के साधन में परस्पर निरपेक्ष -अर्थात् बिना सम्बन्ध के नहीं बतलाया है। और यही कहा है कि एक मनुष्य के लिये भी अधिकार भेद से ये दोनों निष्ठायें अंगाङ्गी सम्बन्धवाली हैं। इसी बात को अधिक स्पष्ट कर भगवान् आगे कहते हैं—

पीछे के अध्याय में एषातेऽभिहिता साँख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु" इत्यादि श्लोकों से मैंने यह कहा था कि इस नानाविध मनुष्यवाले संसार में मुमुक्षुजनों के लिए दो प्रकार की निष्ठाएँ होती हैं। एक ज्ञाननिष्ठा और दूसरी कर्मसम्बन्धी निष्ठा। इन दोनों निष्ठाओं से मनुष्य मुझे प्राप्त कर सकता है। अधिकारी भेद से दोनों पृथक् और अमिश्रित हैं। (अब अधिकार का भेद नीचे दिखाते हैं।) जिन

ज्ञानयोगेन स्थितप्रज्ञता लक्षणा निष्ठोक्ता। 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत् मत्परः'। इत्यादिना। योगिनां पूर्वमननुष्ठितानभिसंहितफलकर्मणामशुद्धान्तः करणानां मुमुक्षूणामुक्तसांख्यनिष्ठामारुरुक्षूणामन्तःकरणशुद्धिद्वारा स्थितप्रज्ञतालक्षणज्ञानारूढताप्राप्त्यर्थं योगो निष्कामकर्मानुष्ठानं तद्वतां योगिनां कर्मयोगेन 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इत्यादिना निष्ठा स्थितिरुक्ता। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन इति श्रुतेः कर्मणां विविदिषायां विनियोगात्। न चैवोधिकारभेदोऽनुष्ठातृपुरुषभेद एव नियत इति शंकनीयम्, एकस्यापि पुरुषस्यावस्थाभेदेनाधिकार—भेदस्य संभवात्। तथाहि 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या तृतीया शक्तिरिष्यते।' इति श्रुतिस्मृत्यभिहिताविद्याशब्दवाच्येन कर्मणा पुरुषो मृत्युं प्रमादं तीर्त्वा तत्कारणमन्तःकरणमलं विधूय विद्ययाऽमृतं मोक्षमश्नुते प्राप्नोति इति श्रुत्यर्थानुसारेण मुमुक्षायां जातायां पुरुषो न सहसा ज्ञानेऽधिकरोति[1]। अपितु निष्कामकर्मानुष्ठानेनान्तःकरणशुद्धिद्वारेणैवेति भगवतानिष्ठाद्वयमुपदिष्टम्। यस्य तु

मुमुक्षुओं का अन्तःकरण यथाधिकार निष्काम ईश्वराराधन रूप कर्मों से शुद्ध हो गया है, इस कारण जिनकी आत्मतत्त्वविषयिणी बुद्धि में निष्ठा है, ऐसे सांख्यों के लिए ज्ञानयोग से स्थितप्रज्ञ लक्षणवाली निष्ठा होना मैंने "तानि सर्वाणिसंयम्य युक्त आसीत मत्पर" इत्यादि श्लोकों से प्रतिपादन किया। और जिन मुमुक्षुओं का अन्तःकरण इस प्रकार शुद्ध नहीं हुआ है, पर ऊपर कही गई सांख्यनिष्ठा के पथ के पथिक और मुमुक्षु हैं, उनको अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा स्थितप्रज्ञता लक्षण ज्ञान के मार्ग पर चलने के लिए मैंने "कर्मण्येवाधिकारस्ते" इत्यादि श्लोकों से कर्मयोग की निष्ठा प्रतिपादन की। श्रुति भी भगवान को जानने की योग्यता उत्पन्न करने में कर्म की उपयोगिता कहती है। यथा—

"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन, दानेन, तपसाऽनाशकेन" अर्थात् वेदाध्ययन यज्ञ, तप, दान और उपवास से ब्राह्मण लोग उस ब्रह्म को जानने की इच्छा करते हैं। यहाँ ऐसी शंका नहीं करना चाहिए कि अधिकार भेद से अधिकारी का भी भेद अवश्य ही होगा, क्योंकि एक ही मनुष्य अवस्थाभेद से ज्ञान और कर्म दोनों का अधिकारी हो सकता है, अर्थात् एक ही मनुष्य पहले कर्मयोगी होकर, जब निष्काम कर्म से उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाए तो ज्ञानयोग का अधिकारी बन सकता है। फिर स्मृति कहती है—

पुरुष अविद्या अर्थात् कर्म से मृत्यु नाम प्रमाद को पार करके विद्या से अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है। अविद्या का ही नाम कर्म है, और इसको तीसरी शक्ति कहते हैं। (परा और अपरा ये दो शक्तियाँ और हैं।) इस श्रुतिस्मृति से कथित अविद्या अर्थात् कर्म से मनुष्य प्रमाद को पारकर (उसके कारण अन्तःकरण के मल को धोकर) विद्या से मोक्ष लाभ करते हैं।

इससे यह प्रमाणित होता है कि मुमुक्षु पुरुष सहसा ज्ञान का अधिकारी नहीं हो सकता। किन्तु निष्काम कर्म के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त करके ही ज्ञान का अधिकारी हो सकता है। जिस पुरुष

१—अधिकारी भवति।

कर्मानुष्ठानं विनैवेह जन्मन्युक्तलक्षणं ज्ञानं जायेत तस्य जन्मान्तरानुष्ठितनिष्कामकर्मभिरन्तःकरण-शुद्धिरनुमेयेति नोक्तव्यवस्थायां कश्चिद्विरोधः ।

न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥४॥

कर्मणां ज्ञानार्थे विनियोग इत्युक्तं तदभावे न ज्ञानप्राप्तिरित्याह—न कर्मणामिति । स्वस्ववर्णाश्रमोचितभगवदाज्ञापालनात्मककर्मणामनारम्भादकरणान्नैष्कर्म्यं कर्मराहित्यं ज्ञानं पुरुषो नाश्नुते न प्राप्नोति । ननु 'एतमेव लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ती'ति श्रुतेः सर्वकर्मसंन्यासादेव मोक्षाभिधानात्किं कर्मभिरित्यत आह—न चेति । चित्तशुद्ध्यभावेन ज्ञानं विना कृतात्केवलात्संन्यासात्सिद्धिं मोक्षं न च समधिगच्छति प्राप्नोति । लोके संन्यासीति प्रथामात्रप्राप्तावपि न संन्यासफलभाग्भवतीत्यर्थः[1] ।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यतेह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

तस्य फलपर्यवसायित्वं दूरे तिष्ठतु तावत्सर्वकर्मसंन्यासएवाशक्य इत्याह नहीति जातु कदाचित् कश्चिदपि मूर्खो ज्ञानी वा क्षणमपि अकर्मकृत्कर्माकुर्वाणो न हि तिष्ठति । हीत्यवधारणे । नैव तिष्ठति ।

को इस संसार में कर्म के अनुष्ठान के बिना ही उक्त प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, समझना चाहिए कि उसने पूर्व जन्म में निष्काम कर्म करके अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त कर ली है ॥३॥

कर्मों का उपयोग ज्ञानप्राप्ति के लिए है, ऐसा पूर्व श्लोक में कहकर अब यह बतलाते हैं कि कर्म के न करने से ज्ञान प्राप्ति नहीं हो सकती ।

भगवदाज्ञा समझ अपने अपने वर्णाश्रम के कर्मों को नहीं करने से मनुष्य, कर्म से राहित्य अर्थात् ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता । पर श्रुति कहती है कि—"एतमेव लोकमिच्छन् प्रव्रजन्ति" अर्थात् परब्रह्म के लोक की इच्छा करनेवाले सब कर्मों को पूर्णरूप से त्याग देते हैं । इस प्रकार जब सब कर्मों के त्याग को ही श्रुति ने मोक्ष का कारण बताया, तो फिर कर्म करने से क्या प्रयोजन ? इसका उत्तर यहाँ देते हैं कि चित्तशुद्धि के अभाव में ज्ञान नहीं होता है और ज्ञान के बिना केवल सन्यास से सिद्धि अर्थात् मोक्ष को कोई प्राप्त नहीं कर सकता । संसार में नाममात्र का सन्यासी कहलाकर भी ऐसा अशुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष सन्यास के फल का अधिकारी नहीं हो सकता ॥४॥

सन्यास का फल मिलना तो दूर रहा, पहले सब कर्मों का छोड़ना ही असम्भव है । इसी अभिप्राय को इस प्रकार कहते हैं—

मूर्ख या ज्ञानी कोई भी कभी क्षणभर के लिए भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता । अर्थात् वैदिक अथवा लौकिक कर्म वह जरूर करेगा ही । क्योंकि वह अवश (बन्धन में) है । अर्थात् जब तक

१—भाग्भवतीति भावः ।

अपि तु वैदिकं लौकिकं वा कर्मकुर्वन्नेव तिष्ठतीत्यर्थः। हि यतोऽवशः यावत्स्थूलसूक्ष्मदेहहेतुभूतकर्मास्ति तावत्प्रकृतिवशगस्तस्मात्प्रकृतिजैः सर्वजगद्धेतुप्रकृतिसमुद्भवैः सत्वादिभिर्गुणैः सर्वोऽपि जनः कर्म कार्य्यते। बलात्कर्मणि नियुज्यते। तस्मान्मुमुक्षुणा ज्ञानप्रतिबंधकपापक्षयार्थं स्वोचितः कर्मयोग एवानुष्ठेयः।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

ननु कर्मणः कर्मेन्द्रियाधीनत्वात् तन्नियमने कर्म कथं स्यादिति चेत्तत्राह—कर्मेन्द्रियाणीति। यो विमूढात्मा अनादिविषयवासनया मलीमसत्वेनऽऽत्मतत्त्वस्मरणानर्हतया विषयासक्तमनाः कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, मनसा इन्द्रियार्थान्विषयान् स्मरन्नास्ते, स मिथ्याचार उच्यते। निष्कामकर्मानुष्ठानं विनाऽनादिपापानिवृत्त्या मनसो विषयासंगोऽवर्जनीय इति भावः। तस्मात्परमार्थोपयोगित्वाभावात् सर्वकर्मसंन्यास्यहमिति लोके दर्शयितुं मिथ्या वृथैव कर्मेन्द्रियसंयमरूपाचारो यस्य स तथाउच्यते। शास्त्रविद्भिरिति शेषः।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

तस्माद्विषयासक्तिशून्यः कर्मकर्त्ताऽपि ततः श्रेष्ठ इत्याह—यस्त्विति। तु शब्दः पूर्वोक्तसंन्यासिनो

स्थूल और सूक्ष्म शरीर के कारणरूप कर्म स्थित हैं तब तक वह प्रकृति के आधीन है। इसलिए प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व, रज और तमोगुण ये सबसे बलात्कार कर्म कराते हैं। इसलिए मुमुक्षु को ज्ञान की प्राप्ति में प्रतिबन्धक (रुकावट डालनेवाले) पापों के नाश के लिए अपने वर्ण और आश्रम के उचित कर्मों को जरूर करना चाहिए ॥५॥

यहाँ यह शंका हो सकती है कि कर्म कर्मेन्द्रियों के आधीन हैं, तब इन्द्रियों का नियम न होने से कर्म कैसे सम्भव हो सकता है? इस शंका का उत्तर भगवान इस प्रकार देते हैं, यथा—

अनादि विषयवासना से उत्पन्न मलिनता के कारण आत्मतत्त्व के विचार के अयोग्य और इस कारण विषयों में आसक्त जो मनुष्य कर्मेन्द्रियों का नियमन कर मन से विषयों का स्मरण करता रहता है, उस मनुष्य को शास्त्र के जाननेवाले मिथ्याचारी कहते हैं। उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि निष्काम कर्म के अनुष्ठान के बिना अनादि पाप की निवृत्ति नहीं होती, और इस निवृत्ति के बिना मन का विषय से संग नहीं छूट सकता। इसलिए सब कर्मों का बनावटी संन्यास (त्याग) मोक्ष का देनेवाला नहीं हो सकता। ऐसा संन्यासी निरर्थक संन्यास का ढकोसला दिखाता है और उसका कर्मेन्द्रियों का संयमरूप आचार व्यर्थ है ॥६॥

इस कारण ऐसे मिथ्याचारी संन्यासी से विषयासक्ति से शून्य कर्म का करनेवाला श्रेष्ठ है। श्रीभगवान् यही भाव यहाँ प्रकट करते हैं—

वैलक्षण्यद्योतनार्थः। इन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि आत्मस्मरणयोग्येन विषयविमुक्तेन मनसा नियम्य वशीकृत्य कर्मेन्द्रियैः वाक्पाणिपादादिभिः कर्मयोगमसक्तः फलाभिसन्धिरहितः सन् य आरभते स क्रमेण महच्छ्रेयोयोग्यत्वाद्विशिष्यते श्रेष्ठो भवति।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्मज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

पूर्वोक्तयत्तच्छब्दाभ्यामन्यपर एवायमुपदेश इति न मन्तव्यमित्याह—नियतमिति। मोहलिंगेन पूर्वमकृतनिष्कामकर्मा त्वं नियतं नित्यकर्त्तव्यतया विहितं स्नानसंध्योपासनतर्पणादिकं कर्म कुरु। हि यस्मादकर्मणः कर्माकरणात्कर्म ज्यायः प्रशस्यं पापक्षयहेतुत्वात्। न केवलं प्रशस्यतरया कर्त्तव्यमपि तु अकर्मणः सर्वकर्मरहितस्य तव शरीरयात्रा देहनिर्वाहोऽपि न प्रकर्षेण सिद्ध्येत्कुतोऽन्यदिति अपि शब्दार्थः।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय! मुक्तसंगः समाचर ॥९॥

ननु 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैरि'ति श्रुतेः 'कर्मणा बध्यते जन्तुरि'ति स्मृतेश्च सर्वकर्मणो बन्धनत्वाभिधानात्कथं मां तत्रैव प्रवर्त्तयसीति विवक्षुं मत्वाऽऽह—यज्ञार्थादिति। यज्ञो विष्णुः 'यज्ञो वै

श्लोक में "तु" शब्द के प्रयोग से पूर्वोक्त बनावटी संन्यासी के इस प्रकार के कर्मयोगी की विलक्षणता जानना (बताना) अभीष्ट है। आँख, कान इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों को आत्मचिन्तन के योग्य, और विषयों से रहित, मनद्वारा वश करके वाणी तथा हाथ-पैर इत्यादि कर्मेन्द्रियों से जो, कर्म के फल की आशा से शून्य हो, कर्मों को करता है वह क्रम से मोक्ष की योग्यता प्राप्त करता है। इसलिए ऐसा पुरुष पूर्वकथित बनावटी संन्यासी से कहीं अधिक श्रेष्ठ है ॥७॥

हे अर्जुन! तुम्हारे मोह से यह मालुम होता है कि तुमने पूर्व में निष्काम कर्म नहीं किया। तुम नियत अर्थात् शास्त्र से विहित नित्य कर्म यथा स्नान, संन्ध्योपासना, तर्पणादि कर्मों को करो, क्योंकि कर्म नहीं करने से कर्म करना श्रेष्ठ है। कारण कि नित्यकर्मों को नहीं करने से पाप होता है और उनको करने से विधिलंघनरूप पाप का क्षय होता है। कर्म नहीं करने से कर्म करना श्रेष्ठ है, केवल इसीलिए करना चाहिए सो बात नहीं है। इसका और भी कारण है। वह यह कि कर्म नहीं करने से शरीरयात्रा भी ठीक रीति से नहीं चल सकती और बात तो दूर रही ॥८॥

श्रुति में लिखा हुआ है कि—"ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्वपाशैः" अर्थात् मनुष्य, देव नाम परब्रह्म को जानकर सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है। फिर स्मृति कहती है कि "कर्मणाबध्यते जन्तुः" अर्थात् कर्मों से जीव बाँधा जाता है। इन सब वाक्यों से कर्म बन्धनरूप कहा गया है। तब मुझे उसी कर्म में आप क्यों लगाते हैं? अर्जुन की इस शंका का उत्तर भगवान् इस प्रकार देते हैं—श्रुति में लिखा हुआ

विष्णुरि'ति श्रुतेः तदर्थं तदाराधनं तदाज्ञापालनात्मकं यत्कर्म ततोऽन्यत्र कर्मणि प्रवृत्तोऽयं लोकः कर्माधिकारी जनः कर्मबन्धनः कर्मैव बन्धनं यस्य स तथा कर्मणा बध्यते इत्यर्थः अतस्तदर्थं विष्णुप्रीत्यर्थं कर्म हे कौन्तेय ! मुक्तसंगः फलसंकल्परहितः सन् सम्यग्विधिश्रद्धापूर्वकमाचर ।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

एवं मुमुक्षुणा ज्ञानलाभाय विष्णुप्रीत्यर्थं तदाराधनात्मकं निष्कामकर्मकर्त्तव्यमित्युक्तमिदानीं विष्ण्वाराधनरूपं कर्म स्वभक्तायैवोपदिशामि, न तु सर्वजनेभ्यः । यतो मद्भक्तेतरे सर्वे जनाः सृष्टिवृद्धये प्रजापतिना विष्णिवतरदेवताऽऽराधने काम्ये कर्मणि नियुक्ता इति ज्ञापनाय प्रजाः प्रति तन्नियोगमाह— सहयज्ञा इति चतुर्भिः । सहयज्ञा यज्ञसाधनद्रव्यक्रियाकलापसहिताः प्रजाः ब्राह्मणादित्रिवर्णान् पुरा सर्गकाले कल्पादौ सृष्ट्वा प्रजापतिब्रह्मोवाच । किं ? तदाह । अनेन यज्ञेन यथावर्णाश्रमोचितविधिश्रद्धा-युक्तेन प्रसविष्यध्वं प्रसवो वृद्धिः उत्तरोत्तरामभिवृद्धिं लभध्वमित्यर्थः । अनेन कथं वृद्धिः स्यादत आह— एष यज्ञो वो युष्माकमिष्टकामधुगस्तु । इष्टानभीष्टान्कामान्दोग्धीति तथा ऐहिकामुष्मिकाभीष्टभोग-प्रदोऽस्त्वित्यर्थः । इहेत्थं काम्यकर्मणि नियोगः प्रलोभनं चोक्तसंगत्यैव संगच्छते । अन्यथा—'न कर्मणा-मनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते, असक्तः स विशिष्यते, मुक्तसंगः समाचरे'ति प्रकृतनिष्कामकर्मोपदेश-

---

है कि "यज्ञोवै विष्णुः" अर्थात् विष्णु ही यज्ञ हैं। यज्ञ के अर्थ अर्थात् विष्णु के लिए उनकी आराधना-रूप और उनके आज्ञापालनरूप कर्मों के अतिरिक्त अन्य कर्मों में प्रवृत्त लोगों का कर्म बन्धनरूप होता है। अर्थात् ऐसे ही कर्मों में मनुष्य बन्धन प्राप्त करते हैं। इसलिए हे अर्जुन ! तुम फलसंकल्प से रहित हो, श्रद्धा और विधिपूर्वक, विष्णु की प्रीति के लिए, कर्मों को करो ॥९॥

ज्ञानप्राप्ति के लिए मुमुक्षुओं को विष्णुप्रीत्यर्थ विष्णु का आराधनरूप निष्काम कर्म करना चाहिए। ऐसा कहकर भगवान् अब यह कहते हैं कि यह उपदेश सबके लिए नहीं है, केवल मेरे भक्तों के लिए है। इसका कारण यह है कि ब्रह्मा ने हमारे भक्तों के अतिरिक्त और लोगों को सृष्टि की वृद्धि के लिए, विष्णु से इतर और देवताओं के आराधनरूप काम्यकर्म में लगाया। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए प्रजा के प्रति ब्रह्मा को जो आज्ञा हुई उसका वर्णन चार श्लोकों में करते हैं—

कल्प के आरम्भ में जब सृष्टि हुई तब ब्रह्मा ने यज्ञ के साधन, द्रव्य और क्रिया कलापों के साथ ब्राह्मणादि तीनों वर्णों को उत्पन्न कर यह उपदेश किया कि तुम लोग इस यज्ञ से अर्थात् अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुकूल विधि और श्रद्धायुक्त होकर कर्म करने से उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो (यज्ञ से वृद्धि कैसे होगी यह आगे बताते हैं) और यह यज्ञ तुम लोगों के इच्छित पदार्थ का देनेवाला हो, अर्थात् यह यज्ञ लोक में और परलोक में तुमको अभीष्ट भोग प्रदान करे।

यहाँ काम्य कर्मों में नियोग और इसके लिए प्रलोभन ऊपर कहे हुए विष्णुभक्त से इतर लोगों के निमित्त ही है। नहीं तो भगवान् ने जो निष्कामकर्म का उपदेश किया है, उससे विरोध पड़

विरोधात् । 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः । आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते । असक्तो ह्याचन्कर्म परमाप्नोति पुरुष' इत्यादिवक्ष्यमाणात्मरतस्य कर्मनिरपेक्षत्वोक्तेरनासक्त्या चरतो मोक्षफलोक्तेर्जनकादिनिदर्शनाच्चासंगतं स्यादित्यलं विस्तरेण ।

देवान्भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

कथमयमिष्टकामधुक् स्यादित्यपेक्षायामाह—देवानिति । अनेन यज्ञेन यूयं देवानिन्द्रादीन्भावयत हविर्भागे वर्द्धयत । ते देवा वर्धिताः सन्तो वो युष्मान्भावयन्तु वृष्ट्याऽन्नोत्पत्तिद्वारेण धनसंततिदानेन वर्द्धयन्तु । एवं परस्परं अन्योन्यं भावयन्तो यूयं देवाश्च परं श्रेयोऽभिमतार्थं प्राप्स्यथ ।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

उक्तार्थं दृढीकुर्वंस्तस्याकर्तुर्दोषमाह इष्टानिति । यज्ञैर्भाविता देवा युष्मभ्यमिष्टान्भोगान्हि निश्चितं दास्यन्ते । यस्तैर्देवैर्दत्तान्भोगानेभ्यो देवेभ्योऽप्रदाय बलिवैश्वदेवाग्निहोत्राद्यकरणेनादत्त्वा यो भुंक्ते स स्तेन एव, स चौरवद् दण्ड्य इति भावः ।

जाएगा । यथा—"न कर्मणा मनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते । असक्तः स विशिष्यते, मुक्तसंगः समाचर ।" फिर आगे के अध्याय में भी नीचे लिखे श्लोकों से भगवान् ने आत्मा में रत पुरुषों को कर्म के विषय में निरपेक्ष कहा है । और आसक्तिहीन होकर कर्मों का करना मोक्ष का कारण बतलाया है । इससे ऊपर लिखित प्रजापति का उपदेश केवल विष्णुभक्त से इतर सांसारिक विषयसुख की वासनावाले जनों के लिए ही हैं । ऐसा नहीं मानने से नीचे लिखे श्लोकों से विरोध पड़ेगा । यथा—"यस्त्वात्म-रतिरेवस्या-दात्मतृप्तश्च मानवः । आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते । असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः" ॥१०॥

यज्ञ अभिलषित पदार्थ का देनेवाला कैसे होगा, इसको कहते हैं—

इस यज्ञ से तुम लोग इन्द्रादि देवों का उपकार करो अर्थात् हवि प्रदान कर उनकी वृद्धि करो ! और वे भी उपकारवर्द्धित होकर तुम्हारा उपकार करें, अर्थात् वर्षा प्रदान कर अन्न उपजावें और धन-सन्तान आदि देकर तुमको बढ़ावें । इस प्रकार एक दूसरे की भलाई करते हुए तुम और देवता लोग अपने-अपने परम श्रेय अर्थात् इच्छित फल को पाओगे ॥११॥

ऊपर कहे हुए को दृढ़ करने के लिए वैसा नहीं करने में दोष दिखाते हैं—यज्ञ से अभिलषित सन्तुष्ट होकर देवता लोग तुम्हारे भोगों को जरूर देंगे । जो इन देवताओं द्वारा दिए गए भोगों को उनको बिना दिए हुए ही अर्थात् बिना बलिवैश्वदेव अग्निहोत्र इत्यादि किए हुए भोगता है वह चोर है, चोर के समान दण्डनीय है ॥१२॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

तस्माद्देवार्चानुभोजिनो निर्दोषा इत्याह—यज्ञशिष्टाशिन इति । यज्ञशिष्टं देवर्षिभूताद्यर्चनाख्य-पञ्चमहायज्ञावशिष्टमन्नं येऽश्नन्ति ते सन्तः सदाचाराः सर्वकिल्विषैर्विहिताकरणाविहितकरणजैः स्वर्ग-प्रतिबन्धकैः पञ्चसूनोद्भवैर्मुच्यन्ते । पञ्च यज्ञास्तु—'पाठो होमश्चातिथीनां सपर्या तर्पणं बलिः । अमी पंच महायज्ञा ब्रह्मयज्ञादिनामका ॥" इत्युक्ताः ॥ पंचसूनाश्च 'कण्डनी पेषणी चूल्ली उदकुम्भी च मार्जनी । पञ्चसूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्गं न विदन्ति । पञ्चसूनाकृतं पापं पञ्चयज्ञैर्व्यपोहती'ति स्मृत्युक्ताः । येत्वात्मकारणात् आत्मनः स्वस्य भोजनार्थं पचन्ति, न तु देवाद्यर्थं, ते पापाः पापाचारा अघं पञ्चसूनानिमित्तं विध्युपेक्षादिनिमित्तं च पापं भुञ्जते प्राप्नुवन्ति ।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्ज्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

एवं जगत्प्रवृत्त्यधिकारिणः कर्मकरणाकरणयोर्हेतुना गुणदोषौ दर्शयित्वा पुनः तस्यैव कर्माकरणे हेत्वन्तरेण दोषमाह—अन्नादिति त्रिभिः । भुक्तादन्नाद्रजोरेतोरूपेण परिणतानि सजीवानि शरीराणि भवन्ति उत्पद्यन्ते । पर्जन्याद्वृष्टेरन्नस्य संभवः प्रसिद्धः । पर्ज्जन्यो यज्ञाद्भवतीति शास्त्रेण ज्ञायते ।

इसलिए देवार्चन के पश्चात् भोजन करनेवाले निर्दोष हैं । इसी आशय को अब सविस्तार कहते हैं—

देव, ऋषि, भूतादि से अर्चनरूप जो पञ्च महायज्ञ हैं, उन यज्ञों से बचे हुए अन्न का जो पुरुष भोजन करते हैं, वे सदाचारी मनुष्य विहित कर्मों को नहीं करने से तथा अविहित करने से उत्पन्न स्वर्गप्राप्ति में रुकावट डालनेवाले पापों से बिल्कुल मुक्त हो जाते हैं । ये पाप पञ्चसूना से उत्पन्न होते हैं । वे पञ्चसूना ये है—"कण्डनी, पेषणी, चुल्ली, उदकुम्भी च मार्जनी । पंचसूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्गं न विन्दति । पंचसूनाकृतं पापं पंचयज्ञैर्व्यपोहति ।" अर्थात् मूसल से कूटना, चक्की में पीसना, चूल्हे पर सिझाना, धोना और बुहारना ये पाँच पाप गृहस्थों से होते हैं । इनके कारण वे स्वर्ग में नहीं जा सकते । उक्त पंचसूना से किए पाँच पाप, महायज्ञ से नष्ट होते हैं । पञ्च महायज्ञ ये हैं—"पाठो होमश्चातिथीनां सपर्य्या तर्पणं बलिः । अमी पंच महायज्ञा ब्रह्म यज्ञादि नामकाः ॥" अर्थात् वेदपाठ, होम, अतिथि सेवा, तर्पण और बलि ये ही पांच ब्रह्मयज्ञादि नामवाले महायज्ञ हैं । परन्तु जो अपने लिए ही भोजन बनाते हैं, देवताओं के लिए नहीं, वे पापाचारी पंचसूना और बिधि की उपेक्षा करने के कारण पाप के भागी होते हैं ॥१३॥

जगत् में प्रवृत्ति के अधिकारी पुरुषों को कर्म न करने का और करने का गुण दिखलाकर फिर अब दूसरी रीति से उनके कर्म के नहीं करने का दोष तीन श्लोकों से दिखाते हैं—

भोजन किए हुए अन्न से रज, वीर्य उत्पन्न होकर जीव के साथ शरीर उत्पन्न होते हैं । और

यज्ञश्च समिदाज्यादिद्रव्यस्य मंत्रपुरःसरमग्नौ प्रक्षेपणादिरूपकर्तृव्यापाररूपात्कर्मणः समुद्भवति इति सर्वं विलोमेनाह मनुः 'अग्नौ प्रस्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठति । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।' इति ।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

यज्ञहेतुभूतं कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि । अत्र ब्रह्मशब्देन प्रकृतिपरिणामरूप शरीरं विविक्षितं 'तदेतद्-ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते' इतिश्रुतौ ब्रह्मशब्देन प्रकृतिर्निर्दिष्टा, इहापि चतुर्दशाध्याये वक्ष्यते । 'मम योनिर्महद्ब्रह्मे'ति । अतो ब्रह्मशब्दनिर्दिष्टप्रकृतिपरिणामरूपशरीरोद्भवं कर्मेति युक्तम् 'कार्यकारण-कर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते'इति प्रकृतेः कर्महेतुत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । तच्चशरीररूपेणैव सम्भवति । ब्रह्म उक्तस्वरूपमक्षरसमुद्भवम् । अत्राक्षरशब्देन पुरुषक्षेत्रज्ञादिशब्दवाच्यो जीवात्मोच्यते । 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' इतिवक्ष्यमाणत्वात् । तेनाधिष्ठितं शरीररूपं प्रकृत्याख्यं ब्रह्म भुक्तान्नपानादिनापुष्ट्या लब्ध-सामर्थ्यं सत्कर्मोत्पादने योग्यो भवति । कार्योत्पादनयोग्यतैव समुद्भवशब्देनाभिहिता, अतो ब्रह्माक्षर-

---

वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है, यह सभी जानते हैं । मेघ या वृष्टि यज्ञ से होती है, यह शास्त्र कहता है और यज्ञ काष्ठ, घी आदि द्रव्यों को अग्नि में मन्त्र के साथ डालने पर कर्त्ता के व्यापाररूप कर्म से उत्पन्न होता है । मनु ने भी उल्टी रीति से इसी बात को कहा है । यथा—"अग्नौ प्रस्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्य-मुपतिष्ठति । आदित्याज्जायते वृष्टिवृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ अर्थात् अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य को पहुँचती है । सूर्य से वृष्टि होती है । पुनः वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है ॥१४॥

यज्ञ के हेतुभूत कर्म को ब्रह्म से पैदा हुआ जानो । (यहाँ ब्रह्म शब्द का अर्थ प्रकृति का परिणाम स्वरूप शरीर है ।) श्रुति में भी ब्रह्म शब्द प्रकृति के अर्थ में व्यवहार किया गया है । यथा—"तदेतत् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ॥" अर्थात् यह ब्रह्म नाम रूप और अन्न होता है । फिर चौदहवें अध्याय में भी भगवान् "मम योनिर्महदब्रह्म" ऐसा कहेंगे, अर्थात् मेरी योनि अर्थात् प्रकृति (सर्वभूतो-त्पत्ति स्थान) महद्ब्रह्म है । इसलिए ब्रह्म शब्द से निर्दिष्ट प्रकृति के परिणाम रूप शरीर से ही कर्म उत्पन्न होता है, यह अर्थ बहुत ठीक हुआ, क्योंकि आगे भगवान् प्रकृति को ही कर्म का हेतु कहेंगे, यथा—"कार्यकारणकर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृति रुच्यते" अर्थात् कार्यकारण के होने में प्रकृति ही हेतु है । और प्रकृति का कार्यकारण का हेतु होना शरीर के द्वारा ही सम्भव हो सकता है ।

ऊपर कहे हुए स्वभाववाला ब्रह्म (शरीर) अक्षर से उत्पन्न हुआ । यहाँ अक्षर शब्द का अर्थ पुरुष, क्षेत्रज्ञ आदि शब्दों से वाच्य जीवात्मा समझना चाहिए । क्योंकि आगे भगवान कहेंगे—"कूटस्थोऽक्षर उच्यते" अर्थात् कूटस्थ जो जीव है उसी को अक्षर कहते हैं । इस जीव से अधिष्ठित शरीररूप प्रकृति नामवाला ब्रह्म भोजन किए हुए अन्नपानादि से पुष्ट हो सामर्थ्य प्राप्त कर अच्छे कर्मों को करने की योग्यता प्राप्त करता है । कार्य के उत्पादन की योग्यता प्राप्त करना ही "समुद्भव"

समुद्भवमित्युक्तं, प्रकृतिरपि क्षेत्रज्ञाधिष्ठितैव कार्योत्पादने समर्था, न केवला। तथा चोक्तं विष्णुपुराणे। 'गुणसाम्यात्ततस्तस्मात्क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने। गुण व्यञ्जनसंभूतः सर्गकाले द्विजोत्तमे'ति यस्मादक्षरशब्द-वाच्यं जीवाधिष्ठितं शरीरात्मया परिणतं प्रकृत्याख्यं ब्रह्म यज्ञहेतुभूतकर्मोत्पादकं तस्मात्सर्वगतं यज्ञादि-कर्मसु सर्वाधिकारे गतं प्राप्तम्, न तेन विना यज्ञप्रवृत्तिर्भवेदिति भावः। अतएव नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितं यजमानहोत्रादिशरीरं नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितं, प्रकर्षेण स्थितं पूजितं वेत्यर्थः।

एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ ! स जीवति ॥१६॥

एतेन किं निर्दिष्टमित्यत आह—एवमिति। अयं भावः परमेश्वरेणादौ सृष्टिकाले स्वस्मिन् लीनानां जीवानां तत्तत्कर्मफलभोगसिद्धये स्वांशभूतजीवानुप्रवेशेन प्रकृतिपरिणामद्वारा नामरूपविभागं कृत्वा, चतुर्मुखद्वारेण ब्राह्मणादीनुत्पाद्य सृष्टिवृद्धचर्थं तेभ्योऽन्नादिभोगम् प्रदर्श्य, ततो ब्राह्मणादीनां यज्ञादिकर्मोत्पादनसामर्थ्यं, ततः कर्मोत्पत्तिस्ततो यज्ञसंभवस्ततो वृष्टिस्ततः पुनरन्नोत्पत्तिस्ततः सजीवानि

शब्द का अर्थ है। इसीलिए ब्रह्म (प्रकृति) का अक्षर से समुद्भव कहा। प्रकृति भी क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीव का आश्रय ग्रहण करके ही कार्य करने में समर्थ होती है। अकेली वह कुछ नहीं कर सकती। विष्णु-पुराण में भी यही बात कही गई है। यथा—

"गुणसाम्यात्ततस्तस्मात्क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने ! ।
गुणव्यञ्जनसम्भूतः सर्गकाले द्विजोत्तम ! ॥"

अर्थात् हे द्विजों में श्रेष्ठ ! हे मुने ! सृष्टि के गुणों में पूर्व में समता थी। फिर सृष्टि के समय में क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीव का आश्रय पाकर गुणों का प्रकाश हुआ। क्योंकि अक्षर शब्द से वाच्य, जीव से अधिष्ठित, शरीररूप प्रकृतिनामवाला ब्रह्म, यज्ञ के हेतुभूत कर्मों का उत्पादक है, अर्थात् शरीर द्वारा ही यज्ञ के सब कर्म होते हैं, इसलिए यज्ञादि सब कर्मों में वह शरीर आवश्यक है। उसके बिना यज्ञ की प्रवृति नहीं हो सकती। इसलिये यजमान, होता, ब्रह्मा आदि के शरीर नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित हैं। अर्थात् अच्छी रीति से स्थित वा पूजित हैं। कहने का तात्पर्य यह कि शरीर से कर्म होता है और शरीर जीव के बिना ठहर नहीं सकता। इसलिये सब यज्ञकर्मों में जीव से अधिष्ठित शरीर की आवश्यकता है अर्थात् शरीर प्रधान है ॥१५॥

सृष्टि के प्रारम्भ में परमेश्वर ने अपने में लीन जीवों को उनके कर्मफल भोगने के लिये, अपने अंशभूत जीवों में प्रवेश करके, प्रकृति का परिणाम, शरीरादि द्वारा नाम रूप का विभाग कर ब्रह्मा के द्वारा ब्राह्मणादि को उत्पन्न कराया। फिर सृष्टि की वृद्धि के लिए उन लोगों को अन्नादि भोग दिखाया। इन भोगों से ब्राह्मणादि में यज्ञादि कर्म करने का सामर्थ्य हुआ। इस सामर्थ्य से कर्म की उत्पत्ति हुई। कर्म से यज्ञ हुआ। यज्ञ करने से वृष्टि हुई। वृष्टि से फिर अन्न उत्पन्न हुआ। अन्न से

शरीराणीत्येवं प्रकारेणेश्वरेण प्रवर्त्तितं जगच्चक्रं, इह जगति कर्माधिकारे वर्तमानो यः स्वाधिकारानुसारं नानुवर्तयति, यज्ञादिकर्मणा सृष्टिं न वर्द्धयति सोऽघायुरघार्थमेवायुर्यस्य स तथाभूतो भवति। यतः इन्द्रियाराम इन्द्रियप्रीतयेऽयज्ञशिष्टान्नवर्द्धितदेहत्वेन देवपित्रतिथिवञ्चकः पापवर्द्धक एवेत्यर्थः। हे पार्थ ! स पुरुषो मोघं वृथैव जीवति तज्जीवनान्मरणं श्रेय इति भावः।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

एवमनादिविषयवासनावतां प्रवृत्यधिकारिणां जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुभूते काम्ये कर्मण्यधिकार इति निर्णीतमिदानीं विषयवासना शून्यस्यात्मनिष्ठस्य तूक्तयज्ञादिकर्माकरणे न कश्चिद् दोषयोग इत्याह—यस्त्विति द्वाभ्याम्। तु शब्दः पूर्वोक्तात्सकामान्निष्कामस्य विदुषो महद्वैलक्षण्यं द्योतयति। यो मानवः आत्मरतिः आत्मनि स्वात्मभूते भगवति रतिः प्रीतिर्यस्य नतु शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयेषु स्त्रीषु वा तथाऽऽत्मना तेनैव तृप्तः पूर्णः, न तु नानाविधभोजनादिना। तथा आत्मन्येव संतुष्ट आत्मस्वरूपगुणाद्यनुभव एव संतुष्टः स्यात्, न तु धनपुत्रपशुक्षेत्रादिलाभे। तस्य तथाभूतस्य कार्यं कर्त्तव्यं कर्म न विद्यते, न स कर्म-नियोगार्ह इत्यर्थः।

सजीव शरीर उत्पन्न हुए। इस प्रकार ईश्वर के चलाये हुए इस जगच्चक्र का इस संसार में कर्माधिकार में स्थित जो पुरुष अपने अधिकार के अनुसार नहीं अनुसरण करता, अर्थात् यज्ञादि कर्मों के द्वारा सृष्टि की वृद्धि नहीं करता, उसकी आयु पाप ही के लिये है, अर्थात् उसका जीवन पापमय है। क्योंकि ऐसा पुरुष अपने इन्द्रियसुख के लिये यज्ञ से नहीं बचे हुए अन्न से शरीर को बढ़ाकर देव, पितृ अतिथि को ठगनेवाला होता है। हे अर्जुन ऐसा मनुष्य वृथा ही जीता है। अर्थात् उसके जीने से मरना ही भला है ॥१६॥

इस प्रकार अनादि विषय वासना में लिप्त, प्रवृत्ति मार्ग के अधिकारी पुरुषों का काम्यकर्मों में, जो संसारचक्र की प्रवृत्ति के कारण हैं, अधिकार होना बतलाकर विषय वासना से शून्य, आत्मनिष्ठ पुरुषों को ऊपर कहे गये यज्ञादि कर्मों को न करने से भी कुछ दोष नहीं होता, इस भाव को अब दो श्लोकों से कहते हैं—

यहाँ "तु" शब्द से यह अभिप्राय है कि पूर्वोक्त सकामी पुरुष से निष्कामी विद्वान् पुरुषों का बड़ा अन्तर है।

जिस मनुष्य को अपने आत्मभूत भगवान् में प्रीति है, परन्तु शब्दादि इन्द्रियों के विषयों में अथवा स्त्री पुत्र इत्यादि में नहीं, और जो आत्मा ही के अनुभव में तृप्त वा पूर्ण है, नाना प्रकार के भोजनादिकों से नहीं, और जो आत्मा ही के स्वरूप और गुणादि के अनुभव में ही सन्तुष्ट है, धन, पुत्र, पशु, खेत आदि के लाभ से नहीं, ऐसे पुरुष के लिये कोई कर्त्तव्य कर्म नहीं है, उसके लिये किसी कर्म का नियोग वा आज्ञा नहीं है ॥१७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

तत्र हेतुमाह—नैवेति । लोके कर्मणां कर्त्तुरुत्कर्षो भवति तदकरणेऽपकर्षो जायते । तस्यात्मरतस्य विदुषः कृतेन कर्मणा कश्चनोत्कर्षाद्यर्थो नास्ति । न चाप्यकृतेनेह कश्चनापकर्षो दोषो वा भवति । आत्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्योपेक्षितत्वात् । अत एव चास्यात्मविदः सर्वभूतेषु देवमनुष्यादिषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः कोऽप्यर्थाय प्रयोजनाय सेवनीयो न भवतीत्यर्थः ।

तस्मादसक्तः सततं कार्य्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

एवम्भूतात्मज्ञान्यवस्थेप्सुना फलाभिसन्धिशून्यं कर्म कर्त्तव्यमित्याह—तस्मादिति । यस्मात्परमेश्वराराधनात्मकं कर्म एवम्भूतज्ञानफलकं तस्मादसक्तः फलसंकल्पवर्जितः सन् कार्य्यं नियतं कर्त्तव्यं कर्म सततं नित्यं यावज्जीवं समाचर । हि यतः, असक्तः सन्कर्माचरन् पुरुषः कोऽपीश्वराराधकः सत्त्वशुद्धिज्ञानद्वारा (परं) परमेश्वरं परं सर्वोत्तमं मोक्षाख्यं फलं वा आप्नोति ।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्त्तुमर्हसि ॥२०॥

नन्वन्तःकरणशुद्ध्यर्थमेव कर्म कर्त्तव्यं, तच्छुद्ध्या ज्ञाने जाते कर्म त्याज्यमन्यथा सदा कर्मणि

ऊपर श्लोक में दिये गये विषय का कारण यहाँ बतलाते हैं—संसार में कर्म के करनेवालों की बड़ाई व भलाई होती है, और जो कर्म नहीं करते उनकी निन्दा, बुराई वा हानि होती है । जिस पुरुष की आत्मभूत भगवान् में प्रीति है, उसको अपने किये हुए कर्मों से कोई बड़ाई वा लाभ प्राप्ति की इच्छा नहीं है, और न उसको कर्म नहीं करने से इस जगत में कोई दोष वा हानि होती है । इसका कारण यह है कि आत्मा के अतिरिक्त और विषयों की यह उपेक्षा करता है, अर्थात् उनकी परवाह नहीं करता । इसलिये आत्मा का जाननेवाला पुरुष देव, मनुष्यादि किसी की उनसे कुछ पाने के लिये सेवा शुश्रूषा नहीं करता, क्योंकि उसको किसी से कुछ प्रयोजन नहीं है ॥१८॥

ऐसे आत्मज्ञानी की अवस्था चाहनेवालों को फल की इच्छा छोड़कर कर्म करना चाहिये । यही आशय यहाँ कहते हैं । क्योंकि परमेश्वर का आराधन रूप कर्म उपरोक्त आत्मज्ञान का देनेवाला है, इसलिये फल की इच्छा छोड़ नियत कर्म को अर्थात् कर्त्तव्य कर्म को यावज्जीवन सुचारु रूप से करो । इसका कारण यह है कि संगरहित वा आसक्तिहीन होकर सब कर्मों का करनेवाला कोई भी भगवान् का भक्त सत्त्वशुद्धिपूर्वक ज्ञान द्वारा भगवान् को वा सर्वोत्तम मोक्ष को प्राप्त करता है ॥१९॥

यहाँ यह शंका हो सकती है, कि जब अन्तःकरण की शुद्धि ही के लिये कर्म किया जाता है, तब अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्त हो जाने पर तो कर्म छोड़ देना चाहिये, नहीं तो सदा कर्म

क्रियमाणे मोक्षो न स्यात्तेन बन्धः स्यात्। 'नास्त्यकृतः कृतेने'ति श्रुतेः कर्मणा बध्यते जन्तुरि'ति शास्त्रादित्याशंकानिरासार्थं कर्म कुर्वतो ज्ञानिनः प्रमाणयति कर्मणैवेति सहार्थे तृतीया। 'वृद्धोयूने'ति निर्देशात् तथा च कर्मणा सहैव न तु कर्मत्यागेन, ज्ञानित्वेन विख्याताः जनकादयः जनकाश्वपतिप्रभृतयः ज्ञानस्य संसिद्धिं मोक्षाख्यामास्थिताः प्राप्ताः, न तु कर्मानुष्ठानेन बन्धं प्राप्ताः ज्ञानप्रभावादिति भावः। हि यत एवं तस्मात्त्वमपि ज्ञानी चेत्कर्मकर्त्तुमर्हसि। ननु ज्ञाननिष्ठः पुरुषः कर्मणि क्रियमाणेऽपि ज्ञानफलसिद्धिमेव प्राप्नोति, न तु कर्मणा बध्यते। एवम्प्रभावा ज्ञाननिष्ठा चेत्किमर्थं ज्ञानिनोऽपि कर्मकरणावश्यकत्वमिति। यद्यपि ज्ञाननिष्ठार्हस्त्वं तथापि लोकसंग्रहमेव पश्यन् लोकानां स्वधर्मे प्रवृर्त्तनमधर्मान्निवर्त्तनं लोकसंग्रहस्तं संपश्यन्कर्त्तुमर्हसि योग्यो भवसि।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥२१॥

ननु मया कर्मकरणे लोकसंग्रहः कथं स्यादित्यतआह—यद्यदिति। श्रेष्ठः जातिकुलगुणादिना लोकेऽतिशयप्रशस्यतया संमतः पुरुषो यद्यत्कर्माऽऽचरति, इतस्ततो निकृष्टो जनस्तत्तदेवाचरति। ननु

में लगे रहने से मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता, किन्तु कर्म से बन्धन हो सकता है। क्योंकि श्रुति कहती है कि—"नास्त्यकृतः कृतेन" अर्थात् किये गये कर्मों से मोक्ष नहीं हो सकता है। शास्त्रों में भी लिखा हुआ है कि—"कर्मणा बध्यते जन्तुः" अर्थात् कर्म से जीव बन्धन में पड़ता है। इन्हीं शंकाओं को हटाने के लिये भगवान् कर्म करनेवाले ज्ञानियों का उदाहरण देते हैं—ज्ञानियों में प्रसिद्ध जनक, अश्वपति इत्यादि कर्म करते हुए ही, कर्म को छोड़कर नहीं, ज्ञान की सिद्धि अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हुए। ज्ञान के प्रभाव से उनका कर्म उनके लिये बन्धन नहीं हुआ। इसलिये यदि तुम भी ज्ञानी हो तो कर्म से विमुख होना तुम्हारे लिये उचित नहीं है, अर्थात् तुम अपने को यदि ज्ञानी भी समझो तब भी तुझे कर्म करना ही चाहिये।

फिर शंका होती है कि ज्ञाननिष्ठ पुरुष कर्म करके भी ज्ञान के फल सिद्धि ही को प्राप्त करता है, और कर्म उसको नहीं बाँधता। तब यदि ज्ञान निष्ठा की इतनी महिमा है तो ज्ञानियों को कर्म करना क्यों जरूरी है? इसी शंका का उत्तर देते हैं—

यद्यपि तुम ज्ञाननिष्ठा के योग्य हो, तथापि खोकसंग्रह का ध्यान रखते हुए तुमको कर्म करना उचित है। अर्थात् जिससे लोग स्वधर्म में लगें और अधर्म से हटें तुमको कर्म करना चाहिये ॥२०॥

अर्जुन शंका कर सकते हैं कि हमारे कर्म करने से लोकसंग्रह कैसे होगा? भगवान् इसी का उत्तर देते हैं—

जाति, कुल, गुण इत्यादि से जो पुरुष संसार में प्रसिद्धि पाकर सबसे पूज्य होता है, वह जिन कर्मों को करता है उससे निकृष्ट दूसरे जन भी उन्हीं कर्मों को करते हैं। फिर यहाँ शंका होती है कि

शुभाशुभाचारयोः शास्त्रमेव सर्वेषां प्रमाणं तदेव दृष्ट्वाऽन्येऽपि किन्न कुर्वन्तीत्यत आह—स इति। स श्रेष्ठः पुरुषो यच्छास्त्रमन्यद्वा प्रमाणं कुरुते मन्यते लोकोऽज्ञजनस्तदेवानुवर्त्तते तदुक्तवचनं विश्वस्तः कुरुते। यथा शास्त्रगर्हितमपि मत्स्य-भोजनं पूर्वं केनचिच्छ्रेष्ठेन कृतं कान्यकुब्जादयस्तदनुवर्त्तिनो बहवो भुञ्जते, तद्वत्।

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥२२॥

न केवलं त्वामेवेदमाज्ञापयामि किन्त्वहमपि लोकसंग्रहार्थमेव कर्म करोमीत्याह—न मे इति। हे पार्थ! मे ममत्रिषु लोकेषु अनवाप्तमप्राप्तं अवाप्तव्यं प्राप्तुं योग्यमपेक्षितं किञ्चन नास्ति, अतः कर्त्तव्यं नास्ति। तथापि कर्मणि वर्त्त एव, कर्म करोम्येवेत्यर्थः।

यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ! सर्वशः ॥२३॥

तदकरणे मम दोषः स्यादित्याह यदीति। जातु कदाचिदतन्द्रितोऽनलसः सन्यदि कर्मण्यहं न वर्त्तेयं कर्म नाचरेयं, तर्हि हे पार्थ! जगद्धिताय धर्मज्ञशिष्टजनाग्रवर्तिवसुदेवगृहाऽवतीर्णस्य सर्वेश्वरस्य वर्त्म

शुभ और अशुभ आचार में तो शास्त्र ही प्रमाण हैं, तो उन्हीं को देखकर उन्हीं के अनुसार और लोग क्यों नहीं कर्म करते? इस शंका का उत्तर देते हैं—

वह श्रेष्ठ पुरुष जिन शास्त्रोक्त वा दूसरी बातों को प्रमाण मानता है वा अच्छा समझता है, उन्हीं को सब लोग उसके बचनों में विश्वास करके प्रमाण वा उत्तम मानते और कहते हैं। जैसे शास्त्र से निषिद्ध भी मछली का भोजन किसी-किसी जाति के श्रेष्ठ लोगों में किये जाने से मैथिल, कान्यकुब्ज आदि जाति के बहुत लोग, उन श्रेष्ठों का अनुसरण करते हुए, यह गर्हित कर्म करते हैं ॥२१॥

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! तुम्हीं को मैं ऐसी आज्ञा देता हूँ सो नहीं, मैं भी लोकसंग्रह के लिये ही कर्म करता हूँ—यही आशय यहाँ इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

हे अर्जुन! तीनों लोक में ऐसी चीज नहीं जो मुझे प्राप्त न हो या जिसकी प्राप्ति की मुझे इच्छा हो और जिसके पाने के लिये मुझे कुछ कर्म करना पड़े। अतः मुझको कुछ कर्त्तव्य नहीं है। तथापि लोकसंग्रह के लिये मैं भी कर्म करता हूँ ॥२२॥

कर्म नहीं करने से जो स्वयं भगवान् को दोष होगा, वह कहते हैं—

यदि कदाचित् आलस्य रहित हो हम कर्म नहीं करें तो हे अर्जुन! कर्माधिकारी मनुष्य सर्व प्रकार से मेरा ही अनुकरण करेंगे। क्योंकि मैंने जगत हित के लिये धर्मज्ञ, सदाचारी पुरुषों में अग्रणी वसुदेव के गृह में अवतार लिया है और मैं सर्वेश्वर हूँ। इसलिये मेरी चाल देख लोग यही समझेंगे

कर्मानुष्ठानमार्गं मनुष्याः कर्माधिकारिणः सर्वशः सर्वप्रकारेणानुवर्त्तन्ते। अयमेव धर्म इति स्वहिताय स्वीकुर्वन्ति। ममाचारप्रमाणका भवन्तीत्यर्थः।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

ननु लोकानां सर्वज्ञस्य सर्वश्रेष्ठस्य तवानुवर्त्तनमुचितमेव तव कर्माकरणे को दोष इत्यत आह—उत्सीदेयुरिति। चेद्यद्यहं कर्म न कुर्यां तर्हीमे ममाचारानुवर्त्तिनो लोका जना उत्सीदेयुः। कर्मविदामग्रणीर्वासुदेवो यदि कर्म न करोति तर्ह्यस्माभिरपि न कर्त्तव्यमिति मत्वा धर्माद्भ्रष्टाः भवेयुरित्यर्थः। स्वधर्मनियमत्यागात्संकरः वर्णानां सांकर्य्यं स्यात्तस्य कर्त्ताऽहमेव स्यां ततश्चेमाः प्रजा उपहन्यां नरकपातार्हताहेतुना विनाशकर्त्ता स्यामित्यर्थः। एवं सर्वलोकसंरक्षणार्थमवतीर्णस्य मम महान्दोष एव स्यादिति भावः।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत!।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽशक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

तस्माद्विदुषाऽपि लोकोपकारार्थं कर्म कर्त्तव्यमित्याह—सक्ता इति त्रिभिः। अविद्वांसो वेदान्ततत्त्वज्ञानहीनाः कर्मणि सक्ता अभिनिविष्टाः सन्तो यथा कर्म कुर्वन्ति, विद्वानात्मानात्मविवेकज्ञोऽसक्तः कर्मणि तत्फलेऽभिनिवेशवर्जितः सन् लोकसंग्रहं चिकीर्षुः, स्वाचारेण लोकानां स्वधर्मे निश्चयं कर्त्तुमिच्छुस्तथाऽविद्वद्वत्कुर्यात्।

कि यही राह ठीक है, यही धर्म है, इसी में हम लोगों का हित है और इस प्रकार मैं उनके लिये प्रमाण हो जाऊँगा अर्थात् दूसरे मनुष्य भी मेरी देखा देखी कुलोचित कर्मों को छोड़ बैठेंगे ॥२३॥

यदि हम कर्म नहीं करें तो सब लोग हमारे मार्ग पर चलकर भ्रष्ट हो जायँगे। अर्थात् हमारे कर्म नहीं करने से लोग सोचेंगे कि कर्म के जाननेवालों में सर्वश्रेष्ठ वासुदेव कृष्ण ही जब कर्म नहीं करते हैं तब हम लोगों को भी कर्म नहीं करना चाहिये और इस प्रकार समझ कर्म नहीं करके वे धर्मभ्रष्ट हो जायँगे तथा अपने-अपने धर्म के नियमों को छोड़ने से वर्णों में संकरता आ जायगी और इस संकरता की जड़ हम ही होंगे। संकरता होने से प्रजा नरक जाने के योग्य हो जायगी और उनको नरक भेज उनका नाश करनेवाले हम ही होंगे। इस प्रकार सर्वलोक की रक्षा के लिये अवतार लेकर हम महादोष के पात्र बनेंगे ॥२४॥

इसलिये विद्वान को भी लोक के उपकार के लिये कर्म करना चाहिये। परमात्मा इसी आशय को यहाँ तीन श्लोकों से प्रकट करते हैं—

हे अर्जुन! वेदान्त के तत्त्व के ज्ञान से हीन मनुष्य कर्मों में आसक्त हो जिस प्रकार कर्मों को करते हैं, आत्म और अनात्म के विवेकी पुरुष कर्मों में अनासक्त हो अर्थात् उनके फल में राग रहित हो लोकसंग्रह की कामना से उसी प्रकार (अविद्वानों के समान ही) कर्मों को करे। भावार्थ कि कर्म

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

ननु पंकलिप्तानां पंके (नि) पातनवत्कर्मासक्तानामज्ञानां कर्मण्येव प्रवर्त्तनमहितमेव कृतं स्यादतस्तद्धितेप्सुना विदुषा ज्ञानमेवोपदेष्टव्यमिति चेत्तत्राह—न बुद्धिभेदमिति । अज्ञानामन्तःकरणशुद्धयभावात्तत्वोपदेशानर्हाणामत एव कर्मसंगिनामनादिकर्मवासनयाऽशुद्धमनस्त्वेन कर्मण्येवारूढमतीनामात्मज्ञानं विना कर्मभिर्मोक्षो नास्तीति बुद्धिभेदं न जनयेन्नोत्पादयेत् । किं तर्हि एते ज्ञानेऽनधिकृताः कर्मच्युताःभ्रष्टाः भवेयुरितिविद्वान् तेषां हितबुद्ध्या युक्तः सन् सर्वकर्माणि नित्यनैमित्तिकानि समाचरन् अज्ञान् कर्मसु जोषयेत् प्रीतिं जनयेत् ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

ननु विदुषोऽप्यविद्वत्कर्मानुष्ठानं चेत्तर्ह्यविदुषो विदुषः को विशेष इत्याकांक्षोपशमार्थं तद्विशेषं दर्शयति । प्रकृतेरिति द्वाभ्याम् । प्रकृतिरीश्वरस्याचिच्छक्तिर्माया तस्या गुणैः सत्त्वादिभिर्देहेन्द्रियरूपेण परिणतैः सर्वशः सर्वप्रकारेण क्रियमाणानि कर्माणि अहंकारविमूढात्मा अनात्मनि देहादावात्मबुद्धि-

---

दोनों का एक ही प्रकार का होता है । मूढ़ को कर्म के फल में प्रेम है किन्तु विद्वान को कर्म के फल में आसक्ति नहीं है । वह कर्म केवल इसीलिये करता है कि उसका आचार देख कर लोग अपने धर्म का निश्चय करेंगे अर्थात् कुलोचित कर्म करते रहेंगे ॥२५॥

कर्म में आसक्त अज्ञानियों को कर्म में ही लगाना, पङ्क में लपटे हुए को पङ्क में गिराने के समान उनका अहित करना होगा । इसलिये अज्ञानियों के हित चाहने वाले विद्वानों को उनको ज्ञान का ही उपदेश करना चाहिये । भगवान् इसके उत्तर में कहते हैं :—

अन्तःकरण की शुद्धि के अभाव से तत्त्वोपदेश के अयोग्य और इसलिये कर्म में आसक्त, अर्थात् अनादि कर्म वासना से अशुद्ध मन होने के कारण कर्म ही में तत्पर जो अज्ञानी लोग हैं, उनको यह कह कर कि 'ज्ञान के बिना कर्म से मुक्ति नहीं होती' उनमें बुद्धिभेद वा भ्रम नहीं उत्पन्न करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से ज्ञान के अनधिकारी ये लोग कर्म से च्युत होकर अर्थात् कर्म को छोड़ भ्रष्ट हो जायँगे । इसलिये उनके हित की बुद्धि से युक्त हो विद्वान् स्वयं नित्य नैमित्तिक कर्म को करता हुआ उनको कर्म में लगावे अर्थात् उनकी कर्म में प्रीति उत्पन्न करे ॥२६॥

यदि विद्वान् का भी कर्मानुष्ठान अज्ञानी ही के ऐसा हो, तो ज्ञानी और अज्ञानी में विशेषता क्या रही ? इस प्रश्न का उत्तर यहाँ दो श्लोकों से देते हैं :—

ईश्वर की अचित् (ज्ञान विहीन) जड़ शक्ति, माया के कार्य्य सत्वादि गुणों के, देह, इन्द्रिय रूप परिणामों द्वारा सर्व प्रकार से किये गये कर्मों का, अहंकार से मोहित मनवाला पुरुष अपने को कर्त्ता मानता है, माया के गुण और उसके कार्य देह तथा इन्द्रियादिकों को नहीं । (यहाँ अहंकार का

रहंकारस्तेन विमूढ आत्मा मनो यस्य सोऽहंकर्त्ता इति मन्यते, न तु गुणांस्तत्कार्यभूतान्देहेन्द्रियादीन्वा। यद्यपि कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वादित्यादिशास्त्रादात्मनः कर्त्तृत्वमस्ति, तथापि बद्धावस्थायां संकुचितज्ञानत्वाद्देहेन्द्रियाधीनं कर्त्तृत्वं न केवलस्यात्मनः। 'अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्। शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्मप्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः। तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिरि'ति (गी० १८।१४-१६) वक्ष्यमाणत्वात्। अतएव 'अहंकार विमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते' इत्युक्तम्। अन्यथा जक्षन् क्रीडन् रममाणः सह ब्रह्मणा विपश्चितेति मोक्षदशायामप्यात्मनः कर्त्तृत्वप्रतिपादक श्रुतिबाधः स्यादित्यलं विस्तरेण।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणागुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

गुणानां सकार्याणां सत्त्वादीनां विभागः, कर्माणि सत्त्वाद्यनुगुणानि तेषां च विभागः दैहिक-मानसादिरूपः, तयोर्विभागयोस्तत्त्वं यथात्म्यं वेत्तीति गुणकर्मविभागवित्। स तु गुणाः सत्त्वादिकार्यभूता मनोवाक्शरीररूपाः गुणेषु स्वस्वकर्मभूतविषयेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते अहमेव करोमीति न मन्यते।

अर्थ है देहादि अनात्म पदार्थों को आत्मा समझना)। यद्यपि "कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" इत्यादि शास्त्र के बचनों से आत्मा का कर्त्ता होना सिद्ध है, तथापि बद्धावस्था में धर्मभूत ज्ञान के संकुचित होने से आत्मा का कर्त्तापन देह इन्द्रिय इत्यादि करणों के अधीन है। बद्धावस्था में वह स्वाधीन कर्त्ता नहीं है। आगे के अध्यायों में यह बात कही गई है। यथा :—

"अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणञ्च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥
तत्रैव सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥"

सारांश यह कि शरीर, वचन और मन से जो भला बुरा कर्म मनुष्य करता है उसमें पांच कारण होते हैं, यथा १ अधिष्ठान २ कर्त्ता ३ करण ४ विविध चेष्टा और ५ दैव। ऐसा होने पर भी जो मनुष्य केवल अपने ही को कर्त्ता मानता है, वह मूढ़ देखता हुआ भी नहीं देखता है। इसलिये ऊपर कहा गया है कि अहंकार से मोहित ही पुरुष अपने को कर्त्ता मानता है। ऐसा नहीं मानने से "जक्षन् क्रीडन् रममाणः सह ब्रह्मणा विपश्चिता" अर्थात् मुक्त आत्मा, विद्वान् मुक्त के उपासना भावानुसार फल भोग कराने में चतुर ब्रह्म के साथ मोक्ष दशा में भी पूजा करता है, खेल करता है और रमण करता है, इत्यादि, इसका और दूसरी भी (मोक्ष दशा में आत्मा के कर्तृत्व प्रतिपादक) श्रुतियों का बाध हो जायगा॥२७॥

जो पुरुष सत्वादि गुणों के विभागों को उनके कार्य्यों के साथ और उन गुणों के अनुरूप दैहिक मानसिक आदि कर्मों के विभागों को ठीक रीति से जानता है, वह यह जानकर कि ये सत्त्वादि के कार्यभूत मन, वाक् में लगे रहते हैं, ऐसा कभी नहीं मानता कि मैं इन कर्मों का कर्त्ता हूँ॥२८॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

एवं विद्वदविदुषोर्भेदं प्रदर्श्य पुनः 'न बुद्धिभेदं जनयेदि'ति उक्तमेव दृढयति-प्रकृतेरिति । प्रकृतेर्गुणैः सम्मूढाः सन्तः पूर्वोक्तगुणकर्मसु सज्जन्ते । वयमेवैत्कर्म कृत्वैतत्फलं भोक्ष्याम इत्थमासक्ता भवन्ति । तानकृत्स्नविद आत्मज्ञानहीनानतएव मन्दान्मन्दबुद्धीन् कृत्स्नवित् गुणकर्मविभागात्मवित् न विचालयेत् कर्मनिष्ठातो न च्यावयेत् ॥२९॥

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

एवं 'नकर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' इत्यारभ्य कर्मकरणावश्यकत्वं तस्य फलाभिसन्धिरहितत्वेनाबन्धकत्वंलोकसंग्रहार्थमनासक्त्या कर्त्तव्यत्वमभिहितमेतत्सर्वं कथं स्यादिति चिन्तयतेऽर्जुनाय कृपया भगवान् स्वयमेव तत्प्रकारमुपदिशति-मयीति । मयि भगवति सर्वज्ञे सर्वशक्तौ सर्वान्तर्यामिणि वासुदेवे सर्वाणि कर्माणि दैहिकमानसादीनि सर्वप्रकाराणि अध्यात्मचेतसा अध्यात्मन्यन्तर्यामिणि यच्चेतस्तदध्यात्मचेतस्तेन संन्यस्य ममान्तर्यामीश्वर एव सर्वकर्माणि कारयति नाहं स्वतंत्रः कर्त्तेति मत्वा तत्प्रीत्यर्थमेव भवेयुरिति बुद्ध्याऽप्यर्पयित्वा निराशीः कर्मसुफल-कामनावर्जित अतएव निर्ममस्तत्र

इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी का भेद कह कर अब फिर जो पहले कह आये हैं, कि अज्ञानियों में बुद्धिभेद नहीं उत्पन्न करना चाहिये, उसी को दृढ़ करते हैं :—

प्रकृति के गुणों द्वारा मोहित होने के कारण पहले कहे गुणों के कार्यरूप कर्मों में अज्ञानी पुरुष आसक्त हो जाते हैं । अर्थात् वे ऐसा सोचने लगते हैं कि हम ही लोग इन कर्मों के कर्त्ता हैं और हम ही लोग इनके फल को भोगेंगे । ऐसे आत्मज्ञान से हीन अतएव मन्दबुद्धि पुरुषों को गुण कर्म के विभागों को जानने वाला ज्ञानी पुरुष कर्मनिष्ठा से न हटावे ॥२९॥

"न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते" से आरम्भ करके भगवान् ने कर्म करने की आवश्यकता, उसके फल की इच्छा नहीं रहने से उसमें संसार के बन्धन में बाँधने की शक्ति का अभाव और आसक्तिहीन होकर लोक-संग्रह (रक्षा) के लिये कर्मों का करना बताया । यह सब कैसे हो सकता है ? यदि ऐसी चिन्ता अर्जुन के मन में स्थान पाई हो तो उसका समाधान भगवान् कृपा कर बिना अर्जुन के पूछे स्वयं ही कर देते हैं और इस श्लोक में उसका रास्ता बताते हैं । दैहिक, मानसिक इत्यादि सर्व कर्मों को अध्यात्म बुद्धि द्वारा मुझ सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् वासुदेव में अर्पण कर अर्थात् यह समझ कर कि मेरे अन्तर्यामी भगवान् ही मुझसे सब कर्मों को कराते हैं, मैं स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं हूँ, इसलिये मेरा सब काम उन्हीं की प्रीति के लिये हो और उन्हीं में अर्पित हो, हे अर्जुन ! तुम कर्मों के फल की इच्छा से शून्य हो और इसलिये उनमें ममता रहित हो तथा मोह शोक के ज्वर

ममताशून्यो भूत्वा विगतज्वरः शोकमोहरहितः सन् युद्धयस्व । एवं कृतेऽसङ्गत्वमन्तः शुद्धिर्लोकसंग्रहश्च भवेदिति भावः ।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

एतेन 'अन्तः प्रविष्टः शास्ताजनानां, सर्वात्मा, एष एव साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष एवासाधुकर्मकारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते । स कारयेत् पुण्यमथापि पापं न तावता दोषवानीषिताऽपि' इत्यादि श्रुतिशतसिद्धं परमेश्वराधीनम् सर्वात्मकर्त्तृत्वं, तदपर्णबुद्ध्या च कृतं कर्म दोषस्पर्शाय न भवतीति भगवता स्वमतमुक्तमिदानीं श्रद्धयेदमनुतिष्ठतां गुणमननुतिष्ठताञ्च दोषमाह–ये मे मतमिति द्वाभ्याम् । इदं पूर्वश्लोके कर्मविषयं मम मतं नित्यं श्रुतिस्मृतिभिर्निर्णीतं सनातनं तुभ्यमुपदिष्टं, ये केऽपि मानवाः कर्ममात्राधिकारिणः श्रद्धावन्तः भगवतोक्तं शास्त्रनिर्णीतमेवैतदिति विश्वासवन्तः अनसूयन्तः 'असूया दोषारोपो गुणेष्वपि' सा चेह 'निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धयस्वे'ति

से रहित होकर लड़ाई करो । ऐसा करने से तुम्हारी उसमें आसक्ति नहीं होगी, तुम्हारा अन्तःकरण भी शुद्ध होगा और लोक संग्रह भी होगा ॥३०॥

श्रुति कहती है:—"अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां, सर्वात्मा[1] एष एव साधुकर्म कारयति यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष एवासाधु कर्म कारयति यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषिते, स कारयेत् पुण्यमथापि पापं न तावता दोषवानीषिताऽपि ।" अर्थात् मनुष्यों के हृदय में प्रवेश कर परब्रह्म उनका शासन करने वाला है । वह सबों का आत्मा है । वही उस मनुष्य से जिसको इस लोक से ऊपर ले जाने की इच्छा होती है अच्छा कर्म कराता है । वही उस मनुष्य से जिसको इस लोक से नीचे गिराने की उसकी इच्छा होती है, बुरा कर्म कराता है । वह पुण्य पाप कराता हुआ भी दोष का भागी नहीं होता, क्योंकि शासनकर्त्ता है । ऐसी सैकड़ों श्रुतियों से यह बात सिद्ध है कि सब जीवों का कर्त्तव्य परमेश्वर के आधीन है और परमेश्वर में अर्पण बुद्धि से किये गये कर्मों में दोष का लेशमात्र भी नहीं रहता । ऐसा अपना मत भगवान् ने स्वयं पीछे के श्लोक में स्थापित किया है । अब आगे के दो श्लोकों में इस मत में श्रद्धा करके कर्म करने वालों का गुण और नहीं कर्म करने वालों का दोष बताते हैं ।

हे अर्जुन ! श्रुतिस्मृतियों से निश्चित और सनातन कर्म विषयक अपने मत का हमने तुमको उपदेश दिया । जो कोई कर्म मात्र का अधिकारी मनुष्य श्रद्धा के साथ अर्थात् यह विश्वास करके कि भगवान् का कहा हुआ मत ही दोषारोपण किये हुये असंग कर्मों को करता है, वह भी शुभाशुभ कर्मों से छूट जाता है । दोषारोपण करना यहां इस प्रकार है जैसा कि भगवान् ने जो कहा कि "निराशी-

---

१—साधु कर्म का विषय अत्यन्त अनुकूल और असाधु कर्म का विषय अत्यन्त प्रतिकूल आचरण-कारी जीव है । ऐसा ही श्रुति का तात्पर्य समझना ।

काममममताहीनं विधाय तस्य प्रयोजनशून्ये युद्धे प्रवर्त्तनं न समीचीनमिदं मत्तमित्येवं रूपतामकुर्वन्तोऽनुतिष्ठन्ति, तेऽपि कर्मभिः शुभाशुभैर्मुच्यन्ते ।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

ये तु एतन्मम मतं अभ्यसूयन्तो दोषारोपं कुर्वन्तो नानुतिष्ठन्ति नानुवर्त्तन्ते तान्सर्वज्ञानविमूढान् सर्वकर्मज्ञाने विशेषतो मूढान् यतोऽचेतसोऽशुद्धचित्तान्नष्टान् सदा संसारिणो विद्धि जानीहि ।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

नन्वेवं शास्त्रप्रतिपादितं तव मतं सर्वे कुतो नानुतिष्ठन्ति शास्त्ररूपाज्ञाप्रतिकूलाः कथं भवन्तीत्यपेक्षायामाह—सदृशमिति । प्रकृतिर्हि पूर्वजन्मकृतगुणानुकूलं शुभाशुभकर्मसंस्कारेणेह जन्मन्यभिव्यक्तं स्वभावविशेषस्तस्याः स्वस्याः प्रकृतेः स्वभावस्य सदृशं स्वभावानुकूलमिति यावत् ज्ञानवानपि वेद-स्मृतिपुराण-शब्दार्थज्ञानवानपि चेष्टते, किं पुनर्वक्तव्यं मूर्खः प्रकृतेः सदृशं चेष्टत इति ? तस्मात् भूतानि सर्वे प्राणिनः प्रकृतिमुक्तरूपां यान्ति प्राप्नुवन्ति स्वभावस्य वशे भवन्तीत्यर्थः । निग्रहः शास्त्रीयाज्ञा किं करिष्यति । अनादिविषयवासनादूषितचेतसां सर्वकामत्यागपूर्वकमय्यर्पणबुद्धिर्न जायते इत्यर्थः ।

निर्ममो युध्यस्व" यहाँ ममताहीन और कामनाहीन होने का उपदेश कर प्रयोजन शून्य युद्ध में अर्जुन को लगाना भगवान् के लिये उचित नहीं हुआ, इत्यादि ॥३१॥

जो लोग इस मेरे मत में दोषारोपण करते हुए इसका अनुसरण नहीं करते हैं उन अशुद्ध चित्त वालों सर्व कर्म ज्ञान से अनभिज्ञों को नष्ट ही जानो । अर्थात् उनको सदा संसारी समझो ॥३२॥

यदि ऐसी बात है जैसा कि आप कहते हैं तो सब शास्त्रों से प्रतिपादित आपके मत के अनुकूल लोग क्यों नहीं चलते हैं ? शास्त्र की आज्ञा के प्रतिकूल क्यों चलते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं:—

पूर्व जन्मों में किये गये कर्मों के गुणों के अनुकूल शुभ और अशुभ कर्मों के संस्कार से इस जन्म में प्रकट हुआ जो स्वभाव होता है उसी को प्रकृति कहते हैं । वेद, स्मृति, पुराण के शब्दार्थ का जानने वाला भी इस अपनी प्रकृति के अनुकूल ही चलता है । अर्थात् जैसी उसकी प्रकृति है वैसा ही कर्म करता है, तो फिर मूर्खों के विषय में क्या कहना है (कौन बात चलावे) ? वे तो अपनी प्रकृति के अनुकूल चलेंगे ही । इसलिए जीवमात्र अपनी प्रकृति वा स्वभाव के वश में है । ऐसी दशा में निग्रह वा शास्त्र की आज्ञा क्या कर सकती है ? भाव यह है कि अनादि विषय वासना से दूषित चित्त वालों की सर्व कामना त्याग पूर्वक मुझ में कर्म अर्पण करने वाली बुद्धि नहीं होती है । अर्थात् सर्व कामनाओं को छोड़ अपने कर्मों को वे मुझमें अर्पण नहीं कर सकते ॥३३॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

यद्येवं सर्वे प्रकृतिं यान्ति तर्हि प्रकृतिशून्यो न कोऽप्यस्ति । तथात्वे गुरुशास्त्रोपदेशस्य वैयर्थ्यं प्रसज्येतेत्यत आह—इन्द्रियस्येति । इन्द्रियस्येति वीप्सया श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियस्य वागादिकर्मेन्द्रियस्य च अर्थे शब्दादिविषये वचनादौ कर्मणि च रागद्वेषौ व्यवस्थितौ । स्वानुकूले मधुरादौ रागः कामः, प्रतिकूले परुषादौ द्वेषः क्रोधः इति प्राचीनवासनानुसारेण सर्वेषां व्यवस्थितौ स्वभावसिद्धौ । गुरुशास्त्रोपदेशस्तु तयो रागद्वेषयोर्वशं न गच्छेदित्येवं ततो निवर्त्तयति । किमर्थं ? हि यस्मात्तौ रागद्वेषौ अस्य मुमुक्षोः परिपन्थिनौ पथिकस्योत्पथनयनेन सर्वस्वहारि चौरवत् ज्ञानभक्तिरूपमोक्षमार्गात्प्रच्याव्यापथे विषयप्राप्तिसाधने नीत्वा तत्राऽसक्तं कृत्वा मोक्षसाधनसर्वस्वहारिणौ । तत्र यथा राजभटः पथिकं चौरवशं प्राप्नुवन्तं दृष्ट्वा ततो प्रतिवार्य्य सुमार्गे प्रवर्त्तयति, तथा शास्त्राचार्योपदेशो विषये रागद्वेषवशं गच्छन्तं मुमुक्षुं ततो वारयित्वा मोक्षप्राप्तिहेतुभूते परमेश्वराराधने सुमार्गे प्रवर्त्तयति । अतो न गुरुशास्त्रोपदेशस्य वैयर्थ्यम् ।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

ननु शास्त्राचार्योपदेशेनासन्मार्गान्निवृत्तस्येश्वराराधनाय निर्हिंसकसात्त्विकयदृच्छालाभसंतोष

यदि सब कोई प्रकृति के वश में है और कोई उससे रहित वा स्वतन्त्र नहीं है तो गुरु और शास्त्र का उपदेश व्यर्थ हुआ इस शंका का उत्तर भगवान् इस प्रकार देते हैं:—

आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों का और वाक् आदि कर्मेन्द्रियों का अपने अपने शब्दादि विषयों में और वचनादि कर्मों में रागद्वेष स्वभाव से ही सिद्ध है। अर्थात् अपने अनुकूल कोमल मीठे आदि वस्तुओं में राग वा प्रेम और अपने प्रतिकूल कठिन आदि वस्तुओं से द्वेष वा क्रोध स्वभाव से ही अर्थात् प्राचीन वासना के अनुसार सबको होता है। गुरु और शास्त्र का उपदेश यही है कि इन रागद्वेषों के वश में मनुष्य को नहीं होना चाहिए। क्योंकि ये रागद्वेष, सर्वस्व हरण करने वाले चोर के ऐसा, मुमुक्षु पथिक को भ्रष्ट कर ज्ञान, भक्तिरूप मोक्ष के मार्ग से गिराते हैं, और विषय प्राप्ति साधन रूप बुरे रास्ते में ले जाकर के और उसमें आसक्ति पैदा करके मोक्ष के साधन रूप सर्वस्व का हरण करते हैं। जैसे राजा की पुलिस राह चलने वाले को चोर के बश में देख उसको उस रास्ते से हटाकर अच्छा रास्ता बताती है, उसी प्रकार शास्त्र और आचार्य का उपदेश राग और द्वेष के वश में होते हुए मोक्षार्थियों को उससे हटा कर वा रोककर मोक्ष प्राप्ति के कारण रूप परमेश्वर की आराधना के अच्छे मार्ग में लगाता है। इसलिए गुरु और शास्त्र का उपदेश व्यर्थ नहीं है ॥३४॥

यहाँ यह शंका हो सकती है कि गुरु और शास्त्र का उपदेश असत् मार्ग से हटाकर ईश्वराराधन के लिये निर्हिंसक और सात्विक धर्म में लगाना है। इससे यथा लाभ सन्तोष का आश्रय ले बन के

वन्यान्नादि जीवनरूपो मुनिधर्म एव श्रेयानिति। स्वधर्मः स्ववर्णाश्रमनिबन्धनः शास्त्रविहितो यो धर्मः स विगुणोऽपि कियद्गुणहीनोऽपि सुष्ठु सर्वाङ्गतयाऽनुष्ठितात्परधर्मादन्यवर्णाश्रमोद्देशेन विहिताद्धर्मात् श्रेयान् प्रशस्यतरः, अतः स्वधर्मे स्थितस्य निधनमरणमपि श्रेयः, अतिशयेन प्रशस्यम्। कस्मात् परधर्मे जीवनादपि यतः परधर्मो भयावहः परस्यान्यस्यान्येनानुष्ठितः शास्त्रीयोऽपि धर्मः तद्रुचिरपि पापवत् भयावहः नरकादिभवं तत्फलमावहति प्रापयतीति तथा 'पर्युदस्तो हि यो यस्माच्छास्त्रीयादपि कर्मणः। न स तत्राधिकारी स्याद्दानादौ दीक्षितो यथेति शास्त्रनियमात्।

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपिवार्ष्णेय ! बलादिव नियोजितः ॥३६॥

'परधर्मो भयावह ? इत्युक्तं तेन नरकादिभयहेतुः पापं सूचितम्। इदानीं पापाचारस्य हेतुं जिज्ञासुरर्जुन उवाच—अथेति। अथ शब्दः प्रश्नान्तरे। परधर्मरुचिर्भयावहेति त्वदुक्तं मयाऽवधारितं किञ्चिदन्यत्पृच्छामीत्यर्थः हे वार्ष्णेय ! परधर्मरुच्युपलक्षितं नरकादिफलकं पापं कर्त्तुमनिच्छन्नपि केन प्रयुक्तः प्रेरितोऽयं पुरुषः पापं चरति आचरति। तत्रापि बलादिव नियोजितः इति मे ब्रूहि इति शेषः।

अन्नादिकों से मुनियों का सा जीवन धारण करना ही श्रेष्ठ मालूम पड़ता है। तब फिर हिंसा युक्त राजस और तामस युद्ध में जो क्षत्रियों का धर्म है, प्रवृत्त होने से क्या लाभ ? इसीका निराकरण भगवान् आगे करते हैं:—

अपने वर्णाश्रम का शास्त्र विहित धर्म कर्म गुण वाला होने पर अथवा उसका सांगोपांग आचरण न बनने पर भी पूर्ण रूप से और सुचारू रीति से प्रतिपालित दूसरे वर्णों के विहित धर्म से अधिक श्रेष्ठ है। इसलिये अपने धर्मों में स्थित रहकर मरना भी दूसरे धर्म में रहकर जीने से श्रेष्ठ है। इसका कारण यह है कि दूसरे का धर्म भयका देने वाला है क्योंकि दूसरे के धर्म में रुचि, पाप ही के समान, नरक में पहुँचने वाली है। शास्त्र भी कहता है:—

"पर्युदस्तो हि यो यस्माच्छास्त्रीयादपिकर्मणः ॥
न स तत्राधिकारी स्याद्दानादौ दीक्षितो यथा ॥"

अर्थात् जैसे जो पुरुष शास्त्रसम्मत कर्म से हट जाता है वह दीक्षित भी हो तो भी दानादि कर्म में अधिकारी नहीं हो सकता ॥३५॥

दूसरे का धर्म भयावह है, उससे नरकादिका भय है, यह जानकर अब अर्जुन पापाचार का कारण जानने की इच्छा से पूछते हैं कि हे भगवन् ! परधर्म में रुचि भयावह है, यह तो मैंने समझा। अब दूसरी बात पूछता हूँ। वह यह कि मनुष्य नरकादि फल वाले पापों को करने में इच्छा रहित भी किससे प्रेरित किया जाता है। मानो, उसको कोई जबरदस्ती उन पाप कर्मों में लगाता है। इस बात को आप मुझसे कहिये ॥२६॥

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिहवैरिणम् ॥३७॥

एवं पृष्टो 'ध्यायतो विषयानि' त्यादिना 'संगात्संजायते काम' इत्युक्त 'इन्द्रियस्येन्द्रिस्यार्थे' इत्यत्र रागशब्देनाभिहितः काम एव पापाचारहेतुर्महाञ्छत्रुरित्युत्तरं श्रीभगवानुवाच । यस्त्वया पापाचरणे प्रयोजकः पृष्टः स एव इन्द्रियार्थे रागपर्यायः काम एव । ननु क्रोधोऽपि हि साद्यनर्थहेतुरुक्त इति चेत्सत्यं ? सोऽपि न ततो भिन्नः, किन्तुक्रोध एष' इति काम एव केनचित्प्रतिहतः क्रोधरूपेण परिणमते । अतः क्रोधोऽपि काम एव । कामजय एव क्रोधजयः । न तज्जये पृथक्प्रयत्नः कर्त्तव्य इति भावः । तज्जयोपायदर्शनाय तत्कारणमाह–रजोगुण समुद्भव इति । रजोगुणात्सम्यगुद्भवति उत्पद्यते इति रजोगुणसमुद्भवः । एतेन सत्त्वगुणवृद्धया रजोऽभिभवद्वारेण कामजयो भवेदिति सूचितं, तस्य दुर्जयतामाहमहाशन इति । महदशनं यस्य बहुधनधान्यस्त्रीराज्यलाभेऽपि हविषाऽग्निरिवबर्द्धते न तु शाम्यति । अतएव महापाप्मा केनचित्निवारितः क्रोधात्मना परिणमय्य पितृभ्रातृगुर्वादिहिंसनमपि दोषमगणय्य कारयति । अतएनमिह श्रेयोमार्गे वैरिणं विद्धि ॥३७॥

अर्जुन के ऐसा पूछने पर भगवान् पापाचार के कारण काम को ही, जिसको राग भी कहते हैं, सब अनर्थों का मूल और बड़ा भारी शत्रु बताते हैं । इससे पहले भी "ध्यायतो विषयान्, संगात्संजायते कामः" इत्यादि श्लोकों में इस काम का उल्लेख वे कर चुके हैं । भगवान् कहते हैं कि वह काम ही, जिसका नाम राग भी है, पाप कर्मों का प्रयोजक है । वही मनुष्य को पाप कर्मों में लगाता है । यहाँ यह शंका हो सकती है कि क्रोध भी तो हिंसादि अनेक अनर्थों का कारण कहा गया है तो उसको क्यों छोड़ देते हैं ? इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं कि क्रोध काम से भिन्न नहीं है । बल्कि काम ही रुकावट परने पर क्रोध में परिणत हो जाता है । अर्थात् जहाँ किसी के काम में किसी ने रुकावट डाली कि काम क्रोध के रूप में बदल जाता है । इसलिए क्रोध भी काम ही है और काम का जीतना ही क्रोध का जीतना है । काम को जीत लेने पर क्रोध को जीत लेने के लिए पृथक् यत्न नहीं करना पड़ता । अब काम के जीतने का उपाय बताने के लिए उसके कारण का उल्लेख करते हैं:—

यह काम रजोगुण से उत्पन्न होता है । ऐसा कहने का आशय यह है कि सत्वगुण की वृद्धि कर रजोगुण को दबाने से काम जीता जा सकता है । फिर काम की दुर्जयता कहते हैं:—

यह काम बड़ा पेटू है अर्थात् बहुत धन, धान्य, स्त्री, राज्य इत्यादि पाने पर भी इसका पेट नहीं भरता, बल्कि जैसे आग में हविष्य डालने से वह प्रज्वलित होती है, बूझती नहीं, उसी प्रकार धन धान्य पाने से यह काम शान्त होने के बदले और बढ़ता ही जाता है । इसलिए यह बड़ा पापी है । कहीं किसी ने यदि रोका तो क्रोध का रूप धर, माता-पिता, भ्राता, गुरु, आदि की भी यह हिंसा कर डालता है और उसके दोष की परवाह नहीं करता । इसलिए इसको श्रेय वा मोक्ष मार्ग का बैरी जानो ॥३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथा दर्शो मलेन च ।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

तस्य वैरित्वम् दृष्टान्तैरुपपादयति–धूमेनेति । यथा धूमेन वह्निराव्रियते, आच्छाद्यते यथा वा दर्शो मलेन, यथा च उल्वेन गर्भवेष्टनेन चर्मणा जरायुणा गर्भ आवृतः, तथा तेनेदमावृतम् ।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय ! दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

तदिदं शब्दार्थं स्वयमेव वदन् दार्ष्टान्तं स्पष्टयति–आवृतमिति । एतेन कामरूपेण ज्ञानिनो नित्यवैरिणा धर्मभूतं ज्ञानमावृतं, कामरूपेण किं रूपेण ? हे कौन्तेय ! दुःपूरेण दुःखेन पूर्यते इति दुःपूरस्तेन अनलेन चेति । च इवार्थे । अनलेन वह्निनेवेत्यर्थः । यथानलो हविषा न पूर्य्यते, तथाऽयं विषयभोगेन न पूर्य्यते इत्यर्थः । अज्ञस्य तु विषयभोगकाले कामः सुखहेतुत्वेन प्रिय एव प्रतीयते, परिणामे दुःखानुभवकाले वैर्य्यनुभूयते । ज्ञानीतु भोगसमयेऽप्येनं दुःखमेव जानाति, किं पुनः परिणामेऽतो ज्ञानिनो नित्यवैरिणेत्युक्तम् ।

इन्द्रियाणिमनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते
एतैर्विमोहयत्येषज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

एवम्भूतस्य वैरिणः कामस्य हननायाधिष्ठानमाह–इन्द्रियाणीति । एतैरिन्द्रियमनोबुद्धिभिरेष कामः ज्ञानं यथार्थानुभवमावृत्य देहिनं विमोहयति । विवेक नाशयित्वा सुखदुःखाभिनिवेशे योजयति ।

दृष्टान्तों के द्वारा काम को दिखाते हैं:—

जिस प्रकार धूम से अग्नि, मैल से दर्पण, और चमड़े की झिल्ली से गर्भ ढका रहता है, उसी प्रकार इस काम से ज्ञान भी ढका हुआ है ॥३८॥

अब ऊपर के श्लोक में जो "इदम्" शब्द आया, उसके अर्थ को स्वयं कहते हुए दृष्टान्त (उपमेय) को भगवान् स्पष्ट करते हैं:—

यह काम ज्ञानियों का नित्य बैरी है । इसने उनके धर्मभूत ज्ञान को ढक लिया है । यह काम अग्नि के ऐसा दुःपूर है । अर्थात् जैसे अग्नि में कितनी ही हवि डाली जाय परन्तु कभी पूरा नहीं पड़ता, उसी प्रकार इस काम रूप अग्नि में कितना हूँ विषय भोग रूप हवि डाली जाय, किन्तु उसका पेट कभी नहीं भरता । विषय के भोग काल में अज्ञानियों को यह काम सुख देने वाले के ऐसा मालूम पड़ता है, किन्तु परिणाम में अर्थात् केवल जब वे उसका फलस्वरूप दुःख भोगने लगते हैं तब ही वे उसको अपने बैरी के समान अनुभव करते हैं । पर ज्ञानी तो विषय भोग के समय में भी काम को बैरी ही के ऐसा जानते हैं, और फल भोग के समय तो वैसा समझते ही हैं । इसीलिये काम ज्ञानियों का नित्य बैरी है, ऐसा कहा ॥३९॥

ऐसे बैरी काम को नाश करने के लिये उसका अधिष्ठान वा रहने की जगह बताते हैं:—इन्हीं

वस्तुस्वरूपान्यथा ज्ञानं मोहः, तथा च कामविमोहितः पुरुषः दुःखहेतुमपि विषयं सुखमेव मत्वा तत्प्राप्तावेव सर्वथा यतते ।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ! ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

अधिष्ठाननिरूपणं तन्निग्रहपूर्वकं कामजयार्थमेव तदेवाह–तस्मादीति । यस्मादिन्द्रियाधिष्ठित एव कामोविमोहकस्तस्माद्धे भरतर्षभ । त्वमादाविन्द्रियाणि नियम्य विषयेभ्यो निवर्त्य ततो ज्ञान-विज्ञाननाशनं ज्ञानं गुरुशास्त्रोपदेशजं विज्ञानेमननानन्तरनिदिध्यासनजं तयोर्नाशनमत एव पाप्मानं सर्वपापहेतु त्वात्पापरूपमेनं कामं प्रजहि प्रकर्षेण नाशय । यथा पुनर्नोद् भवेदित्यर्थः ।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु पराबुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

एवं ज्ञानविज्ञानविरोधिकामनाशने द्वारभूतेन्द्रियनियमनमुक्तमिदानीं ज्ञानविरोधेऽधिष्ठान-भूतानीन्द्रियाणि क्रमतः प्रधानानि प्रदर्श्य सर्वप्रधानभूतं कामं हन्यादित्युपदिशन्नुपसंहरति–इन्द्रियाणीति द्वाभ्याम् । ज्ञानवरणे इन्द्रियाणि पराणि प्रधानकारणान्याहुः । यतः इन्द्रियेषु विषयप्रवणेषु आत्मनि

के द्वारा ज्ञान वा यथार्थ अनुभव को ढक कर यह मनुष्यों में मोह उत्पन्न करता है । अर्थात् उनके विवेक का नाश कर अयथार्थ ज्ञान उत्पन्न कर उनको सुख दुःख के अनुभव में लगाता है ।

वस्तु के यथार्थ स्वरूप से अन्यथा वा उलटा ज्ञान को ही मोह कहते हैं । और काम से मोहित पुरुष दुःख के हेतु को भी सुख ही का विषय मान कर उसकी प्राप्ति के लिये सदा सब प्रकार से यत्न करता है ॥४०॥

काम के अधिष्ठान इसीलिये बताये कि उनका निग्रह करके काम जीता जाय । भगवान् इसी बात का वर्णन करते हैं:—

इन्द्रियों में अधिष्ठित हो कर ही काम मोह को उत्पन्न करता है । इसलिये हे अर्जुन ! तुम आरम्भ में इन इन्द्रियों को विषय से रोक कर तत्त्वज्ञान और विज्ञान के नाशक, अतएव सब पापों के कारण होने से पाप रूप, काम को अच्छी रीति से नष्ट करो, जिसमें यह फिर नहीं उत्पन्न हो ।

ज्ञान वह है जो गुरु और शास्त्र के उपदेश से पैदा होता है और विज्ञान वह है जो उपदेश के मनन करने के बाद निदिध्यासन (ध्यान) से उत्पन्न होता है ॥४१॥

ज्ञान और विज्ञान के विरोधी काम के नाश के लिये उसके द्वारभूत इन्द्रियों का नियमन बताया । अब ज्ञान के विरोध के आश्रयभूत इन्द्रियों की क्रम से प्रधानता दिखा कर सबसे प्रधानभूत काम को नष्ट करना चाहिये, ऐसा दो श्लोकों से उपदेश करके यह अध्याय समाप्त किया जाता है:—

ज्ञान को आवृत्त करने में इन्द्रियाँ ही प्रधान कारण हैं, क्योंकि जब तक इन्द्रियाँ विषय की ओर उन्मुख रहती हैं तब तक आत्मा में ज्ञान का प्रकाश नहीं होता । इन्द्रियों से परे मन है । इसलिये

ज्ञानं न जायते । इन्द्रियेभ्यः परंमनः इन्द्रियेषूपरतेष्वपि मनसि विषयप्रवणे नात्मनि ज्ञानं प्रकाशते । मनसस्तु पराबुद्धिः मनसि विषयविमुखे सत्यपि विपरीताध्यवसायवत्यां बुद्धौ सत्यां नात्मज्ञान प्रकाशते । यो बुद्धेः परतस्तु सः स पूर्वोक्तः कामः यत इन्द्रियादिषु बुद्धिपर्यन्तेषु ज्ञानविरोधिषूत्तरोत्तर-प्रधानभूतेषु कथञ्चिद्विषयेभ्यः उपरतेष्वपि रजोगुणसमुद्भवोऽनादिसूक्ष्माभिलाषरूपः कामः मनोबुद्धौ विषयसंकल्पाध्यवसायिन्यौ विधायात्मज्ञानमाच्छादयति । अतो बुद्धेः परः सर्वज्ञानविरोधिप्रधानभूतो वैरी स काम एवेत्यर्थः । केचित् यस्तु बुद्धेः परस्तत्साक्षित्वेनावस्थितः सर्वान्तरः स आत्मा विमोहयति-देहिनमिति । देहिशब्दोक्त आत्मा स इति परामृश्यते इत्येवं व्याख्यायन्ते, तदसंगतम् । व्यवहितस्य देहिनः परामर्शासम्भवात् । 'पाप्मानं प्रजहि ह्येनं, जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपमि'ति पूर्वोत्तरश्लोकयोः कामस्यैव प्रकृतत्वात् न ह्यनन्तरोक्तं विहाय व्यवहितस्य परामर्शं पण्डिताः कुर्वन्तीत्यलं विस्तरेण ।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो ! कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

एवं ज्ञातस्वरूपाधिष्ठानबलस्य शत्रोर्हनने प्रयतितव्यमिति द्रढयति—एवमिति । एवमुक्तप्रकारेण

इन्द्रियां यदि विषयों से हट भी जायँ पर मन उनकी ओर लगा रहे तो आत्मा में ज्ञान का प्रकाश नहीं होना । फिर मन से परे बुद्धि है । इसलिये मन के विषय से अलग होने पर भी बुद्धि में विपरीत अध्यवसाय (निश्चय) होने से आत्म ज्ञान का प्रकाश नहीं होता । और जो बुद्धि से भी परे है, वही पूर्व में कहा हुआ काम है । क्योंकि उत्तरोत्तर प्रधानभूत इन्द्रियों से आरम्भ कर बुद्धि पर्यन्त जो ज्ञान के विरोधी हैं, वे किसी तरह विषय से उपरत भी हो जायँ, अर्थात् हट भी जायँ तो भी रजोगुण से उत्पन्न अनादि, और सूक्ष्म अभिलाष रूप काम विषयक संकल्प और निश्चय करने वाले मन और बुद्धि को विषय में जरूर लगाकर आत्मज्ञान को आच्छादित करता है, अतएव बुद्धि से भी सर्वज्ञान का विरोधी प्रधानभूत बैरी काम ही है ।

कोई कोई "सः" का अर्थ काम न करके, जो बुद्धि से परे अर्थात् उसका साक्षी सबका अन्तर्यामी परमात्मा ही देही शब्द से वाच्य जीवात्मा को मोह कराता है, ऐसा अर्थ करते हैं । पर यह उनकी भूल है, क्योंकि देही या आत्मा का यहाँ प्रसंग ही नहीं है । पूर्व के श्लोक में काम ही का उल्लेख है, और पर के श्लोक में भी उसीका । इसलिये बीच के श्लोक में दूसरे विषय आत्मा का टपक पड़ना ठीक नहीं जँचता । पण्डित लोग अनन्तर में (समीप पूर्वक में) कहे हुए विषय को छोड़ व्यवहित विषय का परामर्श (विचार) नहीं करते ॥४२॥

इस प्रकार शत्रु के स्वरूप, अधिष्ठान और बल को जान कर उसके नाश में लग जाना चाहिये । इस आशय को दृढ़ करते हैं:—

बुद्धेः परं सूक्ष्मं वासनारूपं प्रधानं वैरिणं बुध्द्वा आत्मानं मन आत्मना सात्त्विक्या बुद्ध्या संस्तभ्य कामावशगं कृत्वा मनोबुद्धिभ्यां वियुक्तं निर्बलं सन्तं कामरूपं शत्रुं जहि। हे महाबाहो ! महान्तौ बाहू यस्य त्वं शत्रुनिग्रहणे समर्थः। यद्यपि दुरासदं दुःखेनासादनीयम् दुर्निग्राह्यमिति यावत् तथापि मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसेत्युक्तं सज्ञानं मदुपासनं तदेव महाबाहुद्वयं तेन बलान्निगृह्य जहि नाशयेत्यर्थः। इन्द्रियाद्यधिष्ठानं त्याजयेति वा।

ज्ञानसाधनभूतोऽपि कर्मयोगोऽधिकारतः।
स्वप्रसादाय निष्कामः प्राधान्येनेह कीर्त्तितः॥

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्विजयी श्रीकेशवकाश्मीरि-भट्टाचार्य विरचितायां कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

आगत्य यो मधुपुरेऽखिलधर्मवेत्ता
धर्मैकतरसुहृदो यवनान् जिगाय।
तं धर्ममार्गपरिपालनबद्धकक्षं
काश्मीरिकेशवमहं शरणं प्रपद्ये॥

इस प्रकार बुद्धि से परे सूक्ष्म वासना को ही प्रधान शत्रु जान और सात्विक बुद्धि द्वारा मन को रोक अर्थात् मन काम के वश से छुड़ा कर और इस रीति से मन बुद्धि से उसको अलग कर काम-रूप शत्रु को निर्बल बनाकर जीतो।

यहाँ अर्जुन को 'महाबाहो' सम्बोधन इस अर्थ से करते हैं कि तुम बड़ी बाहु वाले हो। इस लिए तुम शत्रु को जीतने में समर्थ हो। यद्यपि इस कामरूप शत्रु को जीतना बड़ा कठिन और दुष्कर कार्य है, तथापि मुझको सब कर्मों को अर्पण कर अध्यात्म बुद्धि द्वारा और पीछे कहे गये ज्ञान के साथ मेरे उपासना रूप दो बड़ी बलवती भुजाओं से शत्रुओं को पकड़ कर उनका नाश करो, अथवा उसको उसके अधिष्ठान इन्द्रियादि से अलग कर दो ॥४३॥

श्री भगवान् ने अपने अपने अधिकारानुसार निष्काम कर्मयोग ही इस तीसरे अध्याय में प्रधानता से उपदेश दिया। यह निष्काम कर्मयोग ही ज्ञान का साधन है और भगवान् की प्रसन्नता का कारण है। यही इस अध्याय का तात्पर्य है।

॥ इति श्रीमद्भगवतगीतायां तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

※ श्रीमते निम्बार्काय नमः ※

श्रीमद्भगवद्गीता

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥

तृतीयाध्यायेऽमृदितकषायस्य मुमुक्षोः सहसा ज्ञानयोगेऽनधिकारात् ज्ञानवद्भ्रंशशंकावर्जितः कर्मयोग एव श्रेयोऽर्थः कार्यः । ज्ञानयोगाधिकारिणोऽपि फलकर्त्तृत्वत्यागपूर्वकं लोकसंग्रहायकर्मैव कर्त्तव्यमिति निर्णीतम् । इदानीं चतुर्थाऽध्याये कर्मयोगस्यैव ज्ञानानुसंधानप्रकारं ज्ञानफलकत्वं कर्म-स्वरूपं तद्भेदांश्च वक्तुं श्रेष्ठजनाधिकारिकत्वेन परम्पराप्राप्तमित्युक्तकर्मयोगं प्रशंसन् श्रीभगवानुवाच—इममित्यादित्रिभिः । योऽयं कर्मयोगस्तुभ्यं मयोदितः, स त्वां युद्धेप्रोत्साहनायैवाधुनिकः प्रोक्त इति न मन्तव्यम्, किन्तु जगद्रक्षणाय मन्वन्तरादौ जगद्यात्रानिर्वाहकाय विवस्वते सूर्याय परम श्रेयः साधनतये-ममेवाव्ययं योगमहं प्रोक्तवान् । विवस्वान्सूर्यो मनवे स्वपुत्राय सत्यव्रतायप्राह । मनुर्वैवस्वत इक्ष्वाकवे ज्येष्ठाय स्वपुत्रायाब्रवीत् ।

तीसरे अध्याय में यह कह चुके हैं कि मोक्षार्थी जिसका पाप नहीं धुला है अर्थात् जो संसारी है, ज्ञान का अधिकारी सहसा नहीं हो सकता । उसके लिये, ज्ञानवत् भ्रष्ठ होने की शंका से वर्जित, कर्मयोग ही श्रेष्ठ है और उसे वही करना चाहिये । फिर यह भी निर्णय किया, कि ज्ञान योग के अधिकारी को भी लोकसंग्रह के लिये उसके फल और कर्त्तापन के भाव से रहित हो कर्म करना ही कर्त्तव्य है । अब चौथे अध्याय में यह बतायेंगे कि कर्म ही ज्ञान के अनुसन्धान का रास्ता है और उसीका फल ज्ञान है । फिर कर्म का स्वरूप और उसके भेदों को भी कहेंगे । अब इस पहले श्लोक में कर्मयोग की प्रशंसा करते हुये यह बताते हैं कि वह परम्परा से प्राप्त है और पूर्व में श्रेष्ठ जन उसके अधिकारी हो चुके हैं ।

भगवान् बोले—हे अर्जुन ! तुम यह नहीं समझना कि यह कर्मयोग आधुनिक है और मैंने केवल तुमको युद्ध करने में उत्साह देने के लिये ही इसको कहा है । मन्वन्तर के आरम्भ में जगत् की रक्षा के लिए परम कल्याण के साधनरूप इस अव्यय कर्मयोग को मैंने जगत्-यात्रा के चलाने वाले

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

एवमुक्तप्रकारेण शिष्टपरम्पराप्राप्तमिमं योगं राजर्षयो राजानश्च ते ऋषयश्च निमिसगरादि-प्रभृतयो विधिना पित्रादिप्रोक्तं विदुः । अतोऽनादिवेदमूलत्वेनानादिरयमित्यभिप्रायः स एव महा-प्रभावोऽयं योगः महता कालेनाधिकारिबुद्धिमान्द्याद्विच्छिन्नसंप्रदायतयेह लोके नष्टोऽदर्शनं यातः ।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

यः पुरा विवस्वते प्रोक्त स एवायं पुरातनो योगो मयाऽद्य ते तुभ्यं प्रोक्तः । यतस्त्वं मे भक्तः सखा चासि अतएवोक्तः, नान्यस्मै प्रोक्त इत्यर्थः । अन्यस्मै कुतो नोक्तोऽत आह—हि यतः । एतज्ज्ञानमुत्तमं रहस्यं, अनधिकारिणो गोपनीयमित्यर्थः ।

अर्जुन उवाच ।
अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमिति भगवतो वचः सर्वेश्वरत्वेन (सर्वकारणत्वेन) प्रकृतिकाल-कर्मादिनियन्तृत्वेनावस्थितस्य परस्य ब्रह्मणः स्वेच्छया वसुदेवगृहेऽवतीर्णस्य जीवेष्वसम्भाविताश्चर्य-

---

विवस्वान् सूर्य से कहा था । विवस्वान् सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु से और वैवस्वत मनु ने अपने ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु को इस कर्म योग का उपदेश किया था ॥१॥

ऊपर कही हुई रीति से शिष्ट परम्परा से प्राप्त इस योग को निमि, सगर इत्यादि राजर्षियों ने अपने पिता इत्यादि से जाना । कहने का तात्पर्य यह है कि यह कर्मयोग वेद मूलक है, इसलिये अनादि है । यह महा प्रभाव वाला कर्मयोग बहुत समय बीत जाने के कारण और इसके अधिकारियों के मन्द-बुद्धि होने से इस लोक से लुप्त हो गया है अर्थात् इसका सम्प्रदाय नष्ट हो गया है ॥२॥

जिस कर्म योग को मैंने पूर्व समय में विवस्वान् सूर्य से कहा था, उसी पुरातन कर्म योग को मैंने आज तुमसे कहा, कारण कि तुम मेरे भक्त तथा मित्र हो । और दूसरे से नहीं कहता उसका कारण यह है कि कर्म योग का ज्ञान बहुत उत्तम रहस्य है अनधिकारियों से इसको छिपा कर रखना चाहिये ॥३॥

भगवान् के इस वचन में कि 'पूर्व में मैंने इस कर्म योग को विवस्वान् सूर्य से कहा था' अर्जुन को पूरा विश्वास है क्योंकि वह जानते हैं कि भगवान् सर्वेश्वर हैं, प्रकृति, काल और कर्मादि के नियन्ता हैं, परब्रह्म हैं, और अपनी इच्छा से वसुदेव के घर में अवतार लिये हुए हैं । फिर इनको भगवान् के

रूपानेकचरितैर्जातानुभावोऽर्जुनः सम्भावितं जानन्नपि अनादिपापवासनादूषितमतीनां भगवति वासुदेवे विपरीतभावनावतां तत्रेतर[1] सजातीयजन्मकर्मबुद्धिमपाकरणाय भगवज्जन्मकर्मयाथात्म्यं भगवन्मुखेनैव निर्णाययितुमुक्तमसम्भावितमिव मन्वानोऽर्जुन उवाच—अपरमिति। अपरमर्वाचीनमस्मज्जन्मसमकालं वसुदेवगृहे भवतो जन्म प्रसिद्धं, परं प्राक्कालिकं मन्वादौ विवस्वतो जन्म, तस्मात्तवार्वाचीनत्वान्मनुष्यत्वाच्च प्राचीनाय देवाय विवस्वते त्वमादौ प्रोक्तवानेतत्कथमहं विजानीयां कथं सम्भावयेयमित्यर्थः।

श्रीभगवानुवाच।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

अर्जुनाभिप्रायज्ञ उक्तसन्देहनिरासाय श्रीभगवानुवाच—बहूनीति। मेमम जन्मानि देहेनाविर्भावरूपाणि बहूनि व्यतीतानि अभूवन् तव च चकारादन्येषामपि जीवानां हे अर्जुन! तानि आत्मनोऽन्येषां च सर्वाणि जन्मानि अहं सर्वज्ञो वेद जानामि, अनावृतज्ञानत्वात्। न त्वं वेत्थ आत्मनोऽपि कुतोऽन्येषामावृतज्ञानत्वात्।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥६॥

कितने ही, और जीवों में नहीं सम्भव होने वाले, आश्चर्य रूप चरितों का अनुभव भी है। पर यह समझ कर कि अनादि पाप वासनाओं से दूषित बुद्धि वाले मनुष्य भगवान् वासुदेव में विपरीत भावना करेंगे और यह समझेंगे कि भगवान् भी हम ही लोगों के ऐसे जन्म कर्म वाले हैं, अर्जुन भगवान् के मुख से ही उनके जन्म कर्म का यथार्थ तत्त्व निर्णय कराने के लिये उनके ऊपर कहे हुए वचनों को असम्भव सा मानते हुए बोले। हे भगवन्! आपका जन्म तो अर्वाचीन है। आप तो वसुदेव के घर में जन्म लिये हैं और हम लोगों के समकालीन हैं और विवस्वान् सूर्य का जन्म सृष्टि के आरम्भ में हुआ। अर्वाचीन और मनुष्य होकर आपने प्राचीन और देवता विवस्वान् को सृष्टि के आरम्भ में उक्त कर्म योग का उपदेश कैसे किया, यह तो असम्भव मालूम होता है। इसको हम सम्भव कैसे समझें ॥४॥

अर्जुन के अभिप्राय को जानने वाले भगवान् उनके सन्देह को दूर हटाने के लिये बोले :—

हे अर्जुन! लीलार्थ विग्रह धारण रूप मेरे बहुत जन्म हुये। तुम्हारे तथा और जीवों के भी बहुत जन्म हुए। (च से अन्य जीवों का बोध होता है)। हे परंतप! मैं अपने और दूसरों के सब जन्मों का हाल जानता हूँ, क्योंकि मैं सर्वज्ञ हूँ, और मेरा ज्ञान अनावृत अर्थात् ढका हुआ नहीं है। तुम अपने जन्मों का भी हाल नहीं जानते, दूसरों का कौन कहे, क्योंकि तुम्हारा ज्ञान ढका हुआ है ॥५॥

१—तत्रैव सजातीय।

तव जन्मन्यपि ज्ञानावरणं नास्ति चेत्तर्हि कथं जन्मेत्यपेक्षायामाह—अज इति। अजोऽपि सन् जीववत्कर्मनिमित्तजन्माऽपूर्वदेहग्रहणं तद्रहितोऽपि सन्, अव्ययात्मा पूर्वदेहवियोगरहितोऽपि सन्, भूतानां सर्वेषां प्राणिनामीश्वरो नियन्ताऽपि सन्, स्वां प्रकृतिं स्वभावमसंगत्वाजेयत्वानतिक्रमणीयत्वावार्यत्वादि स्व स्वभावमधिष्ठाय आत्ममायया मीयते कार्यमनयेति माया ज्ञानं संकल्पो वा 'माया वयुनं ज्ञानमि'ति निघण्टुकोशात्। तथा च प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय स्वस्वभावमपरित्यज्यात्मसंकल्पेन सम्भवामि सम्यक् लोकहितं कुर्वन्नाविर्भवामि। 'अजायमानो बहुधा व्यजायते'ति श्रुतिरप्याह। तथा भगवद्विग्रहप्रकारोऽपि श्रुतिनिर्णीत एव। 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति, आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्, हिरण्यकेशः हिरण्यश्मश्रुः आप्रणखात्सुवर्णः, यदात्मको भगवांस्तदात्मिका व्यक्तिः। किमात्मको भगवान्? ज्ञानात्मक ऐश्वर्यात्मकः, तमेकं गोविन्दं सच्चिदानंदविग्रहमित्यादि श्रुतिभ्यो ज्ञेयः। एवं च सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वेश्वरोऽजहत्स्वरूपगुणशक्तिरेव सच्चित्प्रकाशानन्दविग्रहेण स्वसंकल्पेनैवाविर्भवामीति

आपके जन्म में ज्ञान का आवरण नहीं होता है, अर्थात् आपके जन्म होने पर आपके ज्ञान का आवरण नहीं होता तो आपका जन्म होता कैसे है? अर्जुन के इसी प्रश्न की अपेक्षा में भगवान् कहते हैं :—मैं अज हूँ, अर्थात् जीवों के ऐसा कर्म भोगने के लिये मेरा जन्म नहीं होता, न मैं उनके ऐसा अपूर्व देह ही धारण करता हूँ। फिर में अव्ययात्मा हूँ अर्थात् और जीवों के ऐसा मेरे पूर्व देह का वियोग नहीं होता। फिर मैं सब जीवों का ईश्वर अर्थात् नियन्ता हूँ। ऐसा होने पर भी मैं अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव का अधिष्ठान कर अर्थात् अपने स्वभाव को बिना छोड़े अपनी माया अर्थात् संकल्प के द्वारा लोक हित के लिए प्रकट होता हूँ। 'प्रकृति' से यहाँ भगवान् के असंगत्व अर्थात् आसक्ति का अभाव, अजेयत्व अर्थात् किसी के द्वारा जीता नहीं जाना, अनतिक्रमणीयत्व अर्थात् किसीसे उनका अतिक्रमण नहीं होना और अवार्यत्व अर्थात् किसीसे उनका रोका नहीं जाना इत्यादि स्वभाव जानना। 'माया' का अर्थ ज्ञान वा संकल्प है। क्योंकि निघण्टु कोश में लिखा है "माया वयुनं ज्ञानम्"। भगवान् के प्रकट होने के विषय में श्रुति कहती है :—"अजायमानो बहुधा व्यजायत"। अर्थात् अजन्मा होकर भी बहुत बार बहुत प्रकार से जन्म लेता है। भगवान् के विग्रह वा स्वरूप के विषय में भी श्रुति इस प्रकार निर्णय करती है। "आनन्दरूपममृतं यद्विभाति, आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् हिरण्यकेशः हिरण्यश्मश्रुः, आप्रणखात्सुवर्णः यदात्मको भगवांस्तदात्मिका व्यक्तिः। किमात्मको भगवान्? ज्ञानात्मकः ऐश्वर्यात्मकः, तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्" इत्यादि। अर्थात् जो आनन्द और अमृत रूप से प्रकाशित करता है। सूर्य के वर्ण वाला और प्रकृति से परे, स्वर्ण के समान केश वाला, स्वर्ण समान चमकीली दाढ़ी वाला और जिसका नखपर्यन्त समूचा शरीर स्वर्ण के तुल्य है। जैसा रूप भगवान् का है उसी रूप का उनका विग्रह भी है। भगवान् का रूप कैसा है? भगवान् ज्ञान और ऐश्वर्य्य रूप हैं। उस एक गोविन्द को जिसका विग्रह सत्, चित् और आनन्द रूप है हम नमस्कार करते हैं। ऐसा सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वेश्वर मैं (भगवान्) अपने स्वरूप गुण शक्ति को बिना छोड़े अपने संकल्प

न मेऽसंभावितोक्तिरिति भावः। केचित्तु प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय मम वैष्णवीं त्रिगुणात्मिकां यस्या वशे सर्वं जगद्वर्त्तते तया मोहितः सन् स्वमात्मानं वासुदेवं न जानाति तां प्रकृतिं स्वात्ममायामधिष्ठाय वशीकृत्य सम्भवामि देहवानिव जात इव आत्मनो मायया न परमार्थतः, लोकवदिति व्याख्यायन्ते। तदुक्तश्रुतिविरुद्धत्वात् 'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः' इति वक्ष्यमाणभगवद्वाक्यविरोधाच्चोपेक्षणीयं त्रिगुणात्मिकमायाकृतजन्मकर्मणोर्दिव्यत्वासम्भवात्। किञ्चभगवद्विग्रहस्य त्रिगुणमायिकत्वांगीकारे भौतिकत्वं मिथ्यात्वं चाप्यंगीकृतं स्यात्। तथात्वे दोष उक्तो बृहद्वैष्णवे। 'यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः। स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्त्तविधानतः। मुखं तस्यावलोक्यापि स चैलं स्नानमचरेत्' श्रीमद्भागवतेऽपि 'अस्यापि देववपुषोमदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपी'ति तस्माच्छ्रुतिस्मृतीतिहासपुराणाविरोधायास्मदुक्तार्थ एवास्तिकैरंगीकार्य इत्यलं विस्तरेण।

से सत्, चित्, प्रकाश और आनन्द स्वरूप विग्रह के द्वारा प्रकट होता हूँ। इसमें कुछ असंभावना नहीं है।

कुछ लोगों का मत है कि 'प्रकृति' का यहाँ अर्थ त्रिगुणात्मिका वैष्णवी प्रकृति है जिसके वश में यह सारा जगत् है और जिससे मोहित हो भगवान् वासुदेव अपने आपको नहीं जानते। उसी प्रकृति वा माया को अधिष्ठान वा वश करके, उसका आश्रय लेकर, भगवान् भी साधारण शरीरी वा जीव के ऐसा पैदा होते हैं। पर ऐसी व्याख्या ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्व में उद्धृत श्रुतियों के अर्थ से इसका विरोध पड़ता है। फिर भगवान् जो आगे यह कहते हैं कि "जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत" अर्थात् मेरा जन्म कर्म दिव्य है। इस वाक्य से भी इस व्याख्या का विरोध पड़ेगा। क्योंकि त्रिगुणात्मिका मायाकृत जन्म और कर्म दिव्य नहीं हो सकते। किन्तु भगवान् विग्रह को त्रिगुणात्मिका माया से उत्पन्न मानने से यह भी मानना पड़ेगा कि भगवान् का विग्रह भौतिक और इसलिये मिथ्या है। ऐसा मानने से बड़ा दोष होगा जैसा कि धर्म शास्त्र पुराणादि में लिखा है। बृहद्वैष्णव में लिखा है "यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः॥ स सर्वस्माद्बहिः कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः॥ मुखं तस्यावलोक्यापि सचैलं स्नानमाचरेत्॥" अर्थात् जो मनुष्य परमात्मा कृष्ण के शरीर को भौतिक जानता वा मानता है, वह श्रौतस्मार्त कर्म की सब विधियों से बाहर निकाल देने योग्य है और उसका मुख देखने पर भी सवस्त्र स्नान करना चाहिये। महाभारत में भी कहा गया है :—

"न भूतसंघसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः॥" अर्थात् इस कृष्ण परमात्मा का शरीर पंच भौतिक नहीं है। श्रीभागवत में लिखा है :—"अस्यापि देववपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।" तात्पर्य्य कि मेरा शरीर स्वेच्छामय है, भौतिक नहीं है। इन सब श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण के वचनों से स्पष्ट सिद्ध है कि प्रथम लिखा हुआ ही अर्थ ठीक है क्योंकि पूर्वोक्त शास्त्र वचनों से विरोध नहीं पड़ता और इसी अर्थ को सब आस्तिकों को मानना चाहिये॥६॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ! ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।७।।

भवतु तवानादित्वाद्विवस्वानाद्युपदेष्टृत्वं स्वेच्छया निर्विकारत्वेनैव जन्म चेति । तथाऽपि बहूनीत्युक्तत्वात् कदा कदा जन्मेत्यपेक्षायामाह—यदा यदेति । न मे जन्मकालनियमोऽस्ति यदा यदा हि यस्मिन्यस्मिन्नेव युगे धर्मस्य परमश्रेयप्राप्तिहेतुभूतस्य मद्भक्तिलक्षणस्य ग्लानिर्हानिर्भवति । तत्प्रतिपक्षस्य चाधर्मस्य अभ्युत्थानमभिवृद्धिर्भवति । तदा तदाऽहमुक्तप्रकारेणात्मानं सृजामि आविर्भवामीत्यर्थः । न चात्र धर्मशब्देन वेदोदितवर्णाश्रमनिबन्धनः सामान्यधर्मो विवक्षितः, कथमन्यथा व्याख्यायते ? इति वाच्यं, तदानीं सामान्यवर्णाश्रमधर्मस्य हान्यभावात् । किन्तु भगवद्भक्तिविरोध्यसुरराजन्यबाहुल्येन भागवतधर्मस्योच्छिन्नप्राय एवावतारः । एवमेव धरण्याह ब्रह्मवैवर्त्ते । 'कृष्णभक्तिविहीना ये ये च तद्भक्तनिन्दकाः । तेषां महापातकिनामशक्ता भारवाहन' इति । अतएव 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतामि'ति । 'अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते । तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्' इत्यादिनाबहुशो वक्ष्यमाणत्वात् । धर्मस्वरूपं स्वयमेवोक्तं श्रीभागवते 'सत्वाद्-

---

मान लिया कि आप अनादि होने के कारण विवस्वान् आदि के उपदेष्टा हैं और आप अपनी इच्छा ही से विकार रहित दिव्य जन्म ग्रहण करते हैं, पर यह जो आपने कहा कि मेरे बहुत जन्म हुए सो वे आपके जन्म कब कब हुये ? इस प्रश्न की अपेक्षा में भगवान् कहते हैं :—

मेरे जन्म होने में काल का कोई नियम नहीं है । जिस जिस युग में परमश्रेय अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के कारणभूत मद्भक्तिलक्षणयुक्त भागवत धर्म की हानि होती है, और उसके विरोधी अधर्म की वृद्धि होती है, तब तब मैं पीछे के श्लोक में कही गई रीति से, अपने को सिरजता हूँ अर्थात् अवतार लेता हूँ ।

यहाँ धर्म शब्द से वेद में कहे हुए वर्णाश्रम सम्बन्धी सामान्य धर्म को नहीं समझना चाहिये । क्योंकि जिस समय भगवान् ने अवतार लिया था उस समय वर्णाश्रम धर्म का अभाव नहीं था किन्तु भगवद्भक्त विरोधी राक्षस राजाओं के बढ़ जाने से भागवत धर्म के नष्ट होने ही से अवतार हुआ था । ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में पृथ्वी का भी ऐसा ही वचन है :—

'कृष्णभक्तिविहीना ये ये च तद्भक्तनिन्दकाः । तेषां महापातकिनामशक्ता भारवाहने' ।। अर्थात् कृष्ण भक्ति से हीन और उनके भक्तों के निन्दक महापातकियों के भार ढोने में मैं असक्त हूँ । इसी लिये भगवान् भी आगे कहते हैं "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्" अर्थात् साधुओं की रक्षा और पापियों को नाश करने के लिये । फिर "अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते । तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्" अर्थात् जो अनन्य योग से मेरा ध्यान और मेरी उपासना करते हैं उनको मैं मृत्यु रूप संसार सागर से उद्धार करता हूँ । आगे और भी भगवान् के ऐसे कितने ही वचन हैं ।

वृद्धाद्भवेद्धर्मः पुंसो मद्भक्तिलक्षणः। धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्त' इत्यादिना। 'धर्मः स्वनुष्ठित' पुंसो विष्वक्सेनकथासु यः। नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्' इत्यनेन भक्तिहीनस्य केवलधर्मस्य किञ्चित्करत्वाभिधानात्।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥

जन्मप्रयोजनमाह—परित्राणायेति। साधवः समदर्शिनो मद्भक्ताः, तथोक्तं भागवते यमेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां 'ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नास्तान्नोपसीदत हरेर्गदयाऽभिगुप्तान् नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यानि'त्यादिना। तेषां साधूनां प्रह्लादादीनां परित्राणाय सर्वतो रक्षणाय दुष्कृतां भक्तिविरोधिनां हिरण्यकशिपुकंसमगधपौण्ड्रकवैदर्भशाल्वादीनां विनाशाय च धर्मस्य भागवतस्य सम्यक् स्थापनाय युगे युगे संभवामि।

धर्म का स्वरूप भगवान् ने स्वयं श्रीमद्भागवत में कहा है :—यथा "सत्त्वाद्वृद्धाद्भवेद्धर्मः पुंसो मद्भक्तिलक्षणः। धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्तः" अर्थात् सत्त्वगुण की वृद्धि से मेरी भक्ति लक्षण युक्त धर्म होता है। धर्म वही है जो मेरी भक्ति से युक्त होता है अर्थात् जिसमें मेरी भक्ति बने वही मुख्य धर्म है। फिर भगवान् ने धर्म को अकिञ्चित् कर अर्थात् बहुत तुच्छ फल वाला कहा है। यथा "धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसो विष्वक्सेनकथासु यः। नोत्पादयेद्यदिरतिं श्रम एव ही केवलम्।" अर्थात् जिस धर्म के आचरण से विष्वक्सेन अर्थात् भगवान् की कथा में प्रेम नहीं उत्पन्न होता उस धर्म का आचरण करना केवल श्रम ही उठाना है ॥७॥

भगवान् अब अपने जन्म लेने का प्रयोजन कहते हैं :—प्रह्लाद इत्यादि साधुओं की सर्व प्रकार से रक्षा करने के लिये, भक्ति के विरोधी हिरण्यकशिपु, कंस शाल्व इत्यादि को नाश करने के लिये और भगवद्धर्म को संस्थापन करने के लिये मैं युग युग में अवतार लेता हूँ।

साधु उसको कहते हैं जो भगवद्भक्त और समदर्शी हो। श्रीमद्भागवत में यम ने अन्वय-व्यतिरेक वाक्यों से साधुओं का लक्षण यों कहा है :—

"ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्ना-
स्तान्नोपसीदत हरेर्गदयाऽभिगुप्तान् ॥
नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥"

अर्थात् हे हमारे दूतो, जो साधु भगवान् के दास और समदर्शी हैं, उनको मत पकड़ो। वे भगवान् की गदा से रक्षित हैं! उनको हम वा तुम लोग दण्ड नहीं दे सकते। तुम लोग उन असत् अर्थात् दुष्टों को पकड़ लावो जिन्होंने विष्णु की सेवा नहीं की है ॥८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेव यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ! ।।९।।

एवंभूतस्वजन्मकर्मज्ञातुः फलमाह—जन्मकर्म चेति । सर्वज्ञस्य सर्वेश्वरस्य सर्वकारणस्य मे मम जन्म त्रिगुणमायाऽस्पृष्टनित्यसिद्धं सच्चिदानन्दविग्रहेण स्वेच्छयाऽऽविर्भावरूपं, कर्म च भक्तपरित्राणमभक्तविनाशनं च दिव्यमप्राकृतं तत्त्वतः परमार्थबुद्ध्या यो वेत्ति हे अर्जुन ! सः पुरुषः देहं स्थूलं तद्धेतुभूतं सूक्ष्मं च त्यक्त्वा पुनर्जन्म नैति, न प्राप्नोति । किन्तु मां मुक्तप्राप्यं सत्यज्ञानानन्दस्वरूपं परब्रह्म भगवन्तं वासुदेवमेवैति प्राप्नोति मद्भावं प्राप्नोति ।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।।१०।।

मामेतीत्युक्तं तत्र त्वत्प्राप्तौ त्वज्ज्ञाने च साधनान्तरमपेक्षितं न वा ? प्राप्तिः स्वरूपैक्येन भेदेन वा ? तादात्म्येन वेत्यपेक्षायामाह—वीतरागेति । रागः स्त्रीपुत्रादिस्नेहः, भयं भयानुबन्धि कर्म, क्रोधः किञ्चिद्वस्त्विच्छाविघातके चित्तविकारः । वीता विशेषतो गता रागभयक्रोधा येभ्यस्ते शुद्धदेहेन्द्रियमनस्का इत्यर्थः । एतेन ज्ञानसाधनमुक्तम् । अतो मन्मया मदात्मका वासुदेवात्मका वयमिति

भगवान् अपने जन्म और कर्म के ज्ञान के फल को कहते हैं :—

हे अर्जुन ! मुझ सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वेश्वर और सर्वकारण का जन्म त्रिगुण माया से रहित नित्य सिद्ध है और सच्चिदानन्दरूप विग्रह के साथ अपनी इच्छा से होता है । भक्तों की रक्षा और अभक्तों वा दुष्टों का नाश करना मेरा कर्म है । ये मेरे कर्म दिव्य और अप्राकृत हैं । हमारे जन्म और कर्म का यथार्थ ज्ञान जिसको है वह स्थूल शरीर और उसके कारणभूत सूक्ष्म शरीर को छोड़ कर फिर जन्म नहीं लेता । किन्तु मुक्तप्राप्य, सत्य ज्ञान और आनन्दस्वरूप परब्रह्म भगवान् मुझ वासुदेव को प्राप्त होता है अर्थात् मेरे भाव को प्राप्त करता है ।।९।।

अब यहाँ ऐसी शंका करते हैं कि भगवान् ने जो कहा कि मुझको प्राप्त करता है सो आपकी प्राप्ति में और आपके ज्ञान में किसी दूसरे साधन की आवश्यकता है कि नहीं ? फिर प्राप्ति होने पर स्वरूप की एकता होती है वा भेद रहता है, अर्थात् जब आपकी प्राप्ति हो जाती है तो जीव और आपके स्वरूप में बिलकुल एकता हो जाती है वा भेद रहता है वा तादात्म्य होता है ? अर्थात् जीव आप ही के आत्मा वा प्रकृति वाला हो जाता है क्या ?

इन्हीं सब शंकाओं और प्रश्नों का उत्तर यहाँ भगवान् देते हैं :—

विशेष रूप से निकल गया है राग अर्थात् स्त्री, पुत्रादि से प्रेम, भय अर्थात् भय उत्पन्न करने वाला कर्म, क्रोध अर्थात् इच्छा में विघात पड़ने से उत्पन्न चित्तविभ्रम जिन लोगों का, सारांश कि राग, भय, क्रोध से जो बिलकुल रहित हैं याने जिनका देह, इन्द्रिय, मन इत्यादि शुद्ध हैं (इन गुणों से ज्ञान के साधन कहे गये हैं, अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के ये ही साधन हैं), उक्त कारणों से रागादि रहित वे

जातनिश्चयाः 'एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्वं तेजो बलं धृतिः । वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव चे'त्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः । एवम्भूताः मामुपाश्रिताः उक्तस्वरूपं मामेवार्चनवन्दनध्यानैः सेवितवन्तः न तु देवान्तरभक्ताः । एतेन स्वप्राप्ति-साधनं सूचितम् । एवम्भूता बहवो भक्ताः ज्ञानतपसा मज्जन्मकर्मविषयकज्ञानमेव तपः, सर्वकर्मभर्जकं ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते'इति वक्ष्यमाणत्वात् । तेन पूता निरस्ताऽज्ञानतत्कार्यशुभाशुभ-वासनाः, सन्तो मद्भावमागताः, मम यो भावः अपरिच्छिन्नज्ञानानन्दवत्त्वे सत्यप्राकृतप्रकाशानन्द-विग्रहवत्त्वं, समागताः प्राप्ताः । स्वरूपभेदे सति 'सर्व ह पश्यः पश्यती'ति मुक्तौ सार्वज्ञ्ययोगोक्तेः,

---

ज्ञानी मनुष्य मन्मया अर्थात् मदात्मक होते हैं । तात्पर्य उनको यह पक्का निश्चय हो जाता है कि हम लोग वासुदेवात्मक हैं, या वासुदेव हम लोगों के आत्मा हैं । इस विषय में श्रुति स्मृति प्रमाण हैं य था, "एतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं, स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो !" अर्थात् यह सब जगत् भगवदात्मक है, वह सत्य है । वह (भगवान्) आत्मा हैं । वह (भगवान्) तुम हो अर्थात् वह तुम्हारा अन्तरात्मा है, हे श्वेतकेतु ! फिर—

"इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः ।
वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च ।।"

अर्थात् इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सत्त्व, तेज, बल, धृति, क्षेत्र अर्थात् भोग्य सहित ब्रह्माण्ड से आरम्भ कर शरीर तक के सभी अचेतन पदार्थ, काल इत्यादि और क्षेत्रज्ञ अर्थात् भोक्ता चेतन तत्त्व सभी वासुदेवात्मक हैं, अर्थात् वासुदेव उन सबों के आत्मा हैं ।

मन्मया होने पर मनुष्य हमारी पूजा, वन्दना और ध्यान से मेरी सेवा करते हैं, अर्थात् अन्य देवताओं के भक्त नहीं होते । इससे भगवान् ने अपनी प्राप्ति का साधन कहा, अर्थात् मेरी सेवा मेरी प्राप्ति का साधन है यह बताया ।

इस अवस्था को प्राप्त हुए बहुत से भक्त ज्ञान रूपी तप से पवित्र होकर अर्थात् सब कर्मों का भूंजने वाला मेरे जन्म कर्म का यथार्थ ज्ञान ही जिनका तप है क्योंकि, भगवान् आगे कहेंगे कि "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते" अर्थात् ज्ञान रूप अग्नि सब कर्मों को भस्म करता है । ऐसे तप से, अज्ञान के कार्य रूप, भक्तों की शुभ और अशुभ वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं और वे पवित्र हो जाते हैं । ऐसा होने पर वे मेरे भाव को प्राप्त होते हैं। मेरे भाव से मतलब यह है कि उनका ज्ञान और आनन्द मेरे ही समान बिना सीमा का हो जाता है और ऐसा होने पर उनको हमारे शरीर के समान अप्राकृत, प्रकाश और आनन्द स्वरूप विग्रह की प्राप्ति हो जाती है । पर स्वरूप में भेद बना रहता है । स्वरूप भेद होने पर भी मुक्ति अवस्था में श्रुति जीव की सर्वज्ञता प्रतिपादन करती है । यथा :— "सर्वं ह पश्यः पश्यति" अर्थात् द्रष्टा अर्थात् मुक्त जीव सबको देखता है अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है ।

सार्वज्ञ्यादिधर्माविर्भावेन विग्रहसाम्येन चाभेदं तादात्म्यलक्षणं भेदाभेदं प्राप्ता इत्यर्थः। भेदसहिष्णुर-भेदस्तादात्म्यमिति भगवत्पतञ्जल्युक्ततादात्म्यलक्षणसमन्वयात्। एवं साधर्म्यवचनेन मुक्तौ स्वरूपैक्यवादः केवलभेदवादश्च बहुवचनेनात्मैक्यवादश्च स्पष्टं निरस्तः।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ! सर्वशः ॥११॥

ननु यदि ज्ञानतपसा पूतानां निष्कामभक्तानामेवात्मभावं ददासि, नान्येषां सकामभक्तानां तर्हि त्वय्यपि वैषम्यं स्यादित्याशंक्याह—ये यथेति। ये भक्ता यथा येन प्रकारेण सकामतया निष्कामतया च मां प्रपद्यन्ते उपासते तांस्तथैव तदीप्सितफलदानप्रकारेण भजामि, अनुगृह्णामि। तत्रापि न केवलमात्म-भक्तानेवापि तु अन्यदेवभक्तानप्यनुगृह्णामि। यतः सर्वशः सर्वप्रकारेण इन्द्रादिदेवानपि भजन्तो मनुष्या मम सर्वात्मभूतस्य वासुदेवस्य वर्त्म भजनमार्गमनुवर्त्तन्ते 'यमिन्द्रमाहुर्वरुणं यमाहुः स ब्रह्मा स शिवः

इसलिये सर्वज्ञता आदि धर्म के आविर्भाव होने से और दिव्य विग्रह की समानता होने से मुक्ति अवस्था में जीव और परमेश्वर में अभेद है और इस प्रकार जीव को भेद और अभेद वाला तादात्म्य लक्षण अर्थात् भेदाभेद सम्बन्ध प्राप्त होता है।

तादात्म्य किसे कहते हैं? भगवान् पतञ्जलि इसका उत्तर देते हैं कि "भेदसहिष्णुरभेदस्तादा-त्म्यम्" अर्थात् भेद को सहने वाले अभेद को तादात्म्य कहते हैं।

इस प्रकार साधर्म्य वचन से मुक्ति अवस्था में स्वरूप के ऐक्य का और केवल भेदवाद का और बहुवचन के व्यवहार से आत्मा के एकवाद का, खण्डन किया गया। सब कहने का सारांश यह निकला कि मुक्ति अवस्था में जब मेरे भक्त मेरे समान धर्म को प्राप्त होते हैं तो स्वरूप से तो उनमें भेद रहता है, क्योंकि वे अणु हैं, और हम परिच्छेद शून्य विभु हैं, पर इस बात से कि वे हमारे ही समान अप्राकृत शरीर वाले और अप्रतिहत वा बिना रुकावट के ज्ञान वाले हो जाते हैं हममें और उनमें यह अभेद भी है ॥१०॥

अब यहाँ शंका करते हैं कि यदि ज्ञान रूपी तप से पवित्र और कामना रहित भक्त ही को आप आत्म भाव देते हैं और कामना वाले भक्त को नहीं तो आप में भी विषमता दोष उपस्थित हो जायगा? इस शंका का उत्तर भगवान् यहाँ देते हैं :—

जो भक्त मेरी सेवा जिस प्रकार से, अर्थात् सकाम वा निष्काम भाव से, करता है मैं उसको वैसा ही मनवाञ्छित फल देकर उस पर अनुग्रह करता हूं। केवल अपने ही भक्तों पर नहीं, बल्कि अन्य देवताओं के भक्तों पर भी मैं कृपा करता हूँ चूंकि सर्व प्रकार से इन्द्रादि अन्य देवताओं की उपासना करने वाले मनुष्य भी मेरे ही भजन के मार्ग पर चलते हैं अर्थात् मेरी ही पूजा करते हैं क्योंकि मैं सर्वात्मा हूँ। इसलिए किसी भी देवता की उपासना करने वाले का कर्मफल दाता सर्वात्मा भगवान् वासुदेव मैं ही हूँ।

सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराडि'त्यादिश्रुतेः 'यदाह वसुधा सर्वं सत्यमेतद्दिवौकसः। अहं भवो भवन्तश्च सर्वे नारायणात्मका'इति वैष्णवे। तस्माद्यं कश्चिदपि भजतां कर्मफलदाता सर्वात्मा भगवान्वासुदेव एवेति फलितं, 'फलमत उपपत्तेरि'ति न्यायात्।

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

एवं चेत्तर्हि सर्वे जना निष्कामा भूत्वा मोक्षार्थं साक्षात्त्वामेव कुतो नाश्रयन्ते इत्यत आह—कांक्षन्त इति। कर्मणां सिद्धिं धनस्त्रीपुत्रपश्वादिप्राप्तिरूपां सिद्धिं कांक्षन्त इति। कर्मणां सिद्धिं धनस्त्रीपुत्रपश्वादिप्राप्तिरूपां सिद्धिं कांक्षन्तो वाञ्छन्तः प्राय इह कर्माधिकारिणि मनुष्यलोके देवता इन्द्रादीनेव यजन्ते, नतु साक्षान्मां भजन्ते। कुतः? हि यस्मात्कर्मजा सिद्धिः देवताराधनं कर्म क्षुद्रफलं क्षिप्रं शीघ्रं भवति। ज्ञानफलो मोक्षस्तु न शीघ्रं भवति तस्यानेकजन्मसाधनसिद्धिलभ्यत्वात्। 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिमि'ति वक्ष्यति। अतस्तेषां मुमुक्षाभावात् क्षुद्रफलदा देवता एव यजन्ते, न साक्षान्मामाश्रयन्ते इति भावः।

भगवान् सब देवताओं के अन्तरात्मा हैं इसमें श्रुति प्रमाण है। यथा—"यमिन्द्रमाहुर्वरुणं यमाहुः सः ब्रह्मा सः शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्" अर्थात् जिसको इन्द्र कहते हैं, जिसको वरुण कहते हैं, जिसको यम कहते हैं, वही ब्रह्मा है, वही शिव है, वही इन्द्र है, वही अक्षर है, वही परम स्वतन्त्र है। फिर विष्णु पुराण में भी लिखा है:—"यदाह वसुधा सर्वं सत्यमेतद्दिवौकसः। अहं भवो भवन्तश्च सर्वे नारायणात्मकाः।" अर्थात् हे देवताओं, जो पृथ्वी ने कहा वह सब सत्य है। मैं, शिवजी और तुम सब नारायणात्मक हो अर्थात् नारायण ह हम लोगों के अन्तरात्मा हैं। इससे जो ऊपर कहा गया है उसका यह फल निकला कि किसी भी देवता के भजन करने वाले को उसके कर्म के फल देने वाले सबके अन्तरात्मा भगवान् वासुदेव ही हैं, इस विषय में "फलमत उपपत्तेः" यह व्यास सूत्र भी प्रमाण है ॥११॥

यदि ऐसी बात है तो सब लोग निष्काम होकर मोक्ष के लिये आप ही की शरण में क्यों नहीं आते हैं? इसका उत्तर भगवान् देते हैं:—

इस कर्माधिकारी मनुष्य लोक में कर्मों की सिद्धि अर्थात् धन, स्त्री, पुत्र, पशु आदि की प्राप्ति के लिये लोग इन्द्रादि देवताओं की पूजा करते हैं, साक्षात् हमारी नहीं। क्योंकि, देवताराधन रूप कर्म से उत्पन्न क्षुद्र फल शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है, और ज्ञान का फल मोक्ष शीघ्र नहीं प्राप्त होता। मोक्ष की सिद्धि अनेक जन्म के साधन से प्राप्त होती है, जैसा कि आगे भगवान् कहेंगे। "अनेकजन्म संसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्" अर्थात् अनेक जन्म के बाद ज्ञान सिद्धि होती है और तब परागति वा मोक्ष की प्राप्ति होती है। सारांश यह कि मनुष्यों को मोक्ष की इच्छा नहीं है, केवल क्षुद्र फल की इच्छा है। इस लिये वे मेरी शरण में नहीं आकर क्षुद्र फल के देने वाले देवताओं को भजते हैं ॥१२॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥१३॥

ननु केचिदेव साक्षात्त्वां भजन्ते नतु सर्वे, तर्हि तेऽन्यदेवताभक्ता विषमस्वभावाः केन सृष्टाः, कस्येदं वैषम्यमिति चेत्तत्राह—चातुर्वर्ण्यमिति । चत्वारो वर्णा एव चातुर्वर्ण्यं स्वार्थे ष्यञ् । मयेश्वरेण सृष्टमुत्पादितं, कथं ? गुणकर्मविभागशः गुणविभागेन कर्मविभागेन चेत्यर्थः । तत्र सत्त्वप्रधाना ब्राह्मणास्तेषां सात्त्विकानि शमदमादीनि कर्माणि । सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानाः क्षत्रियास्तेषां च तादृशानि शौर्यतेजोयुद्धादीनि कर्माणि । तमउपसर्जनरजःप्रधाना वैश्यास्तेषां च तादृशानि कृष्यादीनि कर्माणि । रजउपसर्जनतमःप्रधानाः शूद्रास्तेषां च तादृशानि त्रैवर्णिकशुश्रूषादीनि कर्माणि । तस्य विषमस्वभावस्य चातुर्वर्ण्यस्य कर्त्तारमपि मामकर्त्तारं वैषम्य कर्तृत्वशून्यं विद्धि । कुतः ? यतोऽव्ययं स्वरूपगुणशक्ति-विग्रहान्यथाभावरहितं निर्विकारमित्यर्थः ।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

एतत्कुतस्तत्राह—न मामिति । कर्माणि विविधजगत्सृष्ट्यादीनि तन्निमित्तानुगुणकर्त्तारं सर्वज्ञं मां न लिम्पन्ति, तद्वैषम्यजन्यपुण्यपापानि न स्पृशन्तीत्यर्थः । अयं भावः, यथा ब्रीह्याम्रकण्टक्यादीनां

यहाँ यह शंका हो सकती है कि यदि कोई-कोई साक्षात् आपको भजते हैं सब नहीं, तब इन विषमस्वभाववाले दूसरे देवताओं के पूजकों को किसने सिरजा है ? अर्थात् इने गिने लोग तो आपको भजते हैं और बाकी सब मनुष्य अन्यदेव उपासक हैं इस विषमता का दोषी कौन है ? इस शंका का उत्तर देते हैं :—

चारों वर्णों को मैं (ईश्वर) ने ही गुण और कर्म का विभाग करके सिरजा है । अर्थात् जिनमें सतोगुण प्रधान हुआ वे ब्राह्मण हुये, और उनके शम, दम आदि सात्त्विक कर्म हुये सतोगुण कुछ दबा हुआ और रजोगुण प्रधानवाले क्षत्रिय हुये । और उनके वीर्य, तेज युद्धादिक राजसी कर्म हुये । तम कुछ दबा हुआ और रज प्रधानवाले वैश्य हुये और उनका काम भी वैसा ही हुआ, जैसे खेती, वाणिज्य इत्यादि करना । और रज कुछ दबा हुआ और तम प्रधानवाले शूद्र हुये और तीनों वर्णों की सेवा करना उनका कर्म हुआ । इन पृथक् स्वभाववाले चारो वर्णों का सृष्टिकर्त्ता मैं ही हूँ । पर मुझ में कर्त्तापन से विषमता नहीं है क्योंकि मैं अव्यय अर्थात् स्वरूप, गुण, शक्ति और विग्रह से विकारहीन हूँ । अर्थात् इस सृष्टि के कर्त्ता होने से मेरे स्वरूप, गुण, शक्ति और विग्रह में किसी प्रकार का व्यय व विकार नहीं पैदा होता, इसलिए मुझको इसके कर्त्ता होने पर भी अकर्त्ता और विषमता से शून्य जानो ॥१३॥

आप सृष्टि के कर्त्ता होकर भी अकर्त्ता हैं, ऐसा क्यों ? इसका उत्तर देते हैं । भाँति-भाँति के जगत् की सृष्टि आदि कर्म मुझको, जो उनके निमित्त गुणानुकूल जगत् का सिरजनेवाला और सर्वज्ञ हूँ नहीं छूता अर्थात् सृष्ट्यादि की विषमता और निर्घृणता का पाप पुण्य मुझ में नहीं सटता । ऐसा

विषमाणामुत्पत्तौ पर्जन्यस्यासाधारणकारणत्वेऽपि वैषम्यस्य तत्तद्बीजवृत्तित्वेन न पर्जन्ये तत्प्रसक्तिः। तथैवोत्तमाधमगुणकर्मविशिष्टसौम्यक्रूरस्वभावसुखिदुःखिविविधजीवसृष्टौ तत्फलदाने च वासुदेवस्य भगवतोऽसाधारणकारणत्वेऽपि वैषम्यस्य तत्तद्बीजात्मकानादिकर्मनिष्ठत्वेन परमेश्वरे भगवति न वैषम्यनैर्घृण्यप्रसक्तिरिति। तथा चाह भगवान्सूत्रकारः। 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वादि'ति। तत्र हेतुमाह—नमे कर्मफले स्पृहेति। यथा आत्मबन्धुमित्राणां सुखस्पृहया सुखहेतुकं कर्मकुर्वन्ति, स्ववैरिदुःखस्पृहया तथाभूतं कर्म कुर्वन्ति, न तथोत्तमाधमसुखदुःखविशिष्टप्राणिसर्जनात्मककर्मणां मे फले स्पृहाऽस्ति, आप्तकामत्वात्। न किञ्चित्फलोद्देशेन करोमीत्यर्थः। इति उक्तप्रकारेण जगत्सृष्ट्यादेः कर्त्तारमकर्त्तारं तत्कर्मसंगरहितं च यो मां साक्षाज्जानाति स कर्मभिः क्रियमाणैर्न बध्यते।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

तस्मात्फलितमाह—एवमिति। यथा फलस्पृहाराहित्येन परमेश्वरो जगत्सृष्ट्यादीनि महान्त्यपि

कहने का भाव यह है कि जैसे जौ गेहूँ इत्यादि अन्न, आम केले इत्यादि फल और अनेक भाँति के काँटेदार वृक्षों की उत्पत्ति में वर्षा असाधारण कारण है, क्योंकि उसके विना ये सब पैदा नहीं हो सकते, पर ऐसा होने पर भी उनकी विषमता के दोष का भागी जल नहीं हो सकता, क्योंकि विषमता उन उनके बीज में रहती है, उसी प्रकार उत्तम और अधम गुण और कर्म से युक्त, सुन्दर और क्रूर स्वभाव का, दुःखी और सुखी, और और प्रकार की विभिन्नतायुक्त, जीव की सृष्टि करने में और उन उनके कर्मानुसार फल देने में भगवान् वासुदेव असाधारण कारण हैं सही, पर विषमता का कारण अनादि कर्मरूप बीज में स्थित रहने से उस विषमता और निर्घृणता का दोष उनको नहीं छूता। भगवान् सूत्रकार व्यास ने भी कहा है यथा—"वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्।" इसका अर्थ ठीक वही है जो ऊपर लिखा गया है।

भगवान् कहते हैं कि ऐसा होने का कारण यह है कि जैसे साधारण जन अपने और बन्धु-बान्धवों के सुख के निमित्त सुखदेनेवाले कर्मों को करते हैं और अपने शत्रुओं को दुःख पहुँचाने की चेष्टा से उन्हें दुःख पहुँचानेवाले कर्मों को करते हैं वैसे हमारे कर्मों में हमको कुछ वाञ्छा या मनोरथ नहीं है। अर्थात् उत्तम अधम, सुखी दुःखी जीवों की सृष्टि करने में मुझे कोई फल की आकांक्षा नहीं है, क्योंकि मैं पूर्णकाम हूँ। कहने का तात्पर्य्य यह कि किसी फल के उद्देश्य से मैं कर्म नहीं करता। इस प्रकार जगत् का सृष्टिकर्ता होकर भी मैं अकर्त्ता हूँ और उस सृष्टिकर्म में आसक्तिहीन हूं। ऐसा जो मुझको जानता है उस मनुष्य को वर्त्तमान में किये गये कर्म अर्थात् क्रियमाण कर्म नहीं बाँधते। (क्रियमाण इसलिए कहा कि प्रारब्धकर्म बिना भोगे नहीं छूटते ॥१४॥

जैसे फल की आकांक्षा से रहित होने के कारण जगत् सृष्टि आदि बड़ा कर्म करके भी

कर्माणि कुर्वन्न बध्यते, तथा कर्त्तृत्वाभिमानतत्फलेच्छाराहित्येन यथाऽधिकारं विधिना कृतं कर्म बन्धकं न भवतीत्येवं ज्ञात्वा पूर्वैरपि मुमुक्षुभिर्मनुजनकादिभिः कर्म कृतम् । यस्मादेवं तस्मात्त्वमपि मुमुक्षुः पूर्वैः कृतं पूर्वतरं शिष्टपरम्परागतं कर्मैव कुरु ।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

ननु कर्मैव कर्त्तव्यं चेत्त्वद्वचनादेव करिष्यामि, परन्तु कर्मणि कश्चित्सन्देहोऽस्ति । किं ? यतः पूर्वैः पूर्वतरं कृतमित्युदाहरसीत्यत आह—किं कर्मेति । मुमुक्षुणाऽनुष्ठेयं कर्म किं स्वरूपं ? अकर्म च किमत्र कर्माकर्मज्ञानविषये कवयो विद्वांसोऽपि मोहितास्तन्निर्णयकर्त्तुमशक्ताः यथावन्न जानन्ति । यस्मात्कर्मादि ज्ञानं दुर्घटं, तत्तस्मात्ते तुभ्यं कर्म अकर्म च प्रवक्ष्यामि । यत्कर्माकर्मस्वरूपं ज्ञात्वा अशुभात्संसारान्मोक्ष्यसे ।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

ननु शरीरेन्द्रियव्यापारः कर्म तदभावः क्रियाशून्यत्वमकर्मेति सर्वजनप्रसिद्धं, कथमत्र कवयोऽपि मोहिता इत्युक्तमिति चेत्तत्राह—कर्मण इति । हि निश्चयेन कर्मणः शास्त्रविहितस्य शरीरेन्द्रिय-व्यापारस्यापि तत्त्वं बोद्धव्यमस्ति । विकर्मणः प्रतिषिद्धस्यापि तत्त्वं बोद्धव्यमस्ति । अकर्मणः

परमेश्वर उस कर्म से बाँधे नहीं जाते, वैसे ही कर्त्तापन का अहंकार छोड़, फल की इच्छारहित होकर शास्त्रोक्त विधि से किया हुआ यथाधिकार कर्म बाँधनेवाला नहीं होता। ऐसा समझ मनु, जनक आदि पहले के मोक्षार्थी लोगों ने कर्म किये हैं। इसलिए तुम भी मुमुक्षुओं से पूर्व में किये गये और शिष्ट परम्परागत कर्मों को करो ॥१५॥

यदि कर्म करना ही है तो आपके कहने ही से कर्म करूँगा, पर कर्म में कुछ सन्देह मालूम होता है, क्योंकि कर्म के विषय में आपने यही कहकर छोड़ दिया कि जैसा पूर्व में शिष्टों ने किये हैं ऐसे ही कर्म करो। अर्जुन की इस शंका का उत्तर भगवान् देते हैं :—

मुमुक्षुओं से किये जाने योग्य कर्म का क्या स्वरूप है और अकर्म का क्या स्वरूप है ? इस कर्म और अकर्म के विषय को जानने में विद्वान् भी मोह को प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् कर्म और अकर्म का यथार्थरूप विद्वान् भी निर्णय नहीं कर सकते, चूंकि कर्म इत्यादि का ज्ञान दुर्घट है। इसलिए मैं तुमसे कर्म और अकर्म के विषय में कहता हूँ। इस कर्म अकर्म के स्वरूप को जानकर तुम अशुभ से अर्थात् संसार से छुटकारा पा जाओगे ॥१६॥

शरीर इन्द्रिय आदि के व्यापार को कर्म कहते हैं, और क्रिया शून्यता को अकर्म कहते हैं। यह तो सब कोई जानता है। इसमें विद्वानों को मोह क्यों होता है ? इसका उत्तर देते हैं :—

शास्त्रविहित शरीर, इन्द्रिय आदि व्यापार के तत्त्व को निश्चय रूप से जानना चाहिये।

क्रियाऽभावस्य तूष्णीमासीनस्यापि तत्त्वं बोद्धव्यमस्ति। यतो गहना कर्मणो गतिः कर्मण इत्युपलक्षणं कर्माकर्मविकर्मणां तत्त्वं दुर्विज्ञेयमित्यर्थः।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

तदेव कर्मादीनां तत्त्वं कृपयाऽऽह—कर्मणीति। कर्मणि भगवदाराधनलक्षणे किञ्चिदंगवैगुण्येऽपि अकर्म प्रत्यवायापादकं कर्मेदं न भवतीति यः पश्येत्, तथाभूतस्य कर्मणः सत्त्वशुद्धिपूर्वकज्ञानद्वारेण मोक्षहेतुत्वाद्बन्धकत्वाभावादकर्मैव जानीयादित्यर्थः। 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते'-इत्युक्तत्वात्। अकर्मणि योग्यतायां सत्यां विहिताकरणे तूष्णीं भावे कर्म यः पश्येत्, प्रत्यवायापादकत्वेन बन्धकं यः पश्येदित्यर्थः। 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्नि'त्यादिना मिथ्याचारः स उच्यते'इत्युक्तत्वात्। चकारेण केवलकर्मनिष्ठस्य यथा वृन्ताकमसूरादिभक्षणनिषिद्धाचरणे दोष एव। भगवदाराधकस्य कथं चित्केनचिद्दत्तभगवत्प्रसादमिश्रिततद्भक्षणं चेन्न दोष इति विकर्मणोऽपि तत्त्वं सूचितम्। तथा चोक्तं श्रीभागवते। 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः। विकर्म यच्चोत्पतितं कथं चिद्धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्ट'इति। एवं कर्माकर्मादितत्त्वज्ञं स्तौति—स इति।

प्रतिषिद्ध कर्मों का भी तत्त्व जानना चाहिये। अकर्म अर्थात् क्रिया के अभाव अर्थात् चुप रहने का भी तत्त्व जानना चाहिये, क्योंकि कर्म की गति बड़ी गहन अर्थात् दुर्बोध है (कर्म से यहाँ कर्म, विकर्म और अकर्म सबको समझना चाहिये) ॥१७॥

पूर्वोक्त कर्मादि का तत्त्व भगवान् कृपा कर कहते हैं :—जो मनुष्य भगवान् की आराधना रूप लक्षण वाले कर्म में कोई अंग वैगुण्य वा अंग का खण्डन होने पर भी अकर्म देखता है कि दोष उत्पन्न करने वाले कर्मों का इसमें अभाव है। भाव यह है कि ऐसे आराधना रूप कर्मों को सत्त्व शुद्धि पूर्वक ज्ञान द्वारा मोक्ष का हेतु समझ और उनमें बाँधने की शक्ति का अभाव देख उनको अकर्म ही समझता है, जैसा कि भगवान् पीछे कह आये हैं, "नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते"। और अकर्म में अर्थात् योग्यता रहते हुए विहित कर्मों को नहीं करके चुप बैठने में जो कर्म देखता है, अर्थात् यह समझता है कि यह अकर्म वा चुप बैठना भी पाप वा दोष पैदा करने वाला होने के कारण बाँधने वाला है, जैसा भगवान् पीछे कह चुके हैं "कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्", "मिथ्याचारः स उच्यते"। "च" का अर्थ यह है कि केवल कर्मनिष्ठ पुरुष को बैंगन, मसूर आदि को भक्षण करने में दोष होता है; पर भगवान् की आराधना करने वाले को कोई प्रसाद के साथ इन निषिद्ध अन्नों को दे दे और वह खाले तो कोई दोष नहीं होता। इससे विकर्म का तत्त्व सूचित किया। श्रीमद्भागवत में भी ऐसा ही कहा गया है :—

"स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद् धुनोति सर्वं हृदिसन्निविष्टः॥"

यः कर्मादिस्वरूपतत्त्वज्ञः स पुरुषः मनुष्येषु सर्वेषु बुद्धिमान् सम्यग्ज्ञानवाञ्छ्रेष्ठ इत्यर्थः । किञ्च स युक्तः योगयुक्तः, स एव कृत्स्नकर्मकृत् । कृत्स्नफलहेतुकर्मकर्त्ता सर्वकर्मफलानां तत्रैवान्तर्भावादित्यर्थः ।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

उक्तप्रकारेण कर्माकर्मादिज्ञातुर्बुद्धिमत्त्वं यदुक्तं तदेवोपपादयति यस्येति । यस्य मुमुक्षोः सर्वे समारम्भा नित्यनैमित्तिकभगवज्जन्मकर्मोत्सवादिसम्बन्धिनः सम्यगारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः, काम्यन्त इति कामाः फलानि तत्संकल्पवर्जिता भवन्ति, तं बुधाः पण्डितं ज्ञानिनमाहुः । यतो ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्, उक्तप्रकारैः कर्मभिर्निर्मलीभूतेऽन्तःकरणे जातो यो ज्ञानरूपोऽग्निस्तेन दग्धानि फलदान्यपि भर्जितान्नवत्फलोत्पादनानर्हीभूतानि कर्माणि यस्य तमित्यर्थः ।

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

एतेन निष्कामस्य ज्ञानिनः पूर्वकर्मविनाश उक्तः । इदानीं क्रियमाणकर्मणामश्लेषमाह—त्यक्त्वेति । कर्मणि तत्फले च आसंगं फलकर्तृत्वाभिमानं त्यक्त्वा नित्येन स्वरूपानन्देन तृप्तः, निराश्रयः देहाद्यर्थ-

---

अर्थात् परेश हरि उन अपने भक्तों के हृदय में बैठ कर जो उनके चरणों की सेवा करते हैं, उनके प्रिय हैं और दूसरे देवताओं में भाव नहीं रखते, उनसे यदि किसी प्रकार विकर्म बन जावे तो उनके किये गये विकर्म को नाश कर देते हैं ।

अब कर्म अकर्म आदि जानने वालों की स्तुति करते हैं—कर्म अकर्मादि के तत्त्व का जानने वाला पुरुष सब मनुष्यों में बुद्धिमान् अर्थात् ज्ञानवान् और श्रेष्ठ है । और वही योग युक्त है और वही सब कर्म का करने वाला है ॥१८॥

पीछे जो कर्म और अकर्म के तत्त्व को जानने वाले की बुद्धिमत्ता कही है उसीका यहाँ समर्थन करते हैं । जिस मोक्ष की इच्छा वाले पुरुष के नित्य नैमित्तिक कर्म तथा भगवान् के जन्म और कर्म के उत्सव आदि से सम्बन्ध रखने वाले कर्म सम्यक् रूप से आरम्भ किये जाते हैं और फल संकल्प से शून्य हैं, अर्थात् फल की आकांक्षा से रहित हैं, उसी को पण्डित लोग ज्ञानी कहते हैं । क्योंकि उक्त प्रकार के कर्मों से अन्तःकरण निर्मल हो जाने पर जो ज्ञान रूप अग्नि उत्पन्न होती है वह फल देने वाले कर्मों को भी जला देती है । अर्थात् जो भूंजे हुए अन्न में से अंकुर नहीं निकलता और जले हुए वस्त्र से बंधन नहीं हो सकता वैसे ही इन ज्ञानियों को फल देने वाले कर्म भी फल नहीं उत्पन्न करते ॥१९॥

पीछे के श्लोक में यह कहा गया कि कामनाहीन ज्ञानियों के पूर्व में किये गये संचित कर्मों का विनाश होता है । अब यहाँ यह कहते हैं कि इन ज्ञानियों को क्रियमाण कर्म अर्थात् वर्त्तमान वा भविष्यत् में किये गये कर्म भी नहीं छू सकते अर्थात् इनमें दोष नहीं पैदा कर सकते या उनको बाँध

माश्रयणीयरहितो यः स शास्त्रीये लौकिके वा कर्मणि आभिमुख्येन प्रवृत्तोऽपि किञ्चित्कर्म न करोति, न तेन श्लिष्यते इत्यर्थः ।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

यद्येवं तर्हि—निराशीरिति । निर्गता आशिषः कामना यस्मात्स तथा यतं वशीकृतं चित्तमात्मा सेन्द्रियो देहश्च येन सः, त्यक्तः सर्वपरिग्रहः संग्रहो येन स, केवलं शारीरं शरीरसम्बधिमात्रं नित्यावर्जनीयं कर्म कुर्वन् किल्बिषं पापं नाप्नोतीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥२२॥

ननु स्यादेवं केवलशारीरकर्मस्पर्शाभाव इति, यदि पुनः पूर्वाभ्यासेन कर्मविशेषं कुर्याच्चेत्तर्हि तेन बध्येतेति चेत्तत्राहयदृच्छेति । इच्छा प्रयत्नं विनैव येन केन चिदप्रेरिता या चित्तेन भोगप्राप्तिर्यदृच्छा तयैव यो लाभः स यदृच्छालाभः वस्त्रान्नादिस्तेन सन्तुष्टः, यदि न प्राप्नुयात्तदा द्वन्द्वातीतः, द्वन्द्वानि क्षुत्पिपासाशीतोष्णवातवर्षादीनि अतीतस्तत्प्राप्तावकातरः । किञ्च विमत्सरः, परस्य भोजनादिप्राप्तौ स्वस्याप्राप्तौ चासहनताशून्यः । अत एव सिद्धावसिद्धौ च लाभालाभे च हर्षविषादरहितः । एवंवृत्तिज्ञानावस्थितो विद्वान् स्वार्थं किञ्चित्कर्म न करोति, किन्तु केन चित्स्वहिताय याचितश्चेत्सर्वज्ञत्वात्परार्थं

नहीं सकते । कर्मों और उनके फलों में आसक्ति हीन होकर अर्थात् फल के कर्त्तृत्व में अभिमान छोड़ और अपने आत्म स्वरूप के आनन्द में तृप्त और देहादि के निर्वाह के लिए आश्रयहीन होकर जो मनुष्य शास्त्रोक्त वा लौकिक कर्म में प्रवृत्त होता है, वह कोई भी कर्म नहीं करता अर्थात् उसके किये गये कर्म उसको नहीं छूते, उन कर्मों से वह लिप्त नहीं होता ।.२०॥

यदि ऐसा है तब कामना रहित मनुष्य जिसने चित्त और आत्मा को, इन्द्रियों और शरीर को अपने वश में कर लिया और संग्रह करना जिसने छोड़ दिया वह केवल शरीर सम्बन्धी नित्य और अवर्जनीय कर्मों को करता हुआ पाप को नहीं प्राप्त होता है, इसमें कुछ शंका करने की जगह नहीं है ॥२१॥

यदि ऐसी शंका हो कि केवल शरीर सम्बन्धी कर्म ऐसे मनुष्य को नहीं छूते पर पूर्व के अभ्यास से यदि कोई किसी कर्मविशेष को वह करे तो यह कर्म उसे जरूर बाँधेगा । इसका उत्तर यहाँ देते हैं— इच्छा के बिना ही, जैसे तैसे प्राप्त हुए अन्न वस्त्रादि भोगों से सन्तुष्ट और कोई भोग न मिलने पर द्वन्द से रहित अर्थात् भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, हवा, पानी इत्यादि से मुठभेड़ होने पर कातरताशून्य और मत्सर से रहित, अर्थात् किसी को कुछ भोजनादि मिल जाय और अपने को वह पदार्थ न मिले तो उस अवस्था में डाहशून्य और इन कारणों से सिद्धि असिद्धि में और लाभ अलाभ में हर्ष विषाद रहित जो ज्ञानी मनुष्य है, वह अपने स्वार्थ के लिए कोई काम नहीं करता है । किन्तु यदि कोई दूसरा

समाधिस्तत्त्वानुसन्धानं यस्य स ब्रह्मकर्मसमाधिस्तेन ब्रह्मैव गन्तव्यं प्राप्त्यं फलं नतु स्वर्गादिनश्वर-फलमित्यर्थः ।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

एवं सांगस्य यज्ञरूपकर्मणो ब्रह्मात्मकतानुसन्धानेनानुष्ठातुर्ब्रह्मप्राप्तिरूपफलमुक्तमिदानीं तस्यैव श्रैष्ठ्यप्रदर्शनाय अधिकारिभेदेनापरान्बहुविधान्यज्ञानाह—दैवमित्याद्यष्टभिः । केवला इन्द्रादयो देवा इज्यन्ते पूज्यन्ते यस्मिन्स दैवस्तं यज्ञमपरे योगिनो ज्ञानहीनाः केवल—कर्मनिष्ठाः पर्य्युपासते सम्यगनुतिष्ठन्ति । अपरे योगिनः किञ्चिज्ज्ञानविशिष्टकर्मनिष्ठा ब्रह्माग्नौ ब्रह्मरूपत्वेनाभिमतेऽग्नौ यज्ञं यज्ञद्रव्यं हविर्यज्ञेन यज्ञसाधनेन श्रुगादिना जुह्वति प्रक्षिपन्ति । अग्निमात्रे ब्रह्मबुद्धयस्ते, नतु कर्त्तृ कर्मादिकारक-कलापेऽतस्तेषां पूर्वोक्ताद्ब्रह्मार्पणादिबुद्धिमतोऽवरत्वमिति भावः ।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

तेभ्यः श्रेष्ठानाह—श्रोत्रादीनीति । अन्ये निवृत्तिधर्मनिष्ठा ब्रह्मज्ञानाप्तिकामा ज्ञानपरिपन्थि-भूतानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि तत्तत्संयमरूपेष्वग्निषु जुह्वति, इन्द्रियाणां विषयेभ्योनियमनपरास्तिष्ठन्ती-

---

कर्म में जिसकी समाधि वा तत्त्वानुसन्धान है, वह मनुष्य ब्रह्म ही को प्राप्त होता है । स्वर्गादि नश्वर फल उसको नहीं मिलते ॥२४॥

अङ्ग सहित यज्ञरूप कर्म को ब्रह्मात्मक समझ कर उसके करनेवाले को उस कर्म का फल-स्वरूप ब्रह्मप्राप्ति होती है । यह कहकर अब ऐसे यज्ञ की श्रेष्ठता दिखाने के लिये अधिकारी भेद से दूसरे बहुत प्रकार के यज्ञों का वर्णन आगे के श्लोकों से करते हैं—दूसरे योगी लोग जो ज्ञानहीन और केवल कर्मनिष्ठ हैं, वे दैवयोग अर्थात् जिन यज्ञों में केवल इन्द्रादि देवों की ही पूजा होती है, करते हैं और अन्य योगीलोग जो कुछ ज्ञानविशिष्ट होते हुए भी कर्मनिष्ठ ही हैं वे ब्रह्माग्नि में अर्थात् ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ के साधन श्रुवा आदि आदि से हवि अर्थात् यज्ञद्रव्य को फेंकते हैं । कहने का तात्पर्य यह कि—केवल अग्निमात्र में इनकी ब्रह्मबुद्धि है, कर्त्ता, कर्म इत्यादि कारककलाप में नहीं । इसलिये पूर्व में कहे गये ज्ञानियों से ये अश्रेष्ठ हैं ॥२५॥

ऊपर कहे गये योगियों से श्रेष्ठ योगियों का वर्णन करते हैं—दूसरे योगी जो निवृत्ति धर्म में निष्ठ और ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छावाले हैं, ज्ञानमार्ग के लुटेरे, कान, आँख आदि इन्द्रियों को संयमरूप अग्नि में हवन करते हैं अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से रोकने में निरत रहते हैं । और दूसरे जो प्रवृत्ति धर्म में निष्ठ हैं और संतति बढ़ाने की इच्छावाले हैं, विषय भोग के समय शब्दादि विषयों

त्यर्थः। अन्ये प्रवृत्तिधर्मनिष्ठाः सन्ततिवृद्धिकामा विषयभोगसमये हविष्ट्वेन भावितान् शब्दादीन्विषयानग्नित्वेन भावितेषु इन्द्रियेषु जुह्वति, यज्ञरूपकेण विषयानुभवे वर्त्तन्त इत्यर्थः।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

तेभ्योऽपि श्रेष्ठाधिकारिण आह—सर्वाणीति। अपरे पूर्वमेव नियमितज्ञानेन्द्रियत्वाद्बाह्यविषयासक्तिशून्याः योगिनः सर्वाणीन्द्रियकर्माणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानां कर्मेन्द्रियाणां वचनादानगमनोत्सर्गानन्दाख्यानि कर्माणि प्राणकर्माणि च पञ्चप्राणानां कर्माणि तत्र प्राणस्योद्ध्वंगमनम्, अपानस्याधोगमनं, व्यानस्य विष्वक्शरीरे गमनाकुञ्चनप्रसारणानि, उदानस्य पीताशितान्नाद्युद्गारकरणं समानस्याशितपीतान्नादेः सर्वत्र शरीरे समीकरणम्। एतानि आत्मसंयमयोगाग्नौ आत्मनो मनसः संयमो वृत्त्यन्तरवैमुख्यपूर्वकमात्मप्रवणीकरणं ध्यानयोग्यतासम्पादनं स योग एव सर्वाशुभदाहकत्वादग्निस्तस्मिन् ज्ञानदीपिते ज्ञानेन प्रज्वलिते जुह्वति। ध्येयं सम्यङ्निश्चित्य तस्मिन्मनोनिश्चलीकर्त्तुं इन्द्रियप्राणकर्माणि त्याजयन्तीत्यर्थः।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

को हवि मानकर और इन्द्रियों को अग्नि समझ कर विषयों का इन्द्रियों में हवन करते हैं। अर्थात् विषयानुभव को यज्ञरूप समझकर उसमें प्रवृत्त होते हैं ॥२६॥

ऊपर कहे गये योगियों से भी श्रेष्ठ अधिकारी का अब वर्णन करते हैं :—दूसरे योगी लोग जो पहले ही से ज्ञान इन्द्रिय को नियमन कर बाहर के विषयों में आसक्ति शून्य हो गये हैं, वे सब ईन्द्रियों और प्राणादि के कर्मों को, आत्म संयम रूपी योग की अग्नि में, उसको ज्ञान से प्रज्वलित कर, हवन कर देते हैं। आत्मा याने मन का संयम अर्थात् मन को वृत्तियों से हटा कर आत्मा की ओर लगाना अर्थात् ध्यान की योग्यता प्राप्त करना ही योग रूपी अग्नि है। अग्नि इसलिए कहा कि सब अशुभों को जलाने की इसमें शक्ति है। इसी अग्नि को ज्ञान से प्रज्वलित कर ऊपर कहे गये योगी उसमें सब इन्द्रिय और प्राणों के कर्मों को हवन करते हैं। तात्पर्य कि अपने ध्येय को सम्यक् रूप से निश्चय करके और उसी में अपने मन को निश्चल कर इन्द्रिय और प्राण के कर्मों को छोड़ देते हैं। इन्द्रियों के कर्म ये है :—वाक् का बोलना, हाथ का लेना-देना, पैर का चलना, पायु का मल त्याग करना, और उपस्थ का आनन्द अनुभव करना। प्राणादि के कर्म ये हैं :—प्राण वायु का ऊपर जाना, अपान वायु का नीचे आना, व्यान वायु का शरीर को फैलाना सिकुड़ना इत्यादि। उदान वायु का खाये पीये अन्न का ढेकार होना, समान वायु का खाये पीये अन्नादि को शरीर में सब जगह बराबर रूप से पहुँचाना ॥२७॥

यथोच्छिष्टं भक्तानां भोजनद्वयम्। नान्यद्वै भोजनं तेषां भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्। अनर्पयित्वा यो भुङ्क्ते अन्नपानादिकं च यत्। शुनो विष्ठासमं चान्नं पानं च मदिरासममि'ति। वक्ष्यति च भगवान्स्वयमपि। 'यत्करोषि यदश्नासी'त्यादिना। तत्फलं च 'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैरि'ति। तस्माद्विष्ण्वनर्पितस्य भोज्यस्य कुतोऽमृतत्वं, कुतो वा तद्भुञ्जतां ब्रह्मप्राप्तिरिति सङ्क्षेपः।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ! ॥३१॥

एवं यज्ञानुष्ठाने गुणमुक्त्वा तदभावे दोषमाहार्धेन—नायमिति। पूर्वोक्तानां यज्ञानां मध्ये यस्य कोऽपि यज्ञो नास्ति, सोऽयज्ञस्तस्यायमल्पसुखो मनुष्यलोकोऽपि नास्ति। कुतोऽन्यो विशिष्टसुखः परलोको हे कुरुसत्तमेति।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

उक्तयज्ञानां प्रमाणापेक्षायां वैदिकत्वमाह—एवमिति। एवमुक्तप्रकारेण बहुविधा बहुप्रकारा यज्ञा ब्रह्मणो वेदस्य मुखे पूर्वकाण्डे वितता विस्तृताः। वेदद्वारेणैव ते ज्ञेयाः। वेदादेव वैदिकैः परम्परया-

---

"अवशिष्टं यथोच्छिष्टं भक्तानां भोजनद्वयम्।
नान्यद्वै भोजनं तेषां भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥
अनर्पयित्वा यो भुंक्ते अन्नपानादिकं च यत्।
शुनो विष्ठासमं चान्नं पानं च मदिरासमम्॥"

अर्थात्—भक्तों के लिए दो ही प्रकार का भोजन है, मेरे भोजन से बचा हुआ वा मेरा जूंठा। उनके लिए दूसरा भोजन नहीं है। दूसरा भोजन करके उनको चान्द्रायण व्रत करना चाहिए। बिना मुझे अर्पण किये हुए जो अन्नपानादिक करता है, उसका अन्न कुत्ते विष्ठा के समान और पानी मदिरा के समान है। भगवान् स्वयं भी आगे इस विषय में "यत्करोषि यदश्नासि" इत्यादि श्लोक में कहेंगे और उसका फल "शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः" के श्लोक में कहेंगे। संक्षेप में अर्थ यह हुआ कि विष्णु को नहीं अर्पण किये हुए भोजन में अमृतत्त्व कहाँ से आ सकता है और इसलिए उस भोजन करने वाले को ब्रह्म की प्राप्ति कहाँ से हो सकती है अर्थात् कदापि नहीं हो सकती ॥३०॥

यज्ञ के अनुष्ठान के गुणों को कह कर अब यज्ञ न करने के दोषों को आधे श्लोक से दिखाते हैं :— हे कुरुओं में श्रेष्ठ, पूर्व में कहे गये यज्ञों में से किसी यज्ञ को भी जो मनुष्य नहीं करता वह अयज्ञ मनुष्य इस अल्प सुख वाले लोक को भी नहीं पाता अर्थात् नहीं भोगता। विशेष सुख वाले परलोक के प्राप्त करने की बात तो दूर रही ॥३१॥

पीछे कहे गये यज्ञों की प्रमाण स्वरूप वैदिकता दिखाते हैं :—पीछे कहे गये बहुत भाँति के यज्ञ ब्रह्म अर्थात् वेद के मुख में अर्थात् पूर्व काण्ड में जिसको पूर्व मीमांसा काण्ड कहते हैं विस्तृत हैं।

वगन्तव्या इत्यर्थः। तान्सर्वान् कर्मजान् कायिकवाचिकमानसकर्मसमुद्भवान् विद्धि जानीहीति। कर्मणाम-नित्यत्वेनात्मस्वरूपस्य च नित्यत्वान्न नित्यसम्बन्धः, इत्येवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे कर्ममयसंसारादित्यर्थः।

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप !।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

सर्वेषां तुल्यवन्निर्देशात् ज्ञानयज्ञस्यापि तदन्तर्गणनात्तत्साम्यापत्ति वारयन्नाह—श्रेयानिति। हे परन्तप ! द्रव्यमयाद्दैवादिरूपात्तदुपलक्षिताज्ज्ञानहीनादल्पफलकात्सर्वस्माद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः श्रेयान् प्रशस्यतरः। तत्र हेतुः। सर्वं कर्म सांगोपांगमखिलं हेतुफलसहितं ज्ञाने तत्त्वंपदार्थस्वरूपगुणसम्बन्ध-विषयकानुभवे परिसमाप्यते, अन्तर्भवतीति 'सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश'इति श्रुतेः। श्रीभागवतेऽपि। 'तपस्तीर्थं जपो दानं पवित्राणीतराणि च। नालंकुर्वन्ति तां सिद्धिं या ज्ञानकलया कृते'ति।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

एवम्भूतज्ञानप्राप्तिः केनोपायेन स्यादित्यपेक्षायामाह-तद्विद्धीति। तत्सर्वकर्मविलक्षणं सर्वफलदं

वेद ही के द्वारा वे जाने जा सकते हैं अर्थात् वैदिकों से परम्परा के रास्ते इनको जानना चाहिए। इन सब यज्ञों को कायिक, मानसिक, और वाचिक कर्मों से उत्पन्न जानो। कहने का भाव यह कि कर्म अनित्य है और आत्म स्वरूप नित्य है इसलिए नित्य आत्म स्वरूप का इन अनित्य कर्मों से नित्य सम्बन्ध नहीं है। ऐसा जान कर तुम कर्ममय संसार से मोक्ष पा जाओगे ॥३२॥

पीछे सब यज्ञों की एक साथ ही गणना कर दी गयी। ज्ञान यज्ञ की भी उन्हीं में गणना हो गयी, इससे ज्ञान यज्ञ सभी के बराबर ही न समझा जाय इसलिए उसकी और यज्ञों से श्रेष्ठता दिखाते हैं।

हे अर्जुन ! द्रव्यमय आदि जितने यज्ञ हैं, वे ज्ञानहीन होने से अल्पफल के देने वाले हैं, इसलिए उन सब यज्ञों से ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है। इसका कारण यह है कि हेतु और फल के साथ सब कर्मों का अन्त ज्ञान ही में होता है अर्थात् 'तत्' और 'त्वं' पदार्थ (ब्रह्म और जीव) के स्वरूप और गुण सम्बन्धी अनुभव ही में सब कर्म अपने कारण और फल के साथ अन्त हो जाते हैं। श्रुति भी ऐसा ही कहती है यथा—"सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः" अर्थात् देखने वाला (मुक्त) सबको देखता है और सब प्रकार से सबको पाता है। फिर श्रीमद्भागवत में भी लिखा है :—"तपस्तीर्थं जपोदानं पवित्राणी-तराणि च। नालंकुर्वन्ति तां सिद्धिं या ज्ञानकलयाकृता" ॥ अर्थात् जितनी सिद्धि ज्ञान की एक कला से होती है, उतनी तप, तीर्थ, जप, दान या पवित्र कर्मों से नहीं होती ॥३३॥

इस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति किस भाँति हो सकती है उसी को कहते हैं—

ज्ञानं विद्धि लभस्व, उक्तज्ञानवतां प्रणिपातेन श्रद्धाभक्तिपूर्वकदण्डवत्प्रणामेन। ततश्च कोऽहं? किंस्वरूपः? कथं बद्धोऽस्मि? कथं वा मुच्येयं? को वा मे नियन्तेत्यादिपरिप्रश्नेन बहुविधसन्देहविषयेण प्रश्नेन सेवया शुद्धभावेन शुश्रुषया च प्रसादाभिमुखा ज्ञानिनः शास्त्रजन्यपरोक्षानुभववन्तः, तत्त्वदर्शिनः शास्त्रार्थभूततत्त्वसाक्षात्काराश्रयास्ते तुभ्यं ज्ञानं जीवेश्वरस्वरूपयाथात्म्यमुपदेक्ष्यन्ति, समीचीनयुक्तिप्रमाणैः सन्देहनिवर्त्तनेन सम्पादयिष्यन्ति। तत्त्वदर्शिभिरेवोपदिष्टे ज्ञाने सर्वं कर्मान्तर्भवति, न त्वन्योपदिष्टे इत्यर्थः। एतेन 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमि'ति श्रुत्यर्थो दर्शितः। बहुवचनं चात्र यद्येकस्माद्गुरोः सम्यग्ज्ञानालाभश्चेत्तर्ह्यन्यस्मात्तत्त्वदर्शिन उक्तरीत्यैवोपादेयम्। तत्रापि सन्देहावशेषेऽन्यस्माद् ग्राह्यमित्येतदर्थम्। एकस्मादेव कृतार्थतायां नेतरापेक्षेति विवेकः।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव!।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥३५॥

एवम्भूतमाहात्म्यस्य ज्ञानस्येहापि यत्फलं तद्दर्शयति—यदिति। यत्तत्त्वदर्शिभिरुपदिष्टं ज्ञानं ज्ञात्वा सम्यगवधार्य्य पुनर्मोहमन्तः करणविभ्रमम्, 'यानेव हत्वा न जिजीविषाम'इत्याद्युक्तप्रकारेण न

सब कर्मों से विलक्षण और सब फल को देनेवाले उस ज्ञान को प्राप्त करो। कैसे प्राप्त करो, सो बताते हैं—

उस ज्ञान के जाननेवालों को श्रद्धा भक्तिपूर्वक दण्डवत् प्रणाम करके, फिर उनसे इन सब सन्देह के विषयवाले प्रश्नों को पूछकर—"मैं कौन हूँ? मैं कैसे बँधा हूँ? मेरा स्वरूप क्या है? मैं कैसे छूटूंगा? मेरा नियन्ता कौन है?" इत्यादि। शुद्ध भाव से सेवा के द्वारा प्रसन्न होने पर शास्त्र से उत्पन्न परोक्ष विषयों के अनुभववाले वे ज्ञानी पुरुष जिन्होंने शास्त्रार्थभूत तत्त्वों का साक्षात्कार किया है, वे तुमको जीव और ईश्वर के यथार्थ स्वरूप का उचित युक्ति और प्रमाण के साथ उपदेश करेंगे और इस बारे में तुम्हारे सन्देह को हटावेंगे। तत्त्वदर्शियों ही के द्वारा उपदेश किये हुए ज्ञान से कर्मों का अन्त होता है, दूसरे के उपदेश से नहीं।

इस श्लोक से नीचे लिखी श्रुति का अर्थ दिखलाया "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्, समित्पाणि श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।" अर्थात् परमात्मा के स्वरूप गुणादि को विशेष जानने के लिये और कुछ न बन पड़े तो हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाओ।

तत्त्वदर्शी शब्द में बहुवचन इसलिये व्यवहार किया है कि यदि एक गुरु से पूर्ण रीति से ज्ञान लाभ नहीं हो तो पूर्वोक्त रीति से दूसरे तत्त्वदर्शी गुरु के समीप जाय। उस पर भी सन्देह रह जाय तो तीसरे के पास जाय। अगर एक ही से ठीक ज्ञान प्राप्त हो जाय तो दूसरे की अपेक्षा न करे॥३४॥

ऐसे माहात्म्यवाले ज्ञान का यहाँ पर अर्थात् इस संसार में जो फल होगा उसको कहते हैं—

तत्त्व के जाननेवाले वा द्रष्टा से उपदेश दिये गये ज्ञान को भलीभाँति धारण करके तुमको

यास्यसि प्राप्स्यसि । कुतस्तत्राह येन ज्ञानेन भूतानि बन्धुसुहृदादीनि अशेषेण देवमनुष्यतिर्य्यगन्तानि सर्वाणि आत्मनि त्वम्पदार्थे द्रक्ष्यसि । आत्मतुल्यतया ज्ञास्यसि । वैषम्यं तु प्रकृतिकार्यशरीरनिष्ठम् । आत्मा तु ज्ञानस्वरूपत्वेन सर्वत्र देहेषु सम एवातो न मत्तः कश्चिद्विलक्षणोऽस्तीति निश्चेष्यसीत्यर्थः । अथोऽनन्तरं मयि सर्वात्मनि तत्पदार्थे वासुदेवे भगवति सर्वाणि भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यसि । आत्मानां सर्वेषां मदात्मकत्वमदधीनत्वमद्व्याप्यत्वमदाधेयत्वादिना बन्धे मोक्षे च मत्तोऽन्यत्रावस्थित्यभावादित्यर्थः ।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥३६॥

अन्यदपि ज्ञानमाहात्म्यं शृण्वित्याह—अपि चेदिति । अपिचेच्छब्दौ कदा चित्सम्भावनापरौ । ज्ञानमाहात्म्यद्योतनायाऽसम्भावितमप्यर्थमङ्गीकृत्योच्यते । यद्यपि सर्वपापेभ्यः पापकारिभ्यः पापकृत्तमस्त्वमसि, तथाऽपि सर्वं वृजिनं पापं ज्ञानप्लवेनैव ज्ञानरूपपोतेनैव सम्यक् तरिष्यसि अतिक्रमिष्यसि ।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ! ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

फिर ऐसा मोह वा अन्तःकरण का भ्रम नहीं होगा, जैसा कि "यानेव हत्वा न जिजीविषामः" इत्यादि कहकर तुमने प्रगट किया है । मोह क्यों नहीं होगा इसका कारण बताते हैं—इस ज्ञान से बन्धु, सुहृत् आदि, देव, मनुष्य, तिर्यक् पर्यन्त सभी को तुम अपने आत्मा वा त्वम्पदार्थ में देखोगे । अर्थात् सबों में आत्मा की तुल्यता को जानोगे और यह समझोगे कि एक दूसरे से विषमता वा पृथक्ता केवल शरीर से, जो प्रकृति का कार्य है, सम्बन्ध रखती है । तात्पर्य कि आत्मा में विषमता नहीं है । विषमता केवल प्रकृति के कार्यरूप शरीर में है । आत्मा ज्ञानस्वरूप होने से सब देहों में बराबर ही है । इस वास्ते हमारे आत्मा में कुछ विलक्षणता नहीं है, ऐसा तुम निश्चय करके जानोगे । इसके अनन्तर सब भूतों को अशेष रूप से मुझ भगवान् वासुदेव में जो तत्पदार्थ हूँ, देखोगे : क्योंकि सब आत्मा (जीव) मेरे ही आत्मक हैं याने उन सबका अन्तरात्मा मैं ही हूँ । वे मेरे ही अधीन हैं, वे मुझसे ही व्याप्त हैं, वे मेरे ही आधार से स्थित हैं इसलिये बन्ध (संसार) और मोक्ष दोनों ही दशा में ये हम में ही हैं अर्थात् हमसे पृथक् नहीं हो सकते क्योंकि उनको मेरे बिना ठहरने की दूसरी जगह ही नहीं है ॥३५॥

और भी ज्ञान का माहात्म्य सुनो । ज्ञान का माहात्म्य दिखाने के लिये असम्भव बात को भी सम्भव कर कहते हैं—

यदि कदाचित् यह असम्भव बात भी सम्भव बात हो जाय कि तुम सब पाप करनेवालों से भी महापाप करनेवाले हो जावो तो भी इस ज्ञानरूपी नौका के द्वारा उन अपने सब पापों को सम्यक् रूप से पार कर जाओगे ॥३६॥

ननु यथा प्लवेन तरणे समुद्रनाशो न भवति, तथा ज्ञानप्लवेन कर्मणामपि नाशो न स्यादित्याशंक्याऽऽह—यथेति। यथा समिद्धः प्रज्वलितोऽग्निः एधांसि काष्ठानि भस्मसात्कुरुते, हे अर्जुन तथा ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि प्रारब्धभिन्नानि पापपुण्यरूपाणि भस्मसात्कुरुते।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

अतएव—न हीति। ज्ञानेन सदृशं पवित्रं पावनमिहजगति नहि विद्यते। एवंभूतज्ञानमाशु किं नोपजायते इत्यत आह—तत्स्वयमिति। तज्ज्ञानं महता कालेन योगसंसिद्धः योगेन पूर्वोक्तकर्मयोगेन यथाविध्यनुष्ठितेन संसिद्धः योग्यतामापन्नः पुरुषः स्वयमेवात्मनि स्वान्तर्विन्दति लभते।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

ननु कालेन योगसंसिद्धः स्वयमेवज्ञानं लभते चेत्तर्हि पूर्वोक्तगुर्वभिगमनप्रणिपातादेरप्रयोजकत्वं स्यादित्याशंकानिरासार्थं ज्ञानाधिकारिणं विशिनष्टि—श्रद्धावानिति। योगसंसिद्धः स्वयं ज्ञानं लभते इति सत्यं, तथाऽपि स किंगुणविशिष्टोऽभिप्रेतस्तं शृणु, श्रद्धावानिति। गुरुशास्त्रोक्तवाक्यार्थे एवमेवायमित्यास्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा, तद्वान्। न चैतावत्त्वमेवापि तु तत्परः गुरूपासनशास्त्राभ्यासयोः सदोद्युक्तः।

नौका द्वारा समुद्र पार कर जाने पर भी समुद्र का नाश नहीं होता, वैसे ही ज्ञानरूपी नौका से कर्मरूपी समुद्र का नाश नहीं हो सकता ऐसी शंका का उत्तर यहाँ देते हैं—

जैसे प्रज्वलित अग्नि लकड़ी को भस्म करता है, वैसे ही, हे अर्जुन! ज्ञानरूपी अग्नि प्रारब्ध कर्मों को छोड़ और सब पाप पुण्यरूप कर्मों को भस्म कर देता है ॥३७॥

इसलिये ज्ञान के सरीखा पवित्र इस संसार में दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। तब ऐसा ज्ञान झट से क्यों नहीं पैदा हो जाता? इसके उत्तर में कहते हैं, कि वह ज्ञान बहुत काल में पूर्व कहे हुए कर्मयोग का यथाविधि अनुष्ठान करने से योग्यता प्राप्त किये हुए पुरुष को अपनी आत्मा में स्वयं प्राप्त हो जाता है ॥३८॥

कर्म योग के द्वारा योग्यता सम्पन्न पुरुष जब काल पाकर स्वयं ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो गुरु के यहाँ जाना, उसको नमस्कार करना इत्यादि जो पीछे कह आये हैं, उनकी क्या जरूरत है? इस शंका का उत्तर देने के लिये यहाँ ज्ञानाधिकारी के विशेषणों को कहते हैं :—

कर्म योग से योग्यता सम्पन्न पुरुष स्वयं ज्ञान प्राप्त करता है यह सत्य है; पर उस पुरुष को किन किन गुणों से युक्त होना चाहिये। उसको सुनो। सबसे पहले उसको श्रद्धा वाला होना चाहिए, अर्थात् गुरु और शास्त्र के वाक्य में आस्तिक्य बुद्धि होनी चाहिए; जो बात गुरु और शास्त्र जैसा बतावें उसको बिना संकल्प विकल्प के वैसा ही ठीक जाने। दूसरा कि गुरु और शास्त्र में रत हो अर्थात्

तद्विरोधिनिरासार्थमाह—संयतेन्द्रिय इति। श्रद्धावत्त्वेऽपि इन्द्रियचाञ्चल्यं चेद्गुरुशास्त्रसेवादिपरता न स्यादतः सम्यग्यतानि वशीकृतानीन्द्रियाणि येन स एव ज्ञानं लभते, नान्यः। तस्मात्पूर्वं निष्कामकर्मयोगानुष्ठानेनान्तःकरणशुद्धया श्रद्धादिसम्पत्त्या ज्ञानलाभः स्यादिति सर्वं निरवद्यम्। एवं साधनपरम्परया ज्ञानं लब्ध्वा प्राप्य विक्षेपहेतुकर्मात्मिकाविद्यानाशेन परां शान्तिं मुक्तिलक्षणामचिरेणैवाधिगच्छति प्राप्नोति।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

एवं श्रद्धाभक्तिमतः सद्गुरूपदेशाल्लब्धज्ञानस्य मोक्षफलमुक्त्वा तदभाववतोऽज्ञस्य विनाशमाह—अज्ञश्चेति। अज्ञो गुरूपदिष्टतत्त्वज्ञानशून्यः। तत्र हेतुः अश्रद्दधानः पूर्वोक्तलक्षणश्रद्धाशून्यः। तत्रापि हेतुः—संशयात्मेति। द्वौ च-शब्दौ पुनरर्थकौ तथा हि अज्ञोऽपि सद्गुरूपदिष्टेन केन चित्सुगमोपायेन मुच्येत। पुनरश्रद्दधानः श्रद्धाहीनत्वादुपायं नानुतिष्ठति, तदनुष्ठानाभावेऽपि दृढसत्संगेन कथं चिच्छ्रद्धीयेत। पुनः संशयात्मा संशयाः फलसाधनोपास्यधर्मगुरुशास्त्रादिविषयभेदेनानेकधा, तत्र परं

गुरु की उपासना और शास्त्र के अभ्यास में सदा ही उद्योगी हो। अब इन गुणों के विरोधी गुणों को हटाये रखने को कहते हैं :—ज्ञानाधिकारी पुरुष को संयतेन्द्रिय होना चाहिये। क्योंकि श्रद्धावान् होते हुए भी इन्द्रियों की चञ्चलता के कारण वह गुरु और शास्त्र की सेवादि में तत्पर नहीं हो सकता। इसलिए इन्द्रियों को वश में करना ज्ञानाधिकारी पुरुष के लिए अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा ही पुरुष ज्ञान लाभ करता है, दूसरा नहीं। इससे यह बात सिद्ध हुई कि पहले निष्काम कर्म करके अन्तःकरण की शुद्धि से श्रद्धादि सम्पत्ति को प्राप्त कर विक्षेप का कारण कर्मात्मिका अविद्या (अज्ञान) के नाश होने से मुक्ति लक्षण वाली परा शान्ति को अविलम्ब से प्राप्त कर लेता है ॥३९॥

इस प्रकार श्रद्धाभक्ति वाले को सद्गुरु के उपदेश से प्राप्त ज्ञान का फल मोक्ष मिलता है, ऐसा कहा। अब यह कहते हैं कि जिनको श्रद्धा भक्ति नहीं है, वे अज्ञ विनाश को प्राप्त करते हैं। जो अज्ञ हैं अर्थात् गुरु के द्वारा उपदेश किये गये तत्त्व ज्ञान से शून्य हैं और इसका कारण यह है कि वे पूर्व में कहे गये लक्षण वाली श्रद्धा से रहित हैं, और उनके श्रद्धा रहित होने का भी कारण यह है कि उनके आत्मा को संशय घेरे हुए है, ऐसे मनुष्य श्रेय मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं। यहाँ "च" शब्द दो बार पुनः अर्थात् फिर के अर्थ में आया है। अज्ञ भी सद्गुरु के उपदेश से कोई सुगम उपाय पाकर बन्धन से छूट सकता है। फिर श्रद्धा हीन पुरुष श्रद्धा के अभाव से कोई उपाय नहीं करता, पर किसी उपाय के अनुष्ठान न करने पर भी यदि दृढ़ सत्संग हो जाय तो उसको कुछ श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है। फिर, कितने मनुष्य संशय वा सन्देह से घिरे आत्मा वाले हैं, अर्थात् उनको फल, साधन, उपास्य, धर्म, गुरु शास्त्रादि विषय में संशय है, जैसे फल के बारे में जिनको यह संशय है कि परम फल मोक्ष है वा स्वर्ग ? साधन के विषय में जिनको यह सन्देह है कि श्रेय का साधन कर्म है वा ज्ञान ? उपास्य के विषय में यह सन्देह है कि

श्रेयः मोक्षः ? स्वर्गादि वा ? साधनं ज्ञानं कर्म वा ? तत्प्राप्त्यर्थं विष्णुराराध्य ? रुद्रेन्द्रविनायक-शक्त्यादिर्वा ? धर्मो वैष्णवः श्रेष्ठः ? इतरो वा ? गुरुर्निष्किञ्चनो धनाढ्यो वा ? गुरुवचनं सत्यमसत्यं वा ? शास्त्रं वेदान्तमन्यद्वेत्यादिसंशयेष्वात्मा मनो यस्य, न त्वेकस्मिन्निश्चये, अतो न सत्संगनिष्ठो भवति, किन्त्वितस्ततो धावति। तस्मादेव विनश्यति, श्रेयोमार्गाद्भ्रश्यति। यतः संशयात्मनः पुरुषस्यायं मनुष्यलोको नास्ति, धर्मार्जनविवाहादौ सम्यक् प्रवृत्त्यभावात्। परलोकोऽपि नास्ति, तत्साधनधर्मानुष्ठानात्। नच सुखं कस्मिंश्चिदपि निश्चयाभावात्। कुतो मोक्ष इति भावः। एवं चाज्ञस्येत्यादिविशेषणत्रयमेकस्यैव बोध्यमन्यथा "भिद्यते हृदयग्रन्थिरि"त्यादि श्रुतेः "अज्ञसर्वज्ञभक्तानां गतिर्गम्यो भवानि"ति स्मृतेश्च विरोधः स्यात्।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ! ॥४१॥

एवं संशयात्मनोऽज्ञस्य सर्वार्थभ्रंशमुक्त्वा सदाचारानुवर्त्तिनो मुमुक्षोर्निश्रेयसाय संशयवारणार्थं पूर्वोक्तक्रमेण कर्मयोगज्ञानयोग (योः) द्वयमेवोपदिशन्नुपसंहरति—योगेति द्वाभ्याम्। योगेन भगवदा-

---

फल की प्राप्ति के लिये विष्णु की आराधना करनी चाहिए वा रुद्र, इन्द्र, गणेश, शक्ति इत्यादि अन्य देव देवियों की ? धर्म के विषय में यह सन्देह है कि वैष्णव धर्म सर्वश्रेष्ठ है, वा और कोई धर्म ? गुरु के विषय में सन्देह है कि गुरु दरिद्र अच्छा है वा धनाढ्य और गुरु का वचन सत्य है वा मिथ्या ? शास्त्र के विषय में सन्देह है, कि शास्त्रों में वेदान्त श्रेष्ठ है वा और कोई शास्त्र ? इस प्रकार अनेक प्रकार के सन्देह जिनके मन को घेरे हुए हैं, उनको किसी एक में निश्चय नहीं होता। इसलिये उनकी सत्संग में भी निष्ठा नहीं होती और वे इधर उधर दौड़ते फिरते हैं। इसीलिए उनका नाश होता है अर्थात् वे श्रेय पथ अर्थात् कल्याण के मार्ग से गिर जाते हैं। संशय युक्त मन वाले मनुष्य को यह मनुष्य लोक नहीं होता, क्योंकि धर्म, अर्जन, विवाहादि सब चीज में संशय रहने के कारण उनकी उनमें पूरी प्रवृत्ति नहीं होती। ऐसे मनुष्य को परलोक भी नहीं होता क्योंकि संशय के कारण परलोक प्राप्ति के साधन धर्म का अनुष्ठान वह नहीं करता; और सबमें अनिश्चय रहने के कारण संशयात्माओं को सुख भी नहीं होता। कहने का भाव कि ऐसे लोगों को मोक्ष कैसे हो सकता है अर्थात् कदापि नहीं हो सकता। इस प्रकार अज्ञादि तीनों विशेषणों से एक ही मनुष्य का बोध होता है। पृथक्-पृथक् मनुष्य के विशेषण नहीं है। ऐसा नहीं मानने से नीचे लिखी श्रुति और स्मृति से विरोध पड़ेगा। श्रुति—"भिद्यते हृदयग्रन्थिः।" स्मृति—"अज्ञसर्वज्ञभक्तानां गतिर्गम्यो भवान्।" ॥४०॥

संशय से युक्त चित्त वाले अज्ञ का सर्वार्थ भ्रंश होता है, ऐसा कह कर अब सदाचार के पालन करने वाले मुमुक्षुओं के कल्याण के लिये और संशय को हटाने के लिये क्रम से पूर्व में कहे हुए कर्मयोग और ज्ञान योग दोनों का उपदेश दो श्लोकों में कर अध्याय को समाप्त करते हैं।

राधनलक्षणेन संन्यस्तानि भगवत्यर्पितानि कर्माणि येन तं, तत एव ज्ञानसंशयं, भगवति कर्मार्पणादेव जातं यदात्मनो भगवदधीनत्वज्ञानं तेन छिन्नाः पूर्वोक्ताः संशया यस्य अत एवात्मवन्तं, तत्त्वविषयतयाऽऽवस्थितमनसं कर्माणि विधिप्राप्तानि स्वाभाविकानि वा न निबध्नन्ति, हे धनञ्जय।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ! ॥४२॥

यस्मादेवं तस्मादज्ञानात्सम्भूतं समुत्पन्नं हृत्स्थं "स्वान्तं हृन्मानसं मन"—इति कोशात्। हृदि मनसि स्थितं सर्वार्थभ्रंशहेतुमेनं संशयम् आत्मनो ज्ञानाऽसिना मयोपदिष्टेनात्मविषयकज्ञानरूपखड्गेन छित्वा योगं मयोपदिष्टं निष्कामकर्म आतिष्ठ, यथाधिकारमाचर। भारतेति सम्बोधनेन भरतवंशोद्भवस्य क्षत्रियश्रेष्ठस्य तव युद्धमेव कर्मेति सूचितम्। तस्मादुत्तिष्ठ तदेव कुर्वित्यर्थः।

ज्ञानोपायतया ऽसङ्गकर्मनिष्ठा यथार्हतः।
हरिणा भक्तसंसारच्छेदायेहोपशिक्षिता ॥१॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्विजयि श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यविरचितायां ज्ञानयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

जिसने भगवान् की आराधना रूप लक्षण वाले योग के द्वारा अपने सब कर्मों को भगवान् में अर्पण कर दिया है और भगवान् में कर्मों को अर्पण करने से "मैं भगवान् के अधीन हूँ," ऐसा ज्ञान जिसको उत्पन्न हुआ है और उस ज्ञान द्वारा जिसके सब संशय नाश हो गये हैं और इसीलिए जो आत्मवान् है अर्थात् जिसका मन तत्त्व विषय में स्थित है उसको, हे अर्जुन, विधि वा स्वभाव से किये गये कर्म नहीं बाँधते ॥४१॥

क्योंकि ऐसा है इसलिये हे क्षत्रिय श्रेष्ठ ! भरत कुल में उत्पन्न अर्जुन ! तुम अज्ञान से उत्पन्न मन में स्थित, इस संशय को मुझसे उपदेश किये गये आत्मज्ञान रूपी तलवार से काट कर निष्काम कर्म रूपी योग को जिसका मैंने उपदेश दिया है, करो। अर्थात् अपने अधिकार के अनुसार कर्मों को करो। "भारत" सम्बोधन करने का यह भाव है कि तुम भरत कुल में उत्पन्न हो, इसलिए युद्ध करना तुम्हारा प्रधान कर्म है। अतः तुम उठो अर्थात् वही करो ॥४२॥

॥ इति श्रीमद्भगवतगीतायां चतुर्थोध्यायः ॥४॥

* श्रीमते निम्बार्काय नमः *

श्रीमद्भगवद्गीता

पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच ।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सु निश्चितम् ॥१॥

पूर्वाध्याये कर्मयोगमवश्यकर्त्तव्यतयोक्त्वा ज्ञाननिष्ठस्य कर्मनिरपेक्षत्वमभिधायान्ते पुनः कर्मयोगमेव भगवानुपदिष्टवान् । तत्र मुमुक्षुणां कर्मज्ञानयोर्युगपदेकेनानुष्ठानासंभवात् द्वयोर्मध्ये किं श्रेयोऽनुष्ठानमिति सन्दिहानोऽर्जुन उवाच—संन्यासमिति । हे कृष्ण स्वभक्तपापकर्षक ! "निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रह" इत्यादिना "श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ! सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" इत्यादिना च कर्मणां संन्यासं सम्यङ् न्यस्यन्ते समाप्यन्ते कर्माणि यत्रेति संन्यासः ज्ञानयोगस्तं शंससि, "ज्ञानासिना शंसयं छित्वा योगमातिष्ठेति" च पुनर्योगं कर्मानुष्ठानं । तथा चैकेन मुमुक्षुणा द्वयोरेकदाऽनुष्ठानं न संभवति विरुद्धत्वात् । अतस्तयोः कर्मज्ञानयोर्मध्ये यदेकं श्रेयः श्रेष्ठं सुनिश्चितं स्यात्तन्मे मह्यं ब्रूहि ।

पूर्व के अध्याय में कर्म योग अवश्य करना चाहिये, ऐसा कह कर आपने यह कहा कि ज्ञाननिष्ठ पुरुष को कर्मयोग की अपेक्षा नहीं रहती और अन्त में फिर कर्मयोग ही का आपने उपदेश दिया। अब क्योंकि मोक्ष की इच्छा वाले पुरुष कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों ही का अनुष्ठान एक साथ नहीं कर सकते, इसलिए इन दोनों में कौन अनुष्ठान श्रेष्ठ है ऐसा सन्देह करते हुए अर्जुन भगवान् के प्रति बोले :—

हे कृष्ण, अर्थात् हे अपने भक्तों के पाप हरने वाले, "निराशीर्यतचित्तात्मा व्यक्तसर्वपरिग्रहः" इत्यादि से और "श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप !" "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते" इत्यादि से भी कर्मों के संन्यास अर्थात् ज्ञान योग की आपने बड़ाई की। फिर "ज्ञानासिना संशयं छित्वा योगमातिष्ठ" से योग अर्थात् कर्म योग की प्रशंसा की। पर एक मुमुक्षु के लिए ज्ञान योग और कर्म योग इन दोनों का अनुष्ठान एक संग असम्भव है क्योंकि दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। इसलिए कर्म और ज्ञान इन दोनों में जो निश्चित रूप से श्रेष्ठ हो उसको आप मुझसे कहें ॥१॥

श्रीभगवानुवाच ।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

इत्येवं प्रश्नस्योत्तरं श्रीभगवानुवाच—संन्यास इति । संन्यासः ज्ञानयोगः कर्मयोगश्चेत्युभौ निःश्रेयसकरौ । तयोस्तु कर्मसंन्यासाज्ज्ञानयोगात् कर्मयोगो विशिष्यते श्रेष्ठो भवति ।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो ! सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

उक्तार्थे हेत्वपेक्षायां कर्मयोगिनः संन्यासित्वं वदन्, तद्धर्मान्निर्दिशति—ज्ञेय इति । य आत्मज्ञानाय कर्माणि कुर्वन् तद्व्यतिरिक्तं किञ्चिन्न काङ्क्षति । अत एव किमपि न द्वेष्टि, स नित्यसंन्यासी नित्यज्ञाननिष्ठो ज्ञेयः । हि यतो निर्द्वन्द्वः, रागद्वेषादिद्वन्द्वशून्यः । एवंभूतः सुखमनायासेनैव बन्धात्प्रमुच्यते ।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

ननु कर्मयोगी कथं संन्यासी स्यात्कर्मज्ञानयोः फलभेदात्स्वरूपभेदाच्च पृथगेव तावित्याशङ्क्याह—साङ्ख्ययोगाविति । साङ्ख्यं ज्ञानयोगः, योगः कर्मयोग इमौ पृथग्भूतौ भिन्नफलकाविति बाला अविद्वांसः प्रवदन्ति, नतु पण्डिताः । यतः सांख्ययोगयोर्मध्ये एकमपि सम्यगास्थितः उभयोः फलमात्मज्ञानं विन्दते लभते ।

अर्जुन के प्रश्न का उत्तर भगवान् देते हैं :—

संन्यास (ज्ञान) और कर्म योग दोनों ही कल्याण के करने वाले हैं; पर इन दोनों में संन्यास अर्थात् ज्ञान योग से कर्मयोग ही श्रेष्ठ है अर्थात् कर्म न करने से कर्म करना अच्छा है ॥२॥

ऊपर कहे हुए में हेतु बताने के लिए कर्मयोगी को ही संन्यासी कहते हुए उसके धर्म को बताते हैं—

कर्मयोगी अपने आत्म ज्ञान के लिये कर्मों को करता हुआ उसके अतिरिक्त और किसी वस्तु की कांक्षा नहीं करता । इसलिए वह किसी से द्वेष नहीं करता । ऐसे कर्मयोगी को ही नित्य संन्यासी वा नित्य ज्ञाननिष्ठ समझना चाहिये क्योंकि वह राग द्वेष आदि द्वन्द्वों से रहित है । ऐसा पुरुष बिना परिश्रम के बन्धन से छूट जाता है ॥३॥

यहाँ यह शंका होती है कि कर्म योगी संन्यासी कैसे हो सकता है, क्योंकि दोनों के फल और स्वरूप में भी भिन्नता है इसलिए दोनों अलग अलग हैं । इस शंका का उत्तर भगवान् यहाँ देते हैं :—

सांख्य अर्थात् ज्ञान योग, योग अर्थात् कर्म योग पृथक्-पृथक् हैं अर्थात् इनके फल दूसरे दूसरे हैं, ऐसा अनपढ़ लोग कहते हैं, विद्वान् ऐसा नहीं कहते । कारण कि सांख्य और योग में किसी एक के भी पूर्ण रूप से प्राप्त हो जाने पर दोनों का फल जो आत्म ज्ञान है वह मिल जाता है ॥४॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति सः पश्यति ॥५॥

उक्तार्थं विवृणोति—यत्सांख्यैरिति । साङ्ख्यैर्ज्ञाननिष्ठैर्यत् स्थानं, स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानमात्मस्वरूपं प्राप्यते, तदेव योगैः कर्मयोगनिष्ठैरपि भगवदर्पणबुद्ध्याः कृतैः कर्मभिर्ज्ञानद्वारेण गम्यते । तस्मादेकफलत्वेनैकं साङ्ख्यं योगं च यः पश्यति स पश्यति । स एव पण्डितो न त्वन्य इत्यर्थः ।

संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥

ननु यदि कर्मयोगस्यापि ज्ञानयोगद्वारेणैवात्मस्वरूपप्राप्तिस्तर्हि प्रथमतो ज्ञानयोग एव कुतो नानुष्ठीयते इति चेत्तत्राह—संन्यासस्त्विति । संन्यासो ज्ञानयोगस्तु अयोगतः कर्मयोगानुष्ठानादृते दुखमाप्तुं प्राप्तुमशक्य इत्यर्थः । चित्तशुद्ध्यभावेन ज्ञाननिष्ठाया अपायसम्भवात् । योगयुक्तः निष्कामकर्मयोगयुक्तः शुद्धान्तःकरणत्वान्मुनिर्मननशीलः ब्रह्म नचिरेणाल्पकालेनैवाधिगच्छति प्राप्नोति । निर्दोषसमत्वादिना ब्रह्मसमानधर्मो भवतीत्यर्थः ।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

ननु ब्रह्मणः सर्वत्र समत्वं जगत्सृष्ट्यादिकर्तृत्वेऽपि निर्लेपत्वं च शास्त्रसिद्धं, कर्मणि वर्त्तमानस्य

ऊपर कहे हुए को स्पष्ट करते हैं :—

ज्ञान योग से जो स्थान प्राप्त होता है अर्थात् जो आत्म स्वरूप ज्ञानयोग से मिलता है वही कर्म योग से भी मिलता है अर्थात् भगवान् में अर्पण बुद्धि से किये गये कर्मों से भी ज्ञान के द्वारा आत्म स्वरूप की प्राप्ति होती है । इसलिए एक फल वाले होने के कारण दोनों को अर्थात् ज्ञान योग और कर्म योग को जो एक ही देखता है वा जानता है वही यथार्थ रूप से जानता है, अर्थात् वही पण्डित है दूसरा नहीं ॥५॥

यदि कर्मयोग से भी आत्म प्राप्ति ज्ञान योग ही के द्वारा होती है तो ज्ञान योग का अनुष्ठान प्रथम ही से क्यों नहीं किया जाय ? इसका उत्तर भगवान् यहाँ देते हैं :—कि हे बड़े बाहु वाले अर्जुन ! बिना कर्म योग के अनुष्ठान किये हुये ज्ञान योग बड़े दुःख से प्राप्त होता है अर्थात् नहीं प्राप्त होता । कारण कि चित्त शुद्धि के अभाव में ज्ञान निष्ठा वाले मनुष्य का अपाय अर्थात् नाश हो सकता है । निष्काम कर्म योग युक्त मननशील पुरुष को उसका अन्तःकरण शुद्ध होने से ब्रह्म शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है । अर्थात् वह पुरुष निर्दोष होने से और उसमें समता इत्यादि के भाव होने से ब्रह्म के समान धर्म वाला हो जाता है ॥६॥

ब्रह्म का सर्वत्र सम होना और जगत की सृष्टि आदि का करने वाला होकर भी निर्लेप होना

जीवस्य कथं तत्समानधर्मत्वमिति चेत्तत्राह—योगयुक्त इति । फलसङ्कल्पशून्यं भगवदाराधनरूपं शास्त्रीयं कर्म योगशब्देनोच्यते, तेन युक्तः पुरुषो योगयुक्तस्तत एव विशुद्धात्मा रजस्तमोऽभिभवेन-सत्त्ववृद्धया विमलीकृत आत्मा मनो येन सः । अत एव विजितात्मा विशेषेण जितोऽभिभूत आत्मा अहंकारस्तत्कार्यभूतः क्रोधश्च येन सः । तत एव जितेन्द्रियः स्ववशीकृतसर्वबाह्येन्द्रियः । एतेभ्यो हेतुभ्यः सर्वसुहृत्सर्वात्मवल्लभो भवतीत्याह सर्वभूतात्मभूतात्मेति । सर्वभूतानां देवमनुष्यादीनामात्मभूत आत्म-वल्लभ आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा सर्वप्रियाचरण इत्यर्थः स सर्वकर्माणि कुर्वन्नपि न लिप्यते अतः सर्वभूतसमत्वं निर्लेपत्वं च ब्रह्मसमानधर्मत्वञ्च सिद्धम् । अन्यथा "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्" । इति वक्ष्यमाणा ब्रह्मभूतस्य भक्तिलाभोक्ति-विरुध्येत । तस्मादुक्तार्थ एव साधुरित्यलम् ।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् ॥९॥

एवम्भूतः परमार्थदर्शी यावज्जीवः कथं वर्त्तेतेत्यपेक्षायां तद्विवेकबुद्धिं शिक्षयति—नैवेति

शास्त्रों से सिद्ध है; पर कर्म में वर्त्तमान जीव उनके समान धर्म वाला कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् यहाँ देते हैं :—

फल के संकल्प से शून्य भगवत् आराधन रूप शास्त्रीय कर्म को योग कहते हैं ऐसे योग से युक्त पुरुष विशुद्धात्मा वाला है । अर्थात् रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सतोगुण के बढ़ाने से उसका आत्मा (मन) विमल हो जाता है । इसलिये ऐसा पुरुष विजितात्मा होता है, अर्थात् वह अहंकार और उसके कार्यभूत क्रोध को जीत लेता है, इसलिये वह जितेन्द्रिय अर्थात् बाह्य इन्द्रियों को जीतने वाला होता है । इन कारणों से वह सर्वप्रिय और सर्ववल्लभ बन जाता है । वह सर्वभूतों का अर्थात् देव, मनुष्यादि का आत्म बल्लभ वा प्रिय आचरण करने वाला हो जाता है । तात्पर्य्य यह कि उसके आचरण सर्वप्रिय हो जाते हैं । ऐसा पुरुष सब कर्मों को करता हुआ भी निर्लेप रहता है । इस प्रकार वह सब जीवों में सम बुद्धि युक्त, निर्लेप और ब्रह्म के समान धर्म वाला सिद्ध हुआ । ऐसा नहीं मानने से आगे जो भगवान् कहेंगे कि "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ॥ समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥" अर्थात् ब्रह्मभूत पुरुष न सोचता है, न आकांक्षा करता है । सब भूतों में समता रखता हुआ व मेरी पराभक्ति पाता है; उससे इस भगवत् उक्ति का विरोध पड़ जायगा इसलिए यहाँ जो अर्थ कहा गया वही ठीक है ॥७॥

इस प्रकार का परमार्थ दर्शी जब तक जीता है तब तक कैसे वर्त्तता है इस प्रश्न की अपेक्षा में परमार्थदर्शी की विवेक बुद्धि को दो श्लोकों से बताते हैं :—

द्वाभ्याम्, युक्तः समाहितचित्तः तत्त्ववित्परमार्थदर्शी। चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियैर्वागादिकर्मेन्द्रियैः प्राणादिभिश्च दर्शनादिवचनादिश्वसनादिषु तत्तत्क्रियासु क्रियमाणासु इन्द्रियाणि बाह्यान्तःकरणान्येव इन्द्रियार्थेषु स्वस्वविषयेषु वर्त्तन्ते इति धारयन् बुद्धया निश्चिन्वन्नहं नैव किञ्चित्करोमीति मन्येत जानीयात्। तत्र दर्शनश्रवणस्पर्शनघ्राणाशनानि चक्षुःश्रोत्रत्वग्घ्राणरसनानां व्यापाराः। गमनं पादयोः, प्रलापो वाचः, विसर्गः पायोः, सुखमुपस्थस्य, ग्रहणं हस्तयोरिति पञ्चकर्मेन्द्रियाणां व्यापाराः। श्वसन्निति प्राणादि-पञ्चकव्यापारस्योपलक्षणम्। उन्मेषणनिमेषणे कूर्माख्यस्य प्राणस्य, स्वापोऽन्तःकरणस्येत्यर्थक्रमेण विवेकः। पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्। इमे व्यापारा मम स्वरूपनिरूपिता न भवन्ति। किन्तु प्रकृति-कार्यभूतेन्द्रियप्राणादीनामेवेति जानन्निरभिमानतयाऽऽयुःशेषं क्षपयेदिति भावः।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

भवत्वेवम्भूतस्य विशुद्धात्मनो जितेन्द्रियस्य कर्मनिर्लेपत्वम्, उक्तलक्षणहीनस्यान्यस्य कथं कर्माऽलेपः स्यादित्यत आह—ब्रह्मणीति। ब्रह्मणि भगवति वासुदेवे आधाय समर्प्य संगं फलाभिलाषं त्यक्त्वा केवलं भगवदाज्ञापालनात्मकभजनबुद्धया यः कर्माणि करोति, स देहेन्द्रियवानपि तत्प्रयुक्त-कर्त्तृत्वाभिमानरूपेण बन्धहेतुना पापेन न लिप्यते। यथा पद्मपत्रमम्भसि स्थितमपि अम्भसा न लिप्यते, तद्वत्।

स्थिर वा सावधान चित्त युक्त परमार्थ का जानने वाला पुरुष अपनी बुद्धि से यह निश्चय कर कि आँख आदि ज्ञानेन्द्रियों से, वाक् आदि कर्मेन्द्रियों से, प्राणादि से दर्शन आदि, भाषण आदि और निस्स्वास आदि कर्मों को करती हुई इन्द्रियाँ बाहर और भीतर के करण हैं और अपने अपने विषय में रमती हैं, यह समझता है कि मैं कुछ नहीं करता। देखना, सुनना, छूना, सूंघना, भोजन करना, आँख, कान, चमड़ा, नाक, रसना का व्यापार है। फिर चलना पैरों का, बोलना वाणी का, उत्सर्ग करना गुदा का, सुख अनुभव करना जननेन्द्रिय का, पकड़ना हाथों का व्यापार है। इसी प्रकार प्राणादि पञ्च वायुओं का व्यापार श्वास लेना आदि है। सोना अन्तःकरण का व्यापार है। आँखों की पपनियों को गिराना उठाना कूर्म नाम के प्राण का व्यापार है। वह परमार्थ का जानने वाला पुरुष यह समझता है कि ये व्यापार मेरे स्वरूप में नहीं है। ये प्रकृति के कार्यभूत इन्द्रियों और प्राणों के व्यापार हैं। ऐसा जान कर वह अभिमान रहित होकर अपने बचे हुये जीवन को शेष करता है ॥८+९॥

इस प्रकार के विशुद्ध आत्मा वाले और जितेन्द्रिय पुरुष की कर्म से निर्लेपता हो सकती है, पर इन लक्षणों से हीन पुरुष कर्म से अलेप कैसे रह सकता है? इसका उत्तर देते हैं :—

ब्रह्म में अर्थात् भगवान् वासुदेव में अर्पण करके और उनके फल की अभिलाषा छोड़ कर केवल भगवत् की आज्ञा का पालन समझ कर और भजन बुद्धि से जो कर्मों को करता है वह देह ओर इन्द्रिय

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥११॥

उक्तार्थमेव शिष्टाचारेण द्रढयति—कायेनेति । कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैः स्वाभाविकविषयासक्तिशून्यैरिन्द्रियैरपि फलसङ्गं त्यक्त्वा आत्मशुद्धये चित्तशुद्धयर्थं योगिनः कर्म कुर्वन्ति ।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

फलासक्तिरेव बन्धहेतुरित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामाह—युक्त इति । युक्त ईश्वराज्ञायां निरतः कर्मणां फलं त्यक्त्वा कर्माणि कुर्वन् नैष्ठिकीं शान्तिं मोक्षं प्राप्नोति । अयुक्तः कर्मसु ईश्वरप्रीत्यर्थमेवेति बुद्धिशून्यः कामकारेण कामतः प्रवृत्त्या मम फलसाधकमिदमहं करोमीति फले सक्तो निबध्यते । तैरेव कर्मभिः संसारे बन्धं प्राप्नोतीत्यर्थः ।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

एवमयुक्तः कर्मस्वभिमानाद्देहेन्द्रियकर्मभिर्बध्यते इत्युक्तं, ज्ञानी तु देहे वर्त्तमानोऽपि देहेन्द्रियकर्मभ्यो विलक्षण एवेत्याह सर्वकर्माणीति । वशी स्ववशेकृतचित्तेन्द्रियः नित्यनैमित्तिकादीनि सर्वाणि

वाला होकर भी उनसे उत्पन्न, बन्ध के कारण, कर्त्ता के अभिमान रूप पाप से नहीं लिप्त होता है, जैसे जल में रह कर भी कमल का पत्ता पानी से नहीं लिप्त होता ॥१०॥

ऊपर कहे हुए अर्थ को शिष्टों के आचार से दृढ़ करते हैं :—

योगी लोग चित्त की शुद्धि के लिए फल की आसक्ति छोड़ शरीर, मन, बुद्धि और स्वाभाविक विषयासक्ति शून्य इन्द्रियों से भी कर्म करते हैं । भाव यह कि योगी आत्म शुद्धि के लिये, स्वर्गादि फल की कामना को छोड़, शरीर से साष्टांग प्रणामादि कर्म, मन से भगवत् के रूपादि का ध्यान आदिक, बुद्धि से तत्त्व निश्चयादिक और प्राकृत् विषय शून्य इन्द्रियों से श्रवण कीर्त्तनादि करता है ॥११॥

फल में आसक्ति ही बन्धन का कारण है, इसको अन्वय व्यतिरेक की रीति से बताते हैं :—

युक्त अर्थात् ईश्वर आज्ञा में निरत पुरुष, कर्मों के फल को छोड़ कर, उनको करता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है । अयुक्त अर्थात् कर्म ईश्वर की प्रीति के लिये ही किये जाते हैं—इस बुद्धि से शून्य पुरुष काम में प्रवृत्त होकर, अर्थात् यह कर्म मुझको यह फल देगा, इसलिए मैं इसको करता हूँ—ऐसी बुद्धि से कर्मों को करता हुआ उनके फल से बाँधा जाता है । अर्थात् ऐसे ही मनुष्य के कर्मों से संसार में बन्धन प्राप्त होता है ॥१२॥

इस प्रकार अयुक्त पुरुष कर्मों में अभिमान करने से देह और इन्द्रियों द्वारा किये गये कर्मों से बाँधा जाता है, ऐसा ऊपर कहा । अब यह कहते हैं कि ज्ञानी देह में रह कर भी देह और इन्द्रियों के

कर्माणि अनादिकर्मात्मिकाऽविद्याकृतप्रकृतिसम्बन्धस्तज्जन्यदेहेन्द्रियनिमित्तकमिदं कर्तृत्वं, न केवल-स्वरूपप्रयुक्तमिति विवेकयुक्तेन मनसा संन्यस्य त्यक्त्वा नवद्वारे नेत्रकर्णनासिकामुखपायूपस्थात्मकनव-द्वारवति देहात्मके पुरे पुरवदहम्भाववर्जिते देही देहाश्रयभूतोऽहमिति विवेकवान्न तु अज्ञवद्देहाभिन्नः सुखं यथा स्यात्तथाऽऽस्ते। सुखत्वे हेतुः—नैव कुर्वन्न कारयन्निति। इदमहं करोमीत्यहङ्काराभावात्स्वयं नैव कुर्वन्, अन्यत्र देहपर्यन्ते ममकाराभावान्नैव कारयन्नास्तेऽतो न बध्यते इति भावः।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥१४॥

नतूक्तलक्षणो विवेकी कर्मभिर्न बध्यते। अज्ञस्तु कामकारेण शुभाशुभकर्मभिर्बध्यत इत्युक्तं, तत्र कस्य गुणः कस्य वा दोषः? प्रयोजककर्त्रीश्वरायत्तकर्तृत्वात्सर्वस्य लोकस्य। "एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते" इत्यादिश्रुतेः प्रयोजककर्त्तुरीश्वरस्यैव वैषम्यं, तस्यैव पुण्यपापसम्बन्धः स्यादित्याशङ्कावारणायाह—न

कर्म से विलक्षण है। जिसने चित्त और इन्द्रियों को वश में किया है वह, नित्य नैमित्तिक आदि सब कर्मों को, यह समझ कि अनादि कर्मात्मिका अविद्या से किये गये प्रकृति (माया) सम्बन्ध के कारण, देह और इन्द्रियों के निमित्त ये कर्त्तापन है, अर्थात् बद्धावस्था में जीव का कर्त्तापन माया के गुणों के संसर्ग से किया हुआ है केवल स्वरूप युक्त कर्त्तव्य नहीं है इससे ये मेरे स्वरूप से कुछ सम्बन्ध नहीं रखते, ऐसे विवेक युक्त मन से छोड़ कर, नव द्वार वाले शरीर में सुख से रहता है। आँख, कान, नाक, मुख, गुदा और जननेन्द्रिय ये ही शरीर में नव दरवाजे हैं। इस शरीर में अहं भाव छोड़ कर और यह विवेक रखता हुआ कि मैं देह का आश्रयभूत हूँ और अज्ञों के ऐसा देह को अपने से अभिन्न नहीं मानता हुआ, जीव शरीर में सुख से रहता है। सुख से रहने का कारण बतलाते हैं। यह मैं करता हूँ, ऐसा अहंकार नहीं होने से वह स्वयं कुछ नहीं करता और देह तक में अपनापन नहीं रहने से वह किसी से कुछ कराता भी नहीं। भाव यह कि इसलिए वह कर्मों से बाँधा नहीं जाता ॥१३॥

उक्त लक्षण युक्त विवेकी पुरुष कर्मों से नहीं बाँधा जाता। अज्ञ पुरुष फल की आकांक्षा से किये गये शुभ और अशुभ कर्मों से बाँधा जाता है। इन दोनों में दोष किसका है और गुण किसका? सब मनुष्यों को कर्म में लगाने वाले तो ईश्वर ही हैं और इसलिए कर्मों का (कर्तृत्व) उन्हीं के अधीन हैं। इस विषय में श्रुति प्रमाण है। यथा—"एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो उन्निनीषते, एष एव चासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते॥" अर्थात् ईश्वर ही उनसे साधु (अच्छा) कर्म कराता है जिनको इस लोक से ऊपर ले जाने की इच्छा करता है। वही उनसे बुरा कर्म कराता है जिनको वह इस लोक से नीचे ले जाने की इच्छा करता है।

इस प्रकार कर्म के प्रयोजक कर्त्ता ईश्वर ही में विषमता है। उसीका पुण्य पाप से सम्बन्ध है।

कर्तृत्वमितिद्वाभ्याम् । प्रभुः परमेश्वरः लोकस्य जनस्य "लोकस्तु भुवने जने" इति कोशात् । कर्तृत्वं शुभाशुभानि कर्माणि च न सृजति । नापि कर्मफलसंयोगं सम्बन्धं सृजति । किन्तु लोकस्य स्वभावः, अनादिकर्मात्मिकाऽविद्यानिरूपितप्रकृतिः कर्तृत्वादिना प्रवर्त्तते, तदनुसारेणैवेश्वरः कर्मसु प्रवर्तयति । न त्वपूर्वकर्तृत्वादिकमुत्पादयतीत्यर्थः ।

नादत्ते कस्य चित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

अत एव—नादत्त इति । विभुः परमेश्वरः कस्य चिज्जीवस्य पापं सुकृतं चैव नादत्ते । तयोः स्वभावानुसारेण कारयिताऽपि पापपुण्यभाङ्नभवतीत्यर्थः ननु जीवानां प्रयोजक ईश्वरो यदि कर्तृत्व-कर्माणि न सृजति, पापादि नादत्ते चेत्तर्हि कथं बन्धनहेतुकर्म कुर्वन्तीत्यत आह—अज्ञानेनेति । अनादि-कर्मात्मकाज्ञानेन स्वाभाविकं (धर्मभूतं) ज्ञानमावृतं, तेन हेतुना जन्तवो मुह्यन्ति । अज्ञानेनावृत-ज्ञानत्वाज्जीवाः मोहमन्यथा ज्ञानं प्राप्नुवन्ति । अनिष्टे इष्टबुद्ध्या प्रवर्त्तन्ते । भगवति वैषम्यं पुण्यपापं च कल्पयन्तीत्यर्थ ।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

स्यादेतत्तथाऽप्यनाद्यज्ञानावृतज्ञानाः सर्वेऽपि कुतो न मुह्यन्ति । यतो मोहहीना अपि के चिद्-

---

इस शंका का निवारण करने के लिये भगवान् कहते है कि परमेश्वर कर्त्तापन को और शुभाशुभ कर्मों को नहीं सिरजता है और कर्म फल के संयोग को भी नहीं सिरजता । यह मनुष्यों के स्वभाव से ही होता है । अनादि कर्मात्मिका अविद्या से निरूपित स्वभाव ही कर्त्तापन आदि के रूप में प्रवृत्त होता है । उस स्वभाव के अनुकूल ही ईश्वर कर्मों में प्रवृत्त कराता है । भाव यह कि ईश्वर अपूर्व कर्त्तापन इत्यादि नहीं पैदा करता । जिसका जैसा अनादि कर्मों से उत्पन्न स्वभाव होता है ईश्वर उसको स्वभावानुकूल ही कर्मों में लगाता है ॥१४॥

इसलिए भगवान् किसी जीव का पाप वा पुण्य नहीं ग्रहण करते हैं । अर्थात् जीवों के कर्मानुसार उनसे कर्म कराते हुए भी वे उन कर्मों के पाप पुण्य के भागी नहीं होते क्योंकि वे आप्त काम और परिपूर्ण हैं । अब यहाँ यह शंका होती है कि यदि ईश्वर जो जीवों का प्रयोजक है, कर्त्तापन नहीं सिरजता और पाप इत्यादि भी नहीं ग्रहण करता तो जीव कर्मों को, जो बन्धन के कारण हैं, क्यों करता है ? इस शंका का उत्तर देते हैं अनादि कर्मात्मक अज्ञान से जीव का स्वाभाविक धर्मभूत ज्ञान ढक गया है, इसलिये जीव को मोह उत्पन्न होता है अर्थात् अन्यथा वा झूठा ज्ञान होता है । तात्पर्य कि स्वाभाविक ज्ञान के ढक जाने से जीव को अनिष्ट में इष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है और वह भगवान् में विषमता और पुण्य पाप की कल्पना करता है ॥१५॥

यदि ऐसी बात है तो अनादि अज्ञान से ज्ञान के ढके हुए होने के कारण सब लोग मोह को

दृश्यन्त इत्यपेक्षायां "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यत" इति पूर्वोक्तं ज्ञानं तत्र हेतुरित्याह—ज्ञानेनेति। अज्ञानेनावृतज्ञानेष्वपि सर्वात्मसु येषां भगवत्कृपाकटाक्षविषयभूतानां जीवात्मनां वेदान्ततत्त्वसाक्षात्कारवद्गुरूपसदनपूर्वकतदुपदिष्टशास्त्रार्थमनननिदिध्यासनाभ्यासजनितेन आत्मनो देहेन्द्रियादिविविक्तात्मस्वरूपविषयेण मनोवृत्तिरूपेण ज्ञानेन तज्ज्ञानावरणमनादिकर्मसञ्चयरूपमज्ञानं नाशितं, तेषां तद्धर्मभूतं स्वाभाविकं ज्ञान कर्त्तृपरं देहेन्द्रियादिभ्योऽत्यन्तविलक्षणं चैतन्यं त्वम्पदार्थस्वरूपं कर्म आदित्यवदुदयमात्रेणैव प्रकाशयति। अन्यदपीष्टानिष्टबन्धमोक्षहेतुभूतं सर्वं वस्तु प्रकाशयतीत्यतो न मुह्यन्तीत्यर्थः। अत्र तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयतीत्यज्ञाननाशानन्तरमप्यात्मनां बहुत्वाभिधानादुपाधिसम्बन्धगन्धस्यापि वक्तुमशक्यत्वादेकात्मवादिनः स्पष्टं भगवता निरस्ताः। "तेषामादित्यवज्ज्ञानमि"ति षष्ठ्या ज्ञानस्य स्वरूपाद्भेदनिर्देशात्तत्सम्बन्धाभिधानाच्च ज्ञातृज्ञानयोः प्रभाप्रभावतोरिव धर्मिधर्मभावसिद्ध्या स्वरूपातिरिक्तज्ञानानङ्गीकारिणो गुणगुणिनोरैक्याङ्गीकारिणश्च निरस्ता ज्ञेयाः। एनेन बद्धावस्थायां सङ्कुचितप्रभस्य घटावृतदीपस्येव कर्मनिर्मितस्थूलसूक्ष्मदेहेन धर्मभूतज्ञानस्यैव सङ्कोचः,

---

क्यों नहीं प्राप्त होते ? कितने मोह हीन भी देख पड़ते हैं। इसमें उनका ज्ञान कारण है, जिसके विषय में भगवान् ने पहले कहा कि "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते।" इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

सब आत्माओं वा जीवों का ज्ञान अज्ञान से ढका हुआ होने पर भी उनमें से जिन जीवों पर भगवान् का कृपा कटाक्ष होता है वे वेदान्त के तत्त्व के साक्षात् करने वाले गुरु के पास पहुँच कर उनके किये गये (उपदिष्ट) शास्त्रार्थ का मनन और निदिध्यासन करते हैं और उस अभ्यास से उत्पन्न देह इन्द्रिय आदि से पृथक् आत्म स्वरूप विषयक मनोवृत्ति रूप ज्ञान के द्वारा उस ज्ञान के आवरण करने वाले अनादि कर्म संचय रूप अज्ञान का नाश करते हैं। उनका यह धर्मभूत स्वाभाविक ज्ञान, देह इन्द्रिय आदि से अत्यन्त विलक्षण, कर्त्ता और चैतन्य त्वं पदार्थ को, अर्थात् आत्मा के स्वरूप को सूर्य के ऐसा प्रकाशित करता है और बन्ध और मोक्ष के कारणभूत सब वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। भाव यह कि इस कारण से ऐसे लोग मोह को नहीं प्राप्त होते हैं। यहाँ भगवान् ने "तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति" अर्थात् उनका ज्ञान सूर्य के ऐसा प्रकाश करता है, यह कहकर अज्ञान के नाश होने पर भी आत्माओं का बहुत होना बताया। अज्ञान के नाश और ज्ञान के प्रकाश के बाद उपाधि के सम्बन्ध का गन्ध मात्र भी नहीं रहता है अर्थात् आत्माओं की बहुलता उपाधि भेद से है ऐसी बात की यहाँ चर्चा भी नहीं है। इसलिए भगवान् ने स्पष्ट रूप से एकात्मवाद का खण्डन किया। फिर "तेषामादित्यवज्ज्ञानम्" में षष्ठी का व्यवहार कर यह बताया कि ज्ञान का आत्मा के स्वरूप से भेद है और उस से सम्बन्ध भी है और इसलिए जैसे प्रभा और और प्रभावाले में धर्म और धर्मी भावका सम्बन्ध है उसी प्रकार ज्ञान और ज्ञान वाले (आत्मा) में धर्म धर्मी भाव का सम्बन्ध है। ऐसा कहने से आत्म स्वरूप से अतिरिक्त ज्ञाम की स्थिति नहीं मानने वालों का, और गुण गुणी की एकता हो जाती है, ऐसा मानने वालों का खण्डन हो जाता है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि जैसे

न त्वात्मस्वरूपान्यथाभावः। मोक्षदशायां घटात्मकावरणध्वंसे दीपप्रभाप्रकाशवत् सकारणलिङ्ग-शरीरध्वंसे धर्मभूतज्ञानस्यैव विकाशो, नतु स्वरूपान्तरापत्तिरित्यपि सूचितम्। "यथोदपानखननात् क्रियते न जलान्तरम्। सदेव नीयते व्यक्तिमसतः सम्भवः कुतः। यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः। तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः। प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते।

तद्बुद्धस्य तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्द्धूतकल्मषाः ॥१७॥

आत्मस्वरूपप्रकाशे सति—तद्बुद्धय इति। तस्मिन्नात्मस्वरूपे व्यवसायात्मिका बुद्धिर्येषां ते तथा तदात्मानः विषयान्तरनिरासेन तत्प्रवणमनसः तन्निष्ठास्तच्चिन्तनाभ्यासनिरताः, तत्परायणा-स्त्वम्पदार्थस्वरूपमेव परमयनमाश्रयो येषां ते, तेन ज्ञानेन निर्द्धूतकल्मषा निःशेषेण ध्वस्तानादिपापाः सन्तोऽपुनरावृत्तिं यथा प्रागज्ञानावृतत्वेन संसारे वर्त्तन्ते, न तथा पुनः संसारे वर्तन्ते। अपि तु विषमा-कारेऽशेषदोषवत्यपि संसारे परिशुद्धात्मदर्शनेन संसारधर्मास्पृष्टस्वभावा एव भवन्तीत्यर्थः।

घड़े से छिपाये हुए दीप की प्रभा केवल संकुचित हो जाती है, उसी प्रकार बद्धावस्था में कर्म से निर्मित्त स्थूल सूक्ष्म देह से आत्मा के केवल धर्मभूत ज्ञान का संकोच हो जाता है। उसके आत्म स्वरूप में कोई अन्यथा भाव वा परिवर्त्तन नहीं होता। फिर जैसे घड़े के फूट जाने पर दीप की प्रभा प्रकाश करने लगती है, उसी प्रकार मोक्ष की अवस्था में कारण सहित लिङ्ग वा सूक्ष्म शरीर का नाश हो जाने पर आत्मा के धर्मभूत ज्ञान का विकाश होता है, उसके शरीर में रूपान्तर नहीं होता। कहा भी है :— "यथोदपानखननात् क्रियते न जलान्तरम् ॥ सदेव नीयते व्यक्तिमसतः सम्भव कुतः ॥ यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः ॥ तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः ॥ प्रकाश्यन्ते न जन्यत्ते नित्या एवात्मनोहि ते ॥" अर्थात् जलाशय खोदने से कोई नया जल नहीं उत्पन्न किया जाता। सत् ही से कोई चीज प्रकट होती है, असत् से प्रकट होना कैसे सम्भव हो सकता है? जैसे मणि के मल के धोने से उसमें चमक पैदा नहीं की जाती, वैसे ही हेय गुणों के नाश होने से अच्छे गुण पैदा नहीं किये जाते, वे केवल प्रकाशित किये जाते हैं। आत्मा में वे नित्य रहते हैं क्योंकि वे आत्मा के नित्य धर्मभूत गुण हैं ॥१६॥

आत्म स्वरूप के प्रकाश होने पर क्या होता है? उसका वर्णन करते हैं। आत्म स्वरूप में निश्चयात्मिका बुद्धि वाले, मन को अन्य विषयों से हटा कर आत्म स्वरूप में लगाने वाले, उसी आत्म स्वरूप की चिन्ता में सदा लगे हुए और आत्म स्वरूप त्वं पदार्थ में परायण और आत्म ज्ञान के द्वारा सब पापों से छूटे हुये मनुष्य संसार के आवागमन से, जो पूर्व में अज्ञान से ढके रहने के कारण होता था, छूट जाते हैं और इस विषम आकार और अगणित दोष वाले संसार में रहते हुए भी आत्म दर्शन प्राप्त कर लेने के कारण, संसार के धर्म से अछूत स्वभाव वाले होते हैं अर्थात् संसार के धर्म उनको नहीं छूते ॥१७॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

एतदेवोपपादयति—विद्येति । विद्या शास्त्रार्थज्ञानं विनयं विनीतत्वं ताभ्यां संपन्ने ब्राह्मणे सात्त्विके सर्वप्राण्युत्तमे, गवि पशौ धेन्वां वृषभे वा संस्कारहीने मध्यमे राजसे हस्तिनि, तामसे शुनि च श्वपाके चाण्डाले चात्यन्ततामसेऽत्यन्ताधमे चेत्यादिष्वत्यन्तविषमाकारेष्वपि पण्डितास्तत्त्वयाथात्म्यविदः समदर्शिनः, सममात्मस्वरूपं पश्यन्त्येवं शीलाः । उत्तमाधमादिवैषम्यं प्रकृतिकार्यदेहनिष्ठं, न त्वात्मसु । आत्मनां स्वरूपं तु ज्ञानस्वरूपत्वेन सदा सर्वत्र दोषास्पृष्टतया सममित्येवं दर्शनशीला भवन्तीत्यर्थः ।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

ननु कज्जलागारस्थस्य कज्जलस्पर्शावश्यकत्ववत्संसारे स्थितानां तद्धर्मस्पर्शावश्यम्भावात्कथं विषमाकारसंसारसम्बन्धाभाव इति चेत्तत्राह—इहैवेति । तैः पुरुषैरिहैव संसार एव प्रारब्धशेषेण वर्त्तमानत्वेऽपि सर्गः संसारो जितः तिरस्कृतः । स्वात्मसु स्पष्टुमनर्हः कृतः इति यावत् । तैः कैः येषामुक्तप्रकारेण सर्वात्मसाम्ये स्थितं मनः । हि यस्मान्निर्दोषं समं ब्रह्म यथा सर्वचेतनाचेतनेषु तदन्तर्यामितया वर्त्तमानमपि ब्रह्म निर्दोषं तद्धर्मास्पृष्टमेवात एव समं, तथोत्तममध्यमाधमदेहेषु वर्त्तमानमपि

ऊपर कहे हुए विषय को फिर बताते हैं :—

शास्त्रार्थ ज्ञान और विनय से युक्त, और सब प्राणियों में उत्तम, सात्विक ब्राह्मण में, गौ वा बैल में, संस्कार हीन राजस गुण वाले हस्ती में, तामस स्वभाव वाले और अत्यन्त नीच में, यद्यपि ये एक दूसरे से बिलकुल विषम आकार वाले हैं, तो भी यथार्थ तत्त्व को जानने वाले पण्डित एक ही दृष्टि रखते हैं अर्थात् सबों में आत्मा की समानता जान कर एक ही दृष्टि से सबको देखते हैं। वे समझते हैं कि उत्तम, अधम आदि रूप विषमता प्रकृति के कार्य रूप देह में स्थित है आत्मा में नहीं। ज्ञान स्वरूप होने के कारण सब काल में और जगह में ये दोष आत्मा को छू नहीं सकते इसलिये आत्मा का स्वरूप बराबर समान है, ऐसा ये पण्डित लोग समझते हैं ॥१८॥

काजल की कोठरी में स्थित मनुष्यों को काजल अवश्य लगता ही है। उसी प्रकार संसार में स्थित मनुष्य को संसार के धर्म का स्पर्श होना आवश्यक ही है। तब विषम आकार वाले संसार से सम्बन्ध का अभाव कैसे हो सकता है ? भगवान् इस प्रश्न का उत्तर देते हैं :—

उन पुरुषों से यहाँ ही अर्थात् संसार में प्रारब्ध शेष रहने पर भी संसार जीता गया अर्थात् तिरस्कृत किया गया है। मतलब यह कि उनके आत्माओं को संसार नहीं छू सकता। किन पुरुषों को संसार के हेय धर्म नहीं छू सकते हैं ? उत्तर देते हैं–कि उनको जिन्होंने ऊपर कही हुई रीति से सर्वात्माओं की समता को अपने मन में निश्चय कर लिया है। कारण कि जिस प्रकार दोष रहित और समतायुक्त ब्रह्म चेतन और अचेतन सबों के अन्तर्यामी रूप से स्थित रह कर भी निर्दोष और उनके गुणों से अछूत

देहधर्मास्पृष्टमेवात्मस्वरूपं कूटस्थत्वान्निर्दोषम्। "अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मे" त्यादिश्रुतेः "कूटस्थोऽक्षर उच्यते" इति वक्ष्यमाणवाक्याच्च निर्दोषत्वादेव सर्वत्र समम्। यस्माद्ब्रह्मवदात्मनां स्वरूपं समं, तस्मात् साम्ये ये स्थिता ब्रह्मण्येव ते स्थिताः। एतेन विषमाकारदर्शिनामेव संसारधर्मभागित्वं, न तु ब्रह्मभूतात्मस्वरूपदर्शिनामिति समाधानमुक्तम्। ब्रह्मणि स्थितिर्हि संसारजयः, राजान्तिके स्थितस्य चौरादिजयवदिति भावः।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

एवं समस्वरूपात्मदर्शनरूपा ब्रह्मस्थितिः संसारजयहेतुरिति निर्णीतमिदानीं मुमुक्षुणा तदर्थमेव यतितव्यमित्युपदिशति न प्रहृष्येदिति। संसारजयमिच्छुर्यः कश्चिन्मुमुक्षुः प्रियं स्वमनोऽनुकूलं भोजनाच्छादननिवासवचनादि प्राप्य न प्रहृष्येत्, अहो भाग्यमिति प्रफुल्लितो न भवेदित्यर्थः। तथाऽप्रियमननुकूलं पूर्वोक्तं प्राप्य नोद्विजेत्, विषादं न कुर्यात्। ततश्च स्थिरबुद्धिः शनैः शनैरात्मज्ञानद्वारेण संसारदुःखं

अर्थात् समता युक्त बना रहता है उसी प्रकार उत्तम, मध्यम और अधम देहों में स्थित भी आत्मा उन देहों के धर्म से अछूत रहता है और कूटस्थ होने के कारण निर्दोष है। श्रुति भी यही कहती है यथा :—"अविनाशी वा अरेऽमयमात्माऽनुच्छित्ति धर्मा" अर्थात् यह आत्मा नाश होने वाला नहीं है। इसके धर्म का भी नाश नहीं होता। स्वयं भगवान् ने भी इस आत्मा के विषय में आगे कहा है कि—"कूटस्थोऽक्षर उच्यते" अर्थात् यह अक्षर अर्थात् अविनाशी जो आत्मा है वह कूटस्थ है। इन सब वचनों से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा निर्दोष होने से सबमें बराबर है। क्योंकि ब्रह्म के ऐसा आत्मा का भी स्वरूप सम है इस लिए साम्य में जो स्थित हैं, अर्थात् जिनको यह ज्ञान है कि आत्मा सब देहों में सम है, वे ब्रह्म में ही स्थित हैं। इससे यह समाधान किया कि संसार में विषम आकार के देखने वाले ही संसार के धर्म के भागी होते हैं, आत्म स्वरूप को ब्रह्म भूत देखने वाले नहीं। पूर्वोक्त कही हुई रीति के अनुसार ब्रह्म में स्थित रहना ही संसार को जय करना हुआ जैसे राजा के समीप में स्थित हो जाना ही चोर आदि को जय करने के समान है ॥१९॥

यह निर्णय कर चुके कि आत्मा सम है और सम स्वरूप आत्म दर्शन रूप जो ब्रह्म में स्थित है वही संसार के ऊपर जय पाने का कारण है। अब यह उपदेश देते हैं कि मुमुक्षुओं को उसी के लिये यत्न करना चाहिए। संसार के ऊपर जय पाने की इच्छा वाले किसी मुमुक्षु को अपने प्रिय पदार्थ को, अर्थात् मन के अनुकूल भोजन, कपड़ा (वस्त्र), रहने का घर, वचन इत्यादि पाकर खुश नहीं होना चाहिये, अर्थात् यह कह कर कि "वाह रे मेरा भाग्य" प्रफुल्लित नहीं होना चाहिये। उसी प्रकार अप्रिय अर्थात् मन के प्रतिकूल पूर्व में कही हुई वस्तुओं को पाकर, उद्विग्न नहीं होना चाहिये, अर्थात् दुःख नहीं करना चाहिये। उसके बाद बुद्धि को इस बात में दृढ़ करना चाहिए कि आत्म ज्ञान के रास्ते धीरे धीरे मैं संसार दुःख को पार करूँगा, अर्थात् ऐसा अपना विश्वास दृढ़ करना चाहिये। इसलिये

तरिष्यामीति दृढव्यवसायः । अत एवासम्मोहः, दुःखपरिणामकेऽनात्मवस्तुनि सुखहेतुरिदमित्यन्तःकरण-विभ्रमो मोहस्तद्रहितः । ततस्तत्त्वज्ञोपदेशेन ब्रह्मविद्भूत्वा ब्रह्मणि स्थितः, ब्रह्मवन्निर्दोषसमस्वरूपे आत्मनि निरतो भवेदिति भावः ।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥२१॥

ननु सर्वजनेप्सितशब्दस्पर्शादिविषयसुखासक्तस्य ब्रह्मणि स्थितिर्न सम्भवति, बाह्यसुख-विमुखाच्चेद् ब्रह्मणि रतः किं सुखं विन्देतेति चेत्तत्राह—बाह्यस्पर्शेष्विति । श्रोत्रादीन्द्रियैः स्पृश्यन्त इति स्पृशाः शब्दादिविषयास्ते बाह्येन्द्रियविषयत्वाद्बाह्यास्तेष्वसक्तात्मा अनासक्तचित्तो विगततृष्ण इति यावत् । आत्मनि अन्तःकरणे यदुपशमरूपमनन्तसुखं शास्त्रे उक्तं तद्विन्दति लभते । तदुक्तं मोक्षधर्मे । "यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् । तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलामि"ति । ततश्च प्रकृतिवियुक्तपरिशुद्धात्मस्वरूपं ब्रह्म तस्य योगो निरन्तरचिन्तनाभ्यासस्तत्र युक्त आत्मा मनो येन स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा । अथवा ब्रह्म परमात्मा तेन योगः प्रत्यगात्मनस्तादात्म्यसम्बन्धस्तत्र युक्तस्तदनु-सन्धानाभ्यासे नियुक्त आत्मा अन्तःकरणं येन स तथा अक्षयसुखमश्नुते प्राप्नोति । "आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेदि"ति श्रुतेः ।

मोह रहित हो जाय, अर्थात् दुःखदायी अनित्य वस्तु सुख के कारण हैं, ऐसा जो अन्तःकरण में भ्रम स्थित है, उससे मुक्त हो जाय । उसके बाद तत्त्व को जानने वाले, गुरु के उपदेश से ब्रह्म को जान कर ब्रह्म ही में स्थित हो जाय । कहने का भाव यह कि ब्रह्म के समान निर्दोष और समरूप वाले आत्मा में सदा निरत होवे ॥२०॥

सब लोगों से इच्छित शब्द स्पर्शादि विषय सुख में आसक्त पुरुष की ब्रह्म में स्थिति नहीं हो सकती । यदि बाहरी सुख से विमुख होकर वह ब्रह्म में रत हो तो उसको कौन सुख मिलेगा ? इसीका उत्तर देते हैं :—

बाह्येन्द्रियों के शब्द स्पर्शादि विषयों में जिनका चित्त आसक्त नहीं है अर्थात् जो उनमें तृष्णा रहित हैं, उनको अपने अन्तःकरण में वह अनन्त सुख मिलता है, जिस उपशम रूपी (विषय के विराग से उत्पन्न) सुख का उल्लेख शास्त्रों ने किया है, यथा मोक्ष धर्म—"यच्चकाम सुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ॥ तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोड़शी कलाम् ॥" अर्थात् जो संसार में कामना का सुख है, और जो स्वर्ग में दिव्य महासुख है वह तृष्णा के नाश से जो सुख उत्पन्न होता है उसके सोलहवें भाग के भी बराबर नहीं है । यह महाभारत के मोक्ष पर्व का वचन है ।

जिसने प्रकृति से वियुक्त, परिशुद्ध आत्म स्वरूप ब्रह्म के निरन्तर चिन्तन के अभ्यास में मन को लगाया है अर्थात् जिसने ब्रह्म से योग अर्थात् जीवात्मा का परमात्मा से तादात्म्य (भेदयुक्त अभेद) सम्बन्ध के अनुसन्धान के अभ्यास में अन्तःकरण को लगाया है, वह पुरुष अक्षय सुख को प्राप्त करता

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय ! न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

ननु बाह्यविषयानासक्तिपूर्वकात्मन्यक्षयसुखमश्नुते इति सत्यं, तथाऽपि प्रथमतो बाह्यविषयानासक्तिरेव कथं स्यादित्याशङ्क्य तेषु दोषदर्शनादित्याह—ये हीति। हि यस्मात् ये संस्पर्शजा विषयेन्द्रियसम्बन्धजा भोगा ऐहिकामुष्मिकास्ते सर्वेऽपि दुःखयोनयः परिणामे दुःखहेतवो भवन्ति। तथाभूता अपि न स्थिराः, किन्त्वाद्यन्तवन्तः। तस्मात् हे कौन्तेय ! तेषु बुधो विवेकी न रमते, तेषु प्रीतिं न कुरुते इत्यर्थः।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

एवमक्षयसुखहेतुशुद्धात्मनिष्ठाया दृढीकरणाय विषयसुखस्य दुःखहेतुत्वमभिधाय मुमुक्षवनुग्रहाय पूर्वोक्तमपि श्रेयोमार्गे प्रधानप्रतिपक्षं स्मृत्वा तन्निवारणाय पुनर्निर्दिशति शक्नोतीति। दर्शनश्रवणादिना गुणबुद्ध्या हृद्यतिसुक्तशब्दस्पर्शरूपादिमद्वस्तुविषयकप्रीत्यतिशयात्मकोऽभिलाषः कामः, तथा प्रतिकूलदर्शनश्रवणादिना दोषबुद्ध्या हृद्यारूढाप्रियवस्तुविषयकद्वेषविशेषनिमित्तकोऽभिज्वलनात्मकोऽन्तःकरणपरिणामः क्रोधस्ताभ्यामुद्भवो नदीवेगवदनिवार्य्यो देहेन्द्रियविकारो वेगस्तं शरीरविमोक्षणात्प्राक्

है। श्रुति कहती है :—"आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।" अर्थात् यदि आत्मा को यह ऐसा है, इस प्रकार जान जाय तो पुरुष किस इच्छा से और किस काम के लिये अपने शरीर को तपावे ॥२१॥

यह बात ठीक है कि बाहर के विषयों में अनासक्ति होने से आत्मा वा अन्तःकरण में अक्षय सुख अनुभूत होता है पर बाहर के विषयों में अनासक्ति हो कैसे ? इस प्रश्न के उत्तर में विषय सुख के दोषों को दिखाते हैं :—क्योंकि विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से उत्पन्न इस लोक और परलोक के सभी भोग अन्त में दुःख पैदा कर करते हैं और आरम्भ और अन्त वाले हैं, अर्थात् स्थिर नहीं हैं, इसलिए हे अर्जुन ! पण्डित लोग वा विवेकीजन उसमें प्रीति नहीं करते ॥२२॥

अक्षय सुख के कारण शुद्ध आत्म निष्ठा में दृढ़ करने के लिये विषय सुख को दुःख का कारण बताया। अब मुमुक्षुओं पर कृपा दर्शाने के लिए कल्याण के मार्ग की रुकावट को बता उनको हटाने का उपदेश देते हैं :—

दर्शन श्रवणादि के द्वारा गुण बुद्धि से शब्दादि विषयों में जो अतिशय अभिलाषा हृदय में उत्पन्न होती है उसी को काम कहते हैं। प्रतिकूल दर्शन श्रवणादि द्वारा दोष बुद्धि से अप्रिय वस्तुओं में जो द्वेष उत्पन्न होकर अन्तःकरण में अभिज्वलनात्मक वा जलाने वाला परिणाम उपस्थित होता है उसी को क्रोध कहते हैं। इन काम, क्रोध से उत्पन्न, नदी के वेग के समान अनिवार्य देहेन्द्रियों के विकार

यावच्छरीरपातमिहैव साधनाऽवस्थायामेव यः सोढुं निवर्त्तयितुं शक्नोति समर्थो भवति, स युक्तः, उक्तात्मज्ञानयुक्तः। स सुखी, स एव नरः पुरुषार्थार्हः। नान्यस्तद्वेगे पतित्वाऽत्मानमुद्धर्त्तुं समर्थ इत्यर्थः।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

अथ कामक्रोधवेगसहनानन्तरमात्मसाक्षात्कारं प्रति यदन्तरङ्गसाधनं तदाह—य इति। योऽन्तःसुखोऽन्तरात्मानुभव एव सुखं यस्य सोऽन्तः सुखः, न तु विषयानुभवे, अन्तरेवारामः क्रीडा यस्य, नतु वहिः पुत्रकलत्रादिषु, तथाऽन्तर्ज्योतिर्दृष्टिः प्रकाशो वा यस्य, न तु वाह्यविषयेषु इन्द्रियैर्वा, स योगी ध्यानयोगसम्पन्नः ब्रह्मभूतः मायादोषशून्यः सन् ब्रह्मनिर्वाणं विक्षेपशून्यं परिशुद्धात्मस्वरूपमधिगच्छति प्राप्नोति।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

उक्तसाधनप्रक्रियया बहवो विवेकिनः स्वरूपं प्राप्नुवन्तीत्याह—लभन्त इति। प्रथमतो निष्काम-कर्मानुष्ठानेन क्षीणं कल्मषं येषां ते, छिन्नं द्वैधं संशयो येषां ते यतात्मानः आत्मन्येव नियमितमनसः। ततश्च सर्वभूतानां हिते रताः कृपालवः ऋषयः सूक्ष्मदर्शिनः मन्त्रद्रष्टारो वा यथोक्तं ब्रह्म निर्वाणं लभन्ते।

वा वेग को जो शरीर छूटने के पहले यहाँ ही अर्थात् साधना अवस्था ही में, सह सकता है अर्थात् उसको निवारण कर सकता है, वही पुरुष पीछे कहे हुए आत्म ज्ञान से युक्त है, वही सुखी है, और वही मोक्ष पाने के योग्य है। कहने का मतलब यह कि दूसरा कोई काम क्रोध के वेग में पड़कर उससे अपने को नहीं निकाल सकता है ॥२३॥

काम क्रोध के वेग को सहने के बाद आत्म साक्षात्कार का जो अन्तरङ्ग साधन है, उसको बताते हैं :—

जिसको अन्तरात्मा के अनुभव में सुख है, विषयों के अनुभव में नहीं, जो अन्तरात्मा ही में क्रीड़ा करता है, बाहर के स्त्री पुत्र आदि विषयों में नहीं और जिसकी अन्तर्दृष्टि है बाहर के विषयों में नहीं वा जिसके भीतर ही से प्रकाश होता है, इन्द्रियों के द्वारा नहीं, वह योगी, अर्थात् ध्यान योग सम्पन्न पुरुष, माया दोष शून्य होकर, विक्षेप रहित, परिशुद्ध आत्म स्वरूप को प्राप्त करता है ॥२४॥

कहे गये साधन प्रक्रिया के द्वारा बहुत से विवेकी पुरुष स्वरूप को प्राप्त करते हैं, इसी को यहाँ कहते हैं :—

पहले निष्काम कर्म करने से जिनका पाप क्षीण हो गया है, और संशय नष्ट हो गया है, और जो आत्मा ही में मन लगाये रहते हैं, ओर सब प्राणियों के हित करने वाले अर्थात् कृपालु हैं, ऐसे सूक्ष्म दर्शी एवं मन्त्र को देखने वाले ऋषि लोग ऊपर कहे हुए ब्रह्म निर्वाण को अर्थात् परिशुद्ध आत्म स्वरूप को प्राप्त करते हैं ॥२५॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

तेभ्योऽपि केचिद्विशिष्टाः शीघ्रफलभाज इत्याह—कामक्रोधवियुक्तानामिति । उक्तस्वरूपाभ्यां कामक्रोधाभ्यां वियुक्तानां तत्परित्यागिनामत एव यतीनां यत्नशीलानां संयतचित्तानां विदितात्मनां ज्ञातात्मतत्त्वानामभितः साक्षादिहैव ब्रह्मनिर्वाणं मोक्षो वर्त्तते ।

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

पूर्वं मोक्षान्तरङ्गोपायतया "स योगी ब्रह्मनिर्वाणमि"त्यनेन सूचितं ध्यानयोगं विस्तरेण निरूपयितुं सफलमिह सूत्रवत्सङ्क्षिप्याऽऽह—स्पर्शानिति द्वाभ्याम् । स्पर्शान् स्पर्शोपलक्षितान् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् पञ्चविषयान्बाह्यान्बहिर्भवान् श्रोत्रचक्षुरादिद्वारेणान्तःप्रविष्टान् पुनस्तच्चिन्तनपरित्यागेन बहिरेव कृत्वा चक्षुश्च दृष्टिम्भ्रुवोरन्तरे मध्ये कृत्वा अत्यन्तनिमीलने हि निद्रात्मको लयो भवेत् । प्रसारणे तु बाह्यविषयसंसर्गेण विक्षेपो भवेत् । एतद्दोषद्वयपरिहाराय किञ्चिन्निमीलनेन दृष्टिं नासाग्रे विन्यस्य उच्छ्वासनिःश्वासगतिभ्यां नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ उभयगतिनिरोधेन समौ कृत्वा

ऊपर कहे हुए ऋषियों से भी शीघ्र फल पाने वाले कोई-कोई विशेष पुरुष होते हैं। उन्हीं के विषय में यहाँ कहते हैं :—

पीछे कहे लक्षण वाले काम क्रोध से वियुक्त अर्थात् काम क्रोध को छोड़ने वाले, संयत चित्त वाले और आत्म तत्त्व को जानने वाले यतियों अर्थात् यत्नशीलों को साक्षात् यहाँ ही मोक्ष मिल जाता है। अर्थात् उनके लिये यहाँ ही मोक्ष है ॥२६॥

मोक्ष के अन्तरङ्गोपाय में "स योगी ब्रह्मनिर्वाणम्" से ध्यान योग की सूचना दी। उस योग को विस्तार रूप से कहने के लिए यहाँ उसको उसके फल के साथ सूक्ष्म रूप से सूत्र के जैसे दो श्लोकों से कहते हैं :—

आँख, कान, नाक आदि द्वारा भीतर आये हुए बाहर के स्पर्श, श्रवण आदि विषयों के चिन्तन को छोड़ और इस प्रकार उनको बाहर ही निकाल कर, आँखों को भौहों के बीच में रख कर, (बीच में रखना इसलिये कहा है कि वैसा करने से आँखें न बिलकुल प्रसारित रहती हैं जिससे बाहरी विषयों के संसर्ग से विक्षेप उत्पन्न हो और न बिलकुल बंद ही रहती हैं जिससे निद्रात्मक लय उपस्थित हो) इस प्रकार आँखों को कुछ कुछ खुला रख कर नाक के अग्र भाग पर लगाना कहा। उच्छ्वास, (सांस फेंकना) निश्वास (सांस लेना) के रूप में नासिकाओं के भीतर चलने वाले प्राण और अपान दोनों वायु

कुम्भकेन वशीकृत्येत्यर्थः। अनेनोपायेन यताः संयता इन्द्रियमनोबुद्धयो यस्य, मोक्ष एव परमयनं प्राप्यं यस्य अत एव विगतेच्छाभयक्रोधः य एवम्भूतो मुनिः स यदा फलकाल इव साधनकालेऽपि मुक्त एव, संसारदोषास्पृष्ट एवेत्यर्थः।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

एवमुक्तानां यज्ञादिकर्मतपोज्ञानयोगानां समरूपात्मदर्शनं संसारधर्मासङ्गत्वं च फलमुक्तं, तच्च न स्वातन्त्र्येणापि तु सर्वफलदातुरीश्वरेश्वरस्य भगवतस्तथात्वज्ञानद्वारेणेत्याह—भोक्तारमिति। यज्ञानां तपसां च श्रद्धाप्रीतिपूर्वकं समर्पितानां भोक्तारं पालनाभ्यवहारकर्त्तारं, सर्वलोकमहेश्वरं सर्वेषां लोकानां लोकेश्वराणामपीश्वरं, सर्वभूतानां प्राणिनां सुहृदं हितेच्छुं मां ज्ञात्वा शान्तिं संसारबन्धात्मकविक्षेप-निवृत्तिरूपां दशामृच्छति प्राप्नोति। स्वस्वरूपज्ञानप्रकारं तु पञ्चदशेऽध्याये सम्यग्वक्ष्यति।

साधनं कर्म ज्ञानादि कृपया हरिणोदितम्।
समदर्शी यतो भूत्वा पराज्ञाने ततोऽर्हति ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्विजयि श्रीकेशव-काश्मीरिभट्टाचार्यविरचितायां पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

को कुम्भक से रोक कर अर्थात् वश में कर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि का जिसने संयम किया है और जिसका मोक्ष ही परम साधन है और जो इच्छा, भय और क्रोध से रहित है, वह मुनि सदा अर्थात् साधन काल में भी फल काल के समान मुक्त है अर्थात् संसार के दोष उसको नहीं छूते ॥२७+२८॥

यज्ञादि कर्म, तप, ज्ञान, योग सबों का फल समरूप आत्मदर्शन और संसार के धर्म से असंग रहना कहा। अब यह कहते हैं कि यज्ञादि कर्मों को वा तप, ज्ञान, योग इत्यादि को स्वतन्त्र रूप से फल देने की शक्ति नहीं है। सबके फल देने वाले और ईश्वरों के भी ईश्वर जो भगवान् हैं उनके यथार्थ ज्ञान के द्वारा ही ये फल दे सकते हैं, इसी को कहते हैं :—

श्रद्धा, और प्रीति पूर्वक समर्पित यज्ञ और तपों के भोक्ता अर्थात् पालन और व्यवहार करने वाले हम ही हैं। सब लोकों के ईश्वरों के भी ईश्वर हम ही हैं। सब प्राणियों के हितेच्छु हम ही हैं। ऐसा जो मुझको जानता है वह शान्ति को अर्थात् संसार के बन्धात्मक विक्षेप से निवृत्ति दशा को प्राप्त होता है। अपने स्वरूप ज्ञान की रीति को पन्द्रहवें अध्याय में पूर्ण रूप से कहेंगे ॥२९॥

इस पाँचवें अध्याय में श्रीभगवान् ने कृपा कर आत्म ज्ञान प्राप्ति के साधन कर्म, ज्ञानादि का उपदेश किया। इसके अनुष्ठान से जीव समदर्शी हो परमात्मा के ज्ञान का अधिकारी होता है।

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायां पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

* श्रीमते निम्बार्काय नमः *

श्रीमद्भगवद्गीता

षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

पञ्चमेऽध्याये कर्मयोगो ज्ञानयोगश्च सप्रशंसं निरूपितः । तदन्तरङ्गो ध्यानयोगस्तदन्ते सङ्क्षेपेण द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां निरूपितः । तद्विस्तारार्थं षष्ठाध्यायारम्भः । तत्र तावत् "सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्त" इत्यादिना सर्वकर्मत्यागेन संन्यासाख्यज्ञानयोगविधानाद्धीनत्वेन कर्म त्याज्यमिति शङ्का-वारणाय कर्मयोगस्य संन्यासरूपत्वेनोपादेयतामभिधास्यन् श्रीभगवानुवाच अनाश्रित इति । कर्मणां फलं स्वर्गादिकमनाश्रितोऽनपेक्षमाणः सन् कार्यमवश्यकर्त्तव्यतया विहितं कर्म नित्यनैमित्तिकरूपं यः करोति, स संन्यासी च ज्ञानयोगनिष्ठश्च । योगी च कर्मयोगनिष्ठश्च । अत एव न निरग्निः, अग्नि-साध्यकर्मत्यागी न भवति । न चाक्रियः, अग्निनिरपेक्षक्रियाहीनश्च न भवति । अथवा निरग्निरक्रियश्च संन्यासी योगी च न मन्तव्यः किन्तु सर्वकर्मफलत्यागपूर्वककर्मानुष्ठाय्येव संन्यासी योगी च मन्तव्यः । तस्योभयनिष्ठा सिद्धिरिति भावः ।

पंचम अध्याय में प्रशंसा के साथ कर्म योग और ज्ञान योग का निरूपण किया, और उनके अन्तरङ्ग ध्यान योग को अन्त में दो श्लोकों से संक्षेप में कहा । अब इस छठे अध्याय में ध्यान योग का विस्तार से वर्णन करेंगे । "सर्व कर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते" इत्यादि सर्व कर्म त्याग द्वारा संन्यास नामक ज्ञान योग का विधान किया । इससे ऐसी शंका हो सकती है कि कर्म योग उससे हीन है और इसलिए छोड़ देने योग्य है । इसी शंका को हटाने के लिए कर्म योग का संन्यास रूप से ग्रहण करने का वर्णन करते हुये भगवान् कहते हैं ।

कर्मों के स्वर्गादि फलों में अनाश्रित वा अनपेक्ष होकर जो अवश्य कर्त्तव्य और इसलिये विहित, नित्य, नैमित्तिक रूप कर्मों को करता है, वह संन्यासी है, अर्थात् ज्ञान योग निष्ठ है, और वही योगी अर्थात् कर्म योगनिष्ठ भी है इसलिये वह अग्नि से साध्य कर्मों को छोड़ने वाला नहीं होता और उन क्रियाओं से भी हीन नहीं होता, जिनके करने में अग्नि की आवश्यकता नहीं होती । अथवा इसका यह मतलब कि अग्नि से साध्य कर्मों को छोड़ने से और दूसरे कर्मों को छोड़ने से कोई संन्यासी या योगी

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ! ।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

उक्तार्थमेवोपपादयति—यं संन्यासमिति । "प्रकर्षेणाहुः न्यास एवात्परे च यदि"त्याद्याः श्रुतयः । तं योगं फलकर्त्तृत्वाभिमानत्यागपूर्वकविहितकर्मानुष्ठानं विद्धि हे पाण्डव ! एवम्भूतं कर्मैव संन्यासं जानीहीत्यर्थः । कुत ? इत्यपेक्षायां हि यस्मात् । असंन्यस्तसङ्कल्पः, न संन्यस्तः त्यक्तः सङ्कल्पो येन सः कश्चन कश्चिदपि योगी न भवतीत्यर्थः ।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

एवं चेत्तर्हि यावज्जीवं कर्मैव कर्त्तव्यतयाऽभिप्रेतं किमित्यत आह—आरुरुक्षोरिति । योगं ज्ञानयोगमारुरुक्षोः आरोढुं प्राप्तुमिच्छोर्मुनेरुक्तस्वरूपं कर्म तत्प्राप्तौ कारणमुच्यते । ज्ञानयोगारूढस्य तस्यैव शमः कर्मनिवृत्तिर्ध्यानपरिपाके कारणमुच्यते । यावदात्मसाक्षात्कारान्तरङ्गस्य योगस्य प्राप्तिस्तावत्कर्म कार्यमित्यर्थः ।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

कर्माचरन्कदा योगारूढो भवतीति चेच्छृणु—यदा हीति । यदा यस्मिन्काले इन्द्रियार्थेषु

नहीं माना जा सकता; पर कर्मों के फल को छोड़ कर्म करने वाला ही संन्यासी और योगी माना जा सकता है; क्योंकि ऐसे पुरुष की दोनों ही निष्ठा अर्थात् ज्ञान निष्ठा और कर्म निष्ठा सिद्ध होती हैं ॥१॥

ऊपर में कहे हुये का समर्थन करते हैं :—

हे अर्जुन ! जिसको शास्त्रों ने संन्यास कहा है उसी को योग अर्थात् फल और कर्त्तापन का अभिमान छोड़ कर विहित कर्मों का अनुष्ठान जानो । अर्थात् ऐसे ही कर्म को संन्यास जानो । इसका कारण यह है कि वह पुरुष जिसने संकल्प नहीं छोड़ा है, कभी योगी नहीं हो सकता ॥२॥

यदि ऐसी बात है तो क्या यह मतलब है कि जन्म भर कर्म करता रहे ? इसका उत्तर देते हैं :—

ज्ञान योग की प्राप्ति की इच्छा वाले मुनि के लिये निष्काम कर्म ज्ञान योग की प्राप्ति का कारण कहा गया है । ज्ञान योग को प्राप्त किये हुए मुनि के लिये, कर्म की निवृत्ति, ध्यान के परिपक्व होने में, कारण कही गई है । कहने का मतलब यह है कि आत्म साक्षात्कार के अन्तरङ्ग उपाय, ध्यान योग की जब तक प्राप्ति न हो, तब तक कर्म करना चाहिए । ध्यान योग की प्राप्ति हो जाने पर कर्मों की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ध्यान योग में वे विक्षेप डालने वाले हैं ॥३॥

कर्मों को करता हुआ पुरुष कब योगारूढ होता हैं ? उसी को कहते है ।

शब्दादिविषयेषु तत्साधनभूतेषु कर्मसु च न सज्जते, ममैते भोग्या एतदर्थं मया प्रयतितव्यमित्यभिनिवेशं न करोति । हि यस्मात्सर्वसङ्कल्पसंन्यासी सर्व (सङ्कल्प) फलभोगविषयांस्तत्साधनकर्मविषयांश्च सङ्कल्पान् संन्यसितुं त्यक्तुं शीलं यस्य स तदा योगारूढ उच्यते ।

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

एतेन विषयासक्तिस्तद्विरक्तिश्च संसारपाततदुद्धरणहेतुभूते इति बुद्ध्वा स्वहितं कुर्यादित्याह—उद्धरेदिति । आत्मना विषयाननुसक्तेन मनसा आत्मानं जीवं समुद्धरेत् । विषयासक्त्या संसारे पतन्तं दोषबुद्ध्या तत्परित्यागेनोद्ध्वं नयेदित्यर्थः । नावसादयेत्-विषयासक्त्या संसारसमुद्रे न मज्जयेत् । हि यस्मादात्मैव मन एवात्मनो बन्धुर्हितकारी संसारादुद्धारकः, नान्यो भ्रात्रादिः । आत्मैव मन एवात्मनो रिपुरहितकारी, नान्यः ।

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

कथम्भूतस्यात्मन आत्मा बन्धुः, कथम्भूतस्यात्मन आत्मारिपुरित्युच्यते—बन्धुरिति । येन पुरुषेणात्मनैव स्वेनैवात्मा स्वमनो विषयेभ्यो जितो निर्वर्त्तितः तस्यात्मा मन एव बन्धुर्हितकारी ।

जिस समय शब्दादि विषयों में और उनके साधनभूत कर्म में वह मनोयोग नहीं करता, अर्थात् प्रवृत्त नहीं होता और वह यह नहीं समझता कि ये मेरे भोग्य हैं और उनको प्राप्त करने का मुझे यत्न करना चाहिये, और वह इसलिये कि उसने सब फल भोग विषय सम्बन्धी और उनके साधनभूत कर्म विषय सम्बन्धी संकल्पों को छोड़ दिया है, तब वह योग को प्राप्त किया हुआ कहा जाता है एवं समझा जा सकता है ॥४॥

इससे विषय में आसक्ति को संसार में पतन का और विषय से विरक्ति को संसार से उद्धार का कारण जान बुद्धि द्वारा अपनी हित की बात करे । इसी को कहते हैं ।

विषय से विराग युक्त मन के द्वारा आत्मा अर्थात् जीव का उद्धार करे अर्थात् विषय में आसक्ति होने से संसार में गिरना होता है इस दोष बुद्धि से विषयासक्ति को छोड़, अपने को ऊपर ले जावे । विषय में आसक्ति कर आत्मा को संसार समुद्र में नडुबोवे । कारण कि मन ही आत्मा का हितकारी है अर्थात् संसार से उद्धार करने वाला है, दूसरे भाई, पुत्रादि नहीं, और मन ही अपना शत्रु भी है दूसरा नहीं ॥५॥

कैसे आत्माओं का आत्मा (मन) बन्धु है और कैसे आत्माओं का आत्मा (मन) शत्रु है ? इसी को कहते हैं :—

जिस पुरुष ने अपने से अपने मन को जीता है, अर्थात् विषयों से हटाया है, उसी आत्मजित् पुरुष का मन उसका बन्धु वा हितकारी है और जिस पुरुष ने अपने मन को नहीं जीता, उसका विषय

अनात्मनोऽजितमनसः पुरुषस्यात्मैव विषयासक्तं स्वकीयं मन एव शत्रुवत् स्वस्य शत्रुत्वे संसारबन्धहेतुत्वे वर्त्तेत। तदुक्तं श्रीपराशरेण। "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्तं निर्विषयं स्मृतमि"ति।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

जितमनसः पुरुषस्य स्वबन्धुत्वं प्रतिपाद्य तत एव यैर्धर्मविशेषैर्योगारूढता सम्पद्यते तद्वैशिष्ट्यं प्रतिपादयन्पूर्वोक्तं योगारूढत्वं स्मारयति—जितात्मन इति द्वाभ्याम्। प्रागुक्तेन्द्रियानासक्तस्य शीतोष्णसुखदुःखेषु मनस उद्वेगहेतुषु सत्स्वपि तथा हर्षक्षोभहेत्वोर्मानापमानयोः सतोरपि जितात्मनः विकारशून्यमनसः। अत एव प्रशान्तस्य सुखदुःखादिहेतुषु पुरुषेषु रागद्वेषवर्जितस्य परमात्मा मनोबुद्ध्यादिभ्यः परमः स्वयम्प्रकाशस्वरूप आत्मा सम्यगाहितः सुखरूपेणावस्थितो भवति। अथवा उक्तप्रकारेण प्रशान्तस्य परं केवलमात्मा समाहितो भवति, नान्यस्य।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्ठाश्मकाञ्चनः ॥८॥

ततश्च ज्ञानेति। ज्ञानं शास्त्रोपदेशजन्यं, विज्ञानमुपदिष्टार्थस्य मननिदिध्यासनाभ्यासेन

में आसक्त मन उसके शत्रु के समान, उसको संसार के बंधन में डालने में निरत रहता है। श्री पाराशर जी ने भी ऐसा ही कहा है :—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्तं निर्विषयं स्मृतम् ॥"

अर्थात् मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है, विषय में आसक्त मन बन्ध का कारण है, और विषय से रहित मोक्ष का कारण है ॥६॥

जिस मनुष्य ने मन को जीता है उसका मन अपना बन्धु है, ऐसा प्रतिपादन कर वह मनुष्य जिस विशेष धर्म द्वारा योग की सीढ़ी पर चढ़ता है उस धर्म की विशेषता दिखाते हुए पूर्वोक्त योगारूढता का दो श्लोकों से स्मरण कराते हैं।

पीछे कहे गये इन्द्रियों में आसक्तिहीन पुरुष, मन के उद्वेग के कारण, गर्मी, सर्दी, सुख, दुःख के होने पर भी, तथा हर्ष और क्षोभ के कारण, मान और अपमान के होने पर भी, विकार शून्य मन वाले होते हैं, अर्थात् उनके मन में विकार पैदा नहीं होता। इसीलिये वे प्रशान्त चित्त वाले होते हैं, अर्थात् उनके सुख, दुःख के कारण जो पुरुष हैं उनके प्रति उनका राग द्वेष नहीं होता। ऐसे पुरुषों का परमात्मा अर्थात् मन, बुद्धि आदि से श्रेष्ठ और स्वयं प्रकाश रूप आत्मा सदा सुख से रहता है, अथवा यह अर्थ भी हो सकता है कि—परम अर्थात् केवल प्रशान्त चित्त वाले का ही आत्मा सुख से रहता है, दूसरों का नहीं ॥७॥

शास्त्र के उपदेश से उत्पन्न ज्ञान द्वारा और उस उपदेश के मनन और निदिध्यासन के अभ्यास

भ्रमनिरासपूर्वकयथाऽवस्थितात्मस्वरूपानुभवः, ताभ्यां तृप्तः बाह्यार्थनिराकाङ्क्ष आत्मा चित्तं यस्य (तथा) सः। कूटस्थो यस्यां कस्यामप्यवस्थायां यथा कथञ्चित् यदृच्छया सङ्गे जातेऽपि निर्विकारः। अत एव विजितेन्द्रियः देहधारणहेतुभूतान्नपानाच्छादनादिमिष्टकटुस्निग्धरूक्षमृद्रमृद्वादिषु प्राप्तेषु प्रीतिद्वेषाभावाद्विनिवर्त्तितानीन्द्रियाणि येन सः, अत एव समलोष्टाश्मकाञ्चनः। समानि मृत्पिण्डपाषाणसुवर्णानि यस्य स तथा तेषु हेयोपादेयबुद्ध्यभावात् स योगी युक्तो योगारूढ इत्युच्यते।

सुहृन्मित्रार्य्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

एतस्मादपि विशिष्टो भवतीत्याह—सुहृदिति। सुहृत् स्वसम्बन्धोपकाराद्यनपेक्ष्य हितासंशी, मित्रं स्नेहेन हितोपकारकः, अरिः सनिमित्तं निर्निमित्तं वाऽपकारकर्त्ता, उदासीनः हिताहितानकाङ्क्षकः, मित्रारिभाववर्जितो वा, विवदमानयोरुभयोरप्युपेक्षको वा, मध्यस्थो विविदमानयोर्हिताकाङ्क्षी, द्वेष्यः स्वभावतोऽनिष्टेप्सुः, बन्धुः सम्बन्धापेक्षोपकारकः, साधवः सदाचाराः, पापा दुराचारा, एतेषु समा रागद्वेषशून्या बुद्धिर्यस्य स विशिष्यते, पूर्वोक्तादपि विशिष्टो भवति।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

से भ्रम रहित, तथा अवस्थित आत्म स्वरूप अनुभव रूप विज्ञान द्वारा, और बाहर के विषयों की आकांक्षा से हीन, आत्मबल वाला पुरुष, जिसका आत्मा ज्ञान और विज्ञान से ही तृप्त रहता है, जो कूटस्थ है, अर्थात् किसी भी संगति में पड़ जाने पर वा किसी भी अवस्था में रहने पर विकार रहित रहता है और इसी कारण से जिसने इन्द्रियों पर विजय पाई है, अर्थात् देह धारण के हेतुभूत, वस्त्रादि के अच्छा बुरा होने या कड़ा मुलायम होने पर और अन्न पानादि के मीठा तीता होने से, प्रीति वा द्वेष भाव जिसको नहीं होता, और इससे जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सोना बराबर ही है, वही योगी योगारूढ अर्थात् योग के रास्ते पर पहूँचा हुआ कहा जाता है ॥८॥

ऊपर कहे हुए योगी से भी अधिक विशेषतायुक्त योगी का वर्णन करते हैं।

जो सुहृत में अर्थात् उस पुरुष में जो सम्बन्ध और उपकार की अपेक्षा न करके ही हित करता है, मित्र में अर्थात् स्नेह से हित करने वाले में, अरि में, अर्थात् मतलब बेमतलब अपकार करने वाले में, उदासीन में अर्थात् उस पुरुष में जो न हित ही चाहता है न अहित ही और जो शत्रुता और मित्रता दोनों भाव से रहित है, मध्यस्थ में अर्थात् उस पुरुष में जो झगड़ा करने वाले दोनों दल की उपेक्षा करता है वा दोनों के हित की आकांक्षा करता है, द्वेषी में अर्थात् स्वभाव से ही बुराई करने की इच्छा वाले में, बन्धु अर्थात् सम्बन्ध के कारण हित करने वाले में, सदाचारियों में और दुराचारियों में समबुद्धि अर्थात् राग द्वेष से शून्य बुद्धि रखता है, वह पूर्व में वर्णित योगी से भी विशिष्ट (श्रेष्ठ) समझा जाता है ॥९॥

एवं योगारूढस्य लक्षणमुक्तमिदानीं तस्य साङ्गं योगं विधत्ते—योगी युञ्जीतेत्यारभ्य स योगी परमो मत इत्यन्तेन ग्रन्थेन। योगी योगारूढः सततमहरहर्योगसमये आत्मानं मनो युञ्जीत, युक्तं कुर्वीत स्वस्वरूपानुभवार्थं समाहितं कुर्यादित्यर्थः। रहसि विक्षेपहेतुजनवर्जिते गिरिगुहादौ देशे स्थितः, एकाकी जनान्तरवर्जितः, यतचित्तात्मा। यतं चित्तमात्मा देहश्च येन निराशीर्वस्त्वन्तरमात्रे निस्पृहः, अत एवापरिग्रहः संग्रहशून्यः।

शुचौदेशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

तत्र तावत्तदुपयोग्यासनमाह—शुचाविति द्वाभ्याम्। शुचौ अशुचिभिर्म्लेच्छादिभिः संसर्गवर्जिते अशुचिवस्तुभिस्स्पृष्टे च स्वभावसंस्कारादिना शुद्धे देशे आत्मनः आसनं प्रतिष्ठाप्य प्रकर्षेण स्थापयित्वा, कथम्भूतं स्थिरमचलं नात्युच्छ्रितं, नात्युच्चं, न चातिनीचं, चैलं शुद्धवस्त्रम्, अजिनं मृगादिचर्म, ते कुशेभ्य उत्तरे यस्मिन् तत्, भूमौ कुशमयं, तदुपरि मृगचर्म, तदुपरि वस्त्रमित्येवं रूपमित्यर्थः। तत्र तस्मिन्नासने उपविश्य एकाग्रं विक्षेपरहितं मनः कृत्वा यताः संयता उपरताश्चित्तस्येन्द्रियाणां च क्रिया येन सः। आत्मविशुद्धये बन्धविमुक्तये योगं युञ्ज्यात् अभ्यसेत्।

समं कायशिरो ग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

योगारूढ़ का लक्षण कह चुके। अब अङ्गों के साथ योग को कहते हैं।

योग के पथ पर चढ़ा हुआ पुरुष सदा प्रतिदिन योग करने के समय अपने मन को आत्म स्वरूप के अनुभव में युक्त करे अर्थात् लगावे। बाधा डालने वाले मनुष्यों से वर्जित, पहाड़ की कन्दरा इत्यादि एकान्त स्थान में रह कर, अकेले जहाँ कहीं दूसरा न हो, चित्त और शरीर को काबू में ला, और दूसरी वस्तुओं में स्पृहा हीन होकर और इसी कारण संग्रह से शून्य हो योग में लगे ॥१०॥

अब योग के उपयुक्त आसन को दो श्लोकों में कहते हैं :—

म्लेच्छादिकों के संसर्ग से वर्जित, अपवित्र वस्तुओं के स्पर्श से रहित, और स्वभाव संस्कारादि से शुद्ध देश में, अपने आसन को ठीक रीति से जमावे। यह आसन हिलने डुलने वाला न हो, न अधिक ऊँचा हो और न नीचा हो और पृथ्वी पर कुश, उसके ऊपर मृग चर्म और उसके ऊपर शुद्ध वस्त्र बिछा हो। ऐसे आसन पर बैठ कर मन को विक्षेप रहित करके और चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को संयत करके, आत्मा की शुद्धि के लिये अर्थात् बन्ध से आत्मा को छुड़ाने के लिये योग का अभ्यास करे ॥११+१२॥

एवमासनमुक्त्वा ध्यानोपयोगिशरीरधारणप्रकारमाह—सममिति । कायोऽत्र देहमध्यभागो विवक्षितः, शिरोग्रीवेति पृथग्ग्रहणात् । कायशिरोग्रीवं सममवक्रमचलमकम्पं धारयन्, स्थिरः दृढः सन् स्वकीयं नासाग्रं सम्प्रेक्ष्य दिशश्चानवलोकयन्नासीतेत्युत्तरेणान्वयः ।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत् मत्परः ॥१४॥

प्रशान्त आत्मा चित्तं यस्य, विगतभीरकुतश्चिद्भयः । ब्रह्मचारिव्रते ब्रह्मचर्ये स्थितः । उपस्थस्य संयमो ब्रह्मचर्यं, तच्चाष्टविधमैथुनत्यागादष्टविधं—तच्चोक्तं "स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥ एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः । विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेव प्रकीर्त्तितमि"ति । तस्मिन् स्थितः सन्मनः संयम्य विषयेभ्यस्तद्वृत्तीः प्रत्याहृत्य, मय्येव चित्तं यस्य स मच्चितस्तथा मत्परः, अहमेवानन्दघनः परः पुरुषार्थो यस्य स मदेकविषयचित्तवृत्तिभिर्युक्त आसीतोपविशेत् ।

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

एवं योगमभ्यसतो योगिनः फलमाह—युञ्जन्नेवमिति । एवमुक्तप्रकारेण परमात्मनि भगवति मयि सदाऽऽत्मानं मनो युञ्जन्समाहितं कुर्वन् । नियतं निरुद्धं मानसं वृत्तिनिरोधेन मन एव निरुध्यतेऽतो

आसन के विषय में कह कर अब योग के उपयोगी शरीर धारण की रीति को कहते हैं :—

शिर, ग्रीवा और शरीर के बीच के भाग को सीधा और अचल रख, दृढ़ होकर, नाक के अगले भाग को देखता हुआ और दूसरी दिशाओं को नहीं देखता हुआ, स्थिर हो बैठे ॥१३॥

बिलकुल शान्त चित्त, भय से रहित, ब्रह्मचर्य* में स्थित, मन की वृत्ति को विषयों से फेर कर मुझ में चित्त लगा, और मुझ आनन्दघन को ही अपना परम पुरुषार्थ समझ युक्त हो, अर्थात् मेरे ही में अपने चित्त की वृत्ति को लगा कर बैठे ॥१४॥

ऐसे योग के अभ्यास करने वाले योगी के लाभ को कहते हैं। उक्त प्रकार से मुझ परमात्मा भगवान् में अपनी आत्मा (मन) को सदा लगाता हुआ और मन की वृत्तियों को विषयों से रोकता

नोट :—जननेन्द्रिय के संयम को ब्रह्मचर्य कहते है। यह संयम आठ प्रकार की क्रियाओं को छोड़ने से आठ प्रकार का है। शास्त्रों में आठ प्रकार के मैथुन को इस प्रकार गिनाया है :—

"स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्, संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः, विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेव प्रकीर्त्तितम् ॥

स्त्री का चिन्तन, स्त्री के मुख अङ्गादि की वा उसके बोलचाल की प्रशंसा करना, हँसी दिल्लगी करना, प्रेम भाव देखना, गुप्त बातें करना, संभोग की प्रतिज्ञा करना, उसका उपाय करना और संभोग करना, इन्हीं को पंडितों ने मैथुन के आठ अङ्ग कहे हैं, इन्हीं से रहित होना ब्रह्मचर्य कहलाता है।

नियतमानसः सन् शान्तिं संसारोपरतिरूपां निर्वाणपरमां निर्वाणं मोक्षः परमो यस्यां तां मत्संस्थां मन्निष्ठामधिगच्छति प्राप्नोति ।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

एवं महाफलं योगमभिधाय तत्साधनावशिष्टमाहारनियममाह—नात्यश्नत इति द्वाभ्याम् । अत्यश्नतः अत्यन्तमधिकं भुञ्जानस्य योगो ध्याननिष्ठा न भवति । एकान्तमत्यन्तमनश्नतोऽभुञ्जानस्यापि योगो नास्ति । तथाऽतिनिद्राशीलस्याऽतिजाग्रतश्च योगो नास्ति ।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

तर्हि कीदृशस्य योगो भवतीत्यपेक्षायामाह—युक्तेति । आहारो भोजनं, विहारो विक्रमणं, तौ युक्तौ नियतपरिमाणौ यस्य तस्य । तथोक्तं योगशास्त्रे "द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् । वायोः सञ्चारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेदि"ति । तथा युक्ता नियता कर्मसु चेष्टा यस्य, तथा युक्तौ स्वप्नावबोधौ निद्राजागरौ यस्य तस्य दुःखनाशको योगो निष्पन्नो भवति ।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

हुआ योगी संसार से विराग रूप मेरे में निष्ठा वाली शान्ति प्राप्त करता है जिसका परम फल मोक्ष है, अर्थात् ऐसा योगी मोक्ष को प्राप्त करता है ॥१५॥

इस प्रकार महा फल वाले योग को कह कर उसके अवशिष्ट साधन, भोजनादि को, दो श्लोकों से कहते हैं।

बहुत भोजन करने वाले को योग अर्थात् ध्यान निष्ठा नहीं होती बिलकुल नहीं खाने वाले को भी ध्यान निष्ठा नहीं होती। बहुत सोने वाले को और बिलकुल नहीं सोने वाले को भी योग नहीं होता ॥१६॥

तब किस प्रकार के पुरुष को योग अर्थात् ध्यान निष्ठा होती है उसी को कहते हैं। जिसका आहार विहार नित्य परिमाण से होता है। योग शास्त्र में कहा है :—

"द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् । वायोः संचारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥"

अर्थात् दो भागों को अन्न से भरे, एक भाग को पानी से भरे, और वायु के चलने के लिये चौथे भाग को खाली छोड़ दे। फिर जिस पुरुष की कर्म में चेष्टा नियत मात्रा से है और जिसका सोना जागना भी उपयुक्त है अर्थात् नियत परिमाण में है उसी को दुःख को नाश करने वाला योग सिद्ध होता है ॥१७॥

एवंनियमवान्पुरुषः कदा निष्पन्नयोगो भवतीत्यपेक्षायामाह—यदेति। यदा यस्मिन् काले नियतं विषयान्तरवृत्तिशून्यतया विशेषेण संयतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते निश्चलं भवति, तदा सर्वकामेभ्यो निस्पृहः सन्युक्तः निष्पन्नयोग इत्युच्यते। योगज्ञैरिति शेषः।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

एवं सिद्धयोगयुक्तस्य लक्षणमुक्त्वेदानीं समाधिस्थस्य तस्योपमाऽह—यथेति। निवातस्थो वात-रहिते देशे स्थितो दीपो यथा नेङ्गते न चलति सोपमा स्मृता चिन्तिता योगविद्भिः। कस्य यतचित्तस्य योगिनः संयतान्तःकरणस्य योगं युञ्जतोऽनुतिष्ठत आत्मन आत्मस्वरूपस्य निवातस्थनिश्चयसुप्रकाशदीप-वन्निवृत्तविक्षेपतया निश्चलसुप्रकाशज्ञानात्मा भासते इत्यर्थः।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

एवमेतावता योगसाधनमासनाहारादियोगयुक्तस्य लक्षणोपमे चाभिधायेदानीं सफलं सिद्धयोगं लक्षयति—यत्रेत्यादि सार्धैस्त्रिभिः। यत्र यस्मिन्नवस्थाविशेषे योगसेवया योगाभ्यासेन निरुद्धं चित्त-मुपरमते इतरस्मात्। यत्र चावस्थाविशेषे आत्मना शुद्धेन मनसा आत्मानं पश्यन्नन्यनिरपेक्ष आत्मन्येव तुष्यति।

ऐसा नियम वाला पुरुष योग से युक्त कब होगा? उसीको कहते हैं :—

जिस समय दूसरे विषयों में वृत्ति शून्य होने से पुरुष का चित्त संयत होकर आत्मा में ही स्थित होता है, तब सब अभिलाषाओं से इच्छा हीन होकर वह पुरुष युक्त अर्थात् योग सम्पन्न कहा जाता है, अर्थात् योग के जानने वाले तब उस पुरुष को योग सम्पन्न कहते हैं ॥१८॥

सिद्ध योग युक्त पुरुष का लक्षण कह कर अब समाधिस्थ पुरुष की उपमा देते हैं। वायु रहित देश में जैसे दीप हिलता डुलता नहीं है, वैसे अन्तःकरण को संयत करते हुए और योग में लगे हुए योगी के आत्म स्वरूप को भी वही उपमा दी गई है। भाव यह है, कि जैसे वात रहित देश में रखा हुआ दीप खूब निश्चल और तेज प्रकाश देता है, वैसे ही विक्षेपों के निवृत्त हो जाने से तेज युक्त ज्ञान वाला निश्चल आत्मा चमकने लगता है ॥१९॥

यहाँ तक योग के साधन, आसन, आहारादि और योग युक्त पुरुष के लक्षण और उपमा के विषय में कहा गया। अब आगे के साढ़े तीन श्लोकों से सिद्ध योग को, उसके फल के साथ, दिखलाते हैं :—

जिस अवस्था विशेष में योग के द्वारा चित्त और विषयों से रुक जाता है और जिस अवस्था में योगी शुद्ध मन से अपनी आत्मा को निरपेक्ष भाव से, अर्थात् और दूसरी वस्तुओं से विरक्त होकर, देखता हुआ अपनी आत्मा ही में संतोष लाभ करता है, उसी को सिद्ध योग अवस्था कहते हैं ॥२०॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

आत्मन्येव तोषे हेतुमाह—सुखमिति । यत्र यस्मिन्नवस्थाविशेषे यत्तदतीन्द्रियमिन्द्रियनिरपेक्षं बुद्ध्यैकग्राह्यम्, आत्यन्तिकं नित्यं सुखं योगी वेत्ति अनुभवति । यत्र यस्मिन्सुखे च स्थितः तत्त्वत आत्मस्वरूपान्नैव चलति ।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥२२॥

अचलनमेव हेतुनोपपादयति—यमिति । यं स्वरूपानुभवसम्बन्धिसुखरूपं लाभं लब्ध्वा ततोऽधिकमपरं लाभं न मन्यते, तस्यैव निरतिशयत्वज्ञानात् । यस्मिंश्च सुखानुभवार्हे आत्मसक्तमनसोऽवस्थाविशेषे स्थितो योगी गुरुणा महताऽपि शीतोष्णादिदुःखेन न विचाल्यते न च्याव्यते इत्यर्थः ।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥२३॥

एवं यच्छब्दाभ्यासेन सामान्येनोक्तो योऽवस्थाविशेषस्तं तच्छब्देन परामृश्य दर्शयति—तं विद्यादिति । दुःखशब्देन दुःखोदर्कं विषयेन्द्रियजन्यं सुखमपि गृह्यते, तथा च दुःखसंयोगेन स्पर्शमात्रेणापि

अपने ही में संतोष को लाभ करता है इसका कारण बताते हैं :—

जिस अवस्था विशेष में इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रखने वाले और केवल बुद्धि से ग्रहण करने योग्य, नित्य सुख को योगी अनुभव करता है और जिस सुख में स्थित हो वह योगी आत्मा स्वरूप से नहीं डिगता वही सिद्धयोग अवस्था है ॥२१॥

आत्म स्वरूप में अचल क्यों होता है, अब इसका कारण बताते हैं :—

जिस स्वरूप वा आत्मानुभव सम्बन्धी सुख रूप लाभ को प्राप्त कर उससे और भी कोई बड़ा लाभ है, ऐसा वह योगी नहीं मानता, क्योंकि उसको ज्ञान है कि यह सुख निरतिशय है अर्थात् इससे श्रेष्ठ सुख और कोई नहीं है, यही सबसे भारी सुख है। फिर जिस सुख अनुभव करने योग्य और आत्मा में आसक्त मत वाली अवस्था में स्थित होकर वह योगी ठंड, गर्मी आदि बड़े दुःखों से भी वहाँ से विचलित नहीं किया जाता उसी को सिद्ध योग अवस्था कहते हैं अर्थात् इस अवस्था में स्थित योगी को बड़े-बड़े दुःख भी वहाँ से डिगा नहीं सकते ॥२२॥

जिस अवस्था विशेष के विषय में पीछे सामान्य रूप से कह आये है उसी को विशेष रूप से अब दिखाते हैं :—

जिस अवस्था में दुःख के स्पर्श मात्र से भी वियोग है अअर्थात् दुःख छू तक नहीं गया है उसी आत्मसिद्धि रूप चित्त की अवस्था विशेष को योग शब्द से वाच्य समझना चाहिये, अर्थात् उसी अवस्था

वियोगो यस्मिंस्तमात्मनिर्वृत्तिकं चित्तावस्थाविशेषं योगसञ्ज्ञितं योगशब्दवाच्यं विद्यात् जानीयात्। एवम्भूतो योगो मुमुक्षुणा दृढविश्वासेनानुष्ठेय इत्याह—स इति। स योगो निश्चयेन उक्तलक्षणेन विश्वासेन योक्तव्यः अभ्यासनीयः। तत्सिद्धौ विलम्बेसति। योगाभ्यासे सिद्धिसन्देहात्प्रयत्नशैथिल्यं निर्वेदस्तद्रहितेन चेतसा योक्तव्य इत्यर्थः।

सङ्कल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

पूर्वं योगयुक्तलक्षणे "निस्पृहः सर्वकामेभ्यः" इत्येन सर्वकामत्यागपूर्वकध्याननिष्ठा निर्दिष्टा। इदानीं योगविरोधिप्रधानभूतान् कामान् सहसा त्यक्तुमशक्यान् स्मृत्वा पुनस्तत्त्यागप्रयत्नमुपदिशति—सङ्कल्पेति द्वाभ्याम्। रूपादिमद्वस्तुनो दर्शनादिनाऽज्ञानेन सुखहेतुत्वकल्पनं सङ्कल्पः, ततः प्रभवन्ति ते सङ्कल्पप्रभवा ये कामा विषयाभिलाषा इदं मे भूयादिदं मे प्राप्नुयादित्येवमादिरूपास्तान्योगविरोधिनस्तद्याथात्म्यविचारजन्यदुःखहेतुत्वबुद्ध्या सवासनांस्त्यक्त्वा ततो विषयविमुखीभूतेन मनसैवेन्द्रियग्रामं रूपादिविषयाभिमुख्यस्वभावं चक्षुरादिकरणसमूहं समन्ततः सर्वेभ्यस्तत्तद्विषयेभ्यो विनियम्य प्रत्याहृत्य शनैरभ्यासक्रमेण नतु सहसा उपरमेत् निवृत्तो भवेत्। उपराममेव दर्शयति—बुध्येति। धृतिर्दुःखे

को योग कहते हैं। यहाँ दुःख शब्द से इन्द्रिजन्य सुखों का भी, जो दुःख के ही गढ़े हैं, और जिनमें वास्तविक सुख नहीं है बोध होता है।

ऐसे योग का अनुष्ठान मोक्षार्थियों को दृढ़ विश्वास के साथ करना चाहिये। योग की सिद्धि में विलम्ब होने से प्रयत्न में शिथिलता नहीं लानी चाहिए, अर्थात् योग के अभ्यास की सिद्धि में सन्देह होने से प्रयत्न की शिथिलता से रहित चित्त से योग का अभ्यास करना चाहिए ॥२३॥

योग युक्त पुरुष के लक्षण को दिखाते हुए पीछे कह आये हैं कि "निस्पृहः सर्वकामेभ्यः" अर्थात् ध्यान निष्ठा सब कामनाओं को छोड़ने से ही होती है। अब यह याद कर कि कामनाऐं, जो योग की प्रधान विरोधी हैं, झट से नहीं छूट सकतीं, उनके त्याग के लिये प्रयत्न करने का उपदेश दो श्लोकों से देते हैं।

अज्ञान से, रूप, रस, गन्धादि वाली वस्तुओं को, देखना, सूंघना इत्यादि कर्मों द्वारा सुख का कारण कल्पना करने को सङ्कल्प कहते हैं। सङ्कल्प से उत्पन्न सब कामनाओं को अर्थात् विषय की अभिलाषाओं को, चाहे इस लोक की हों वा परलोक की, जैसे कि 'हमको यह हो, हमको यह मिले' योग की विरोधी और यथार्थ में दुःख को ही उत्पन्न करने वाली समझ, उनको उनकी वासनाओं के साथ छोड़े। फिर उसके बाद विषय से विमुख हुए मन के द्वारा, रूपादि विषयों की ओर अभिमुख होने वाले आँख, कान आदि इन्द्रिय समूहों को सब तरफ से, अर्थात्, उनके अपने २ विषयों से, खींच कर,

प्राप्तेऽपि स्वनिष्ठायामनिर्वेदेन स्थितिस्तया गृहीता अवश्यकर्त्तव्यतायां दृढीकृता या बुद्धिः योगः कदाचित्प्राप्स्यत्येवेति व्यवसायरूपा तया आत्मसंस्थमात्मन्येव सम्यक् स्थितं निश्चलं मनः कृत्वा बाह्यं किञ्चिदपि न चिन्तयेत् ।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

नियुज्यमानं मनो यदि चलेत्तर्हि किं कर्त्तव्यमिति चेत्तत्राह—यत इति । यतो यतः शब्दादि-विषयाद्धेतोश्चञ्चलस्वभावतयाऽस्थिरं सत् मनो निश्चरति, यतो यतो यं यं विषयं प्रति निश्चरति निर्गच्छति, ततस्तत एतन्मनो नियम्य आत्मन्येव वशं नयेत् निरुन्ध्यात् ।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

एवं विषयेभ्यः प्रत्याहृत्यात्मनि वशीकृतमनसो यत्फलं स्यात्तदाह—प्रशान्तमनसमिति । पुनः पुनर्विरोधेन प्रशान्तमात्म(नि)निश्चलं मनो यस्य तम् । तत्र हेतुर्गर्भितविशेषणद्वयम्—शान्तरजसम् । शान्तं सर्वकामनामूलं रजो यस्य तत एवाकल्मषं निर्गतसमस्तपापमत एव ब्रह्मभूतं निर्दोषसमरूपमेनं योगिनमुत्तमं सुखमुपैति प्राप्नोति ।

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

धीरे-धीरे अभ्यास के रास्ते, निवृत्त हो जावे । अब निवृत्ति प्राप्ति को दिखाते हैं । दुःख प्राप्त होने पर भी अपनी निष्ठा में अनिर्वेद अर्थात् प्रयत्न की शिथिलता नहीं करने को धृति कहते हैं । ऐसी धृति से दृढ़की गई बुद्धि के द्वारा, अर्थात् यह विश्वास कर कि योग मुझे कभी न कभी मिलेगा ही और वह मेरा अवश्य कर्त्तव्य है आत्मा में मन को निश्चल कर, बाहर के विषयों के बारे में कभी नहीं सोचे ॥२४+२५॥

विषयों से रोक कर आत्मा में लगाया हुआ मन यदि इधर उधर भागे तो क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं :—

शब्दादि विषयों के कारण चञ्चल स्वभाव वाला मन स्थिर न होकर जिन-जिन विषयों के प्रति दौड़े, उन-उन विषयों से उसको खींच कर आत्मा ही की तरफ ले आवे ॥२६॥

विषय से मन को खींच उसको आत्मा के बश में करने के फल को अब कहते हैं :—

बार-बार निरोध करने से आत्मा में निश्चल मन वाला, इसी से शान्त रजोगुण वाला अर्थात् रजोगुण, जो सब अभिलाषाओं की जड़ है जिसमें शान्त हो गया है, इससे सब पापों से रहित और इसीलिये ब्रह्म के समान निर्दोष समरूप वाला योगी उत्तम सुख को प्राप्त करता है ॥२७॥

तदभ्यासवतो निरतिशयसुखमाह—युञ्जन्निति । एवमुक्तप्रकारेण सदाऽऽत्मानं युञ्जन्विगतकल्मषः विशेषेण गतं समस्तप्राचीनकल्मषं यस्य स तथा सन् योगी ब्रह्मसंस्पर्शं ब्रह्मानुभवरूपमत्यन्तं सुखं सुखेनानायासेन अश्नुते प्राप्नोति ।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

अथ सिद्धयोगस्य योगिनो योगविपाकदशाभेदेन चतुर्धा दर्शनमाह—सर्वभूतस्थमित्यादि चतुर्भिः श्लोकैः । योग आत्मयाथात्म्यविचारस्तस्मिन्युक्त आत्मा मनो यस्य सः । सर्वभूतस्थं सर्वेषु भूतेषु प्राणिषु स्थितमात्मानं सर्वाणि च भूतानि आत्मनि स्वस्वरूपे ईक्षते पश्यति । भूतेष्वात्मन आत्मनि च भूतानां दर्शनानुपपत्तिशङ्कावारणाय हेतुगर्भितविशेषणमाह—सर्वत्र समदर्शन इति । सर्वेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु परस्परं विषमेष्वपि भूतेषु वैषम्यकारिणीभूतप्रकृतिकार्यदेहादिभ्यो विविक्तं ज्ञानस्वरूपत्वेन ब्रह्मात्मकत्वेन च समं विशेषरहितं यदात्मनां स्वरूपं तद्विषयकं दर्शनं ज्ञानं यस्य सः, तथा च स्वात्मनोऽन्येषां च देहादिविलक्षणशुद्धस्वरूपस्य विशेषाभावादेकस्मिन्नात्मनि ज्ञाते सर्वस्य वस्तुनो ज्ञानं समत्वाद्भवे-देवेत्यर्थः । देहानामपि प्राकृतत्वाविशेषेण समत्वमविरुद्धम् । एवं च सर्वभूतेषु समत्वेन स्थितमात्मान-मात्मनि च स्थितानि सर्वाणि भूतानि पश्यतीति सूपपन्नम् ।

योग के अभ्यास करने वाले को निरतिशय सुख प्राप्त होता है । इसीको कहते हैं :—

इस प्रकार अपने को योग में लगाता हुआ और समस्त प्राचीन पापों से विशेष रूप से मुक्त हुआ योगी ब्रह्मानुभव रूप परम सुख को बिना प्रयास ही प्राप्त कर लेता है ॥२८॥

योग विपाक की दशा-भेद से सिद्ध योग योगी के चार प्रकार के देखने को चार श्लोकों से कहते हैं :—

योग अर्थात् आत्मा के याथात्म्य विचार में मन लगाने वाला योगी अपने आत्मा को सब जीवों में स्थित और सब भूतों को अपने आत्मा वा स्वरूप में स्थित देखता है ।

आत्मा में सब भूतों का और सब भूतों में आत्मा का दर्शन करना कैसे सम्भव हो सकता है ? इसी शंका को हटाने के लिये सहेतुक विशेषण कहते हैं :—

वह योगी सर्वत्र समदर्शी है अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक सब जीवों में, यद्यपि वे एक दूसरे से पृथक् हैं, तो भी यह समझ कर कि उनकी देहादि सम्बन्धी विषमता प्रकृति का कार्य रूप है, पर उनका आत्मा जो उस विषमता से परे हैं, ज्ञान स्वरूप और ब्रह्मात्मक होने से सबमें विशेषता रहित अर्थात् सम है, आत्मा के स्वरूप का दर्शन पाता है वा आत्मा को सब में देखता है । कहने का मतलब यह है कि अपने आत्मा और दूसरों के आत्मा को देहादि से विलक्षण, शुद्ध स्वरूप और विशेषता से रहित जानता है । इसलिये एक आत्मा का ज्ञान हो जाने से सब वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि आत्माएँ सब समान हैं । देहादि भी इस बात में विशेषता रहित समता रखते हैं कि वे

चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

उक्तं मनसश्चञ्चलत्वं सर्वजनप्रसिद्धमेवेति स्फुटयति चञ्चलमिति । चञ्चलं चपलस्वभावं मनः हि प्रसिद्धमेवैतत् । हे कृष्णेति सम्बोधनेन स्वभक्तपापकर्षकस्त्वं ममेदं प्राप्तं मनोनिग्रहरूपदुःखं निरासयेति सूचितम् । पुनः कीदृशं मनः प्रमाथि प्रमथनशीलं देहेन्द्रियाणां क्षोभकं, किञ्च बलवत् अभीष्ट-विषयाभिमुखं सत् ततो निवर्त्तयितुमशक्यम् । किञ्च दृढं विविधविषयवासनानुबद्धतया भेत्तुमशक्यम् । तथा च चञ्चलस्य प्रमाथिनो दृढतया बलवत्तरस्य मनसो निग्रहं दुष्करमहं मन्ये । यथाऽऽकाशे दोद्यू-यमानस्य प्रबलस्य वायोर्घटादिषु निरोधनमशक्यं तथा मनसोऽपीत्यर्थः ।

श्रीभगवानुवाच ।
असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

अथार्जुनवचनोक्तार्थाङ्गीकारपूर्वकं मनोनिग्रहोपायं श्रीभगवानुवाच—असंशयमिति । तत्र तावत्सामान्यजनेन यत्कर्त्तुमशक्यं तत् प्रयत्नवता पुरुषविशेषेण कर्त्तुं शक्यमित्यभिप्रायेण सम्बोधयति हे महाबाहो शत्रुनिग्रहणे महान्तौ बाहू यस्यैवम्भूतस्त्वं मनोरूपशत्रुनिग्रहे समर्थो भविष्यसीति भावः । हे कौन्तेय ! चञ्चलत्वादिना वायुवन्मनो दुर्निग्रहं दुःखेनापि गृहीतुमशक्यमिति यद्ब्रवीषि तदसंशयं

मन की चञ्चलता सब मनुष्यों को मालूम है इसीको कहते हैं :—

मन चञ्चल स्वभाव वाला है यह सब को ही विदित है, हे कृष्ण ! कृष्ण सम्बोधन करने का यहाँ यह भाव है कि आप अपने भक्तों के पाप एवं दुःखों को खींचनेवाले हैं मेरे इस मन के अनिग्रहरूप दुःख को भी हटाइये । फिर मन कैसा है ? प्रमाथी है अर्थात् देह और इन्द्रियों में क्षोभ उत्पन्न करने वाला है, बलवाला है अर्थात् इच्छित विषय की ओर जब झुकता है तब उसका रोकना दुष्कर है; और दृढ़ है, अर्थात् विविध विषय वासनाओं से बँधे हुए होने के कारण, तोड़ा नहीं जा सकता । इसलिए ऐसे मन का निग्रह अर्थात् रोकना वैसा ही दुःष्कर है जैसे आकाश में बहती हुई प्रबल वायु को घड़े आदि में भर कर रोक रखना ॥३४॥

भगवान् अर्जुन के ऊपर कहे हुए वचन को अङ्गीकार करते हुए मन के निग्रह करने के उपाय बताते हैं :—

हे बिशाल बाहु वाले अर्जुन ! (महाबाहो कहने का मतलब यह है कि जिस काम को साधारण मनुष्य नहीं कर सकता, उसको प्रयत्न करने वाला विशेष पुरुष कर सकता है और इसलिए तुम बड़े बाहु वाले होने से मनरूपी शत्रु को बश में करने में समर्थ होगे) चञ्चल, बलवान् दृढ़ इत्यादि होने के कारण मन, जैसा कि तुम कहते हो, वायु के समान कठिनता से बश आने वाला है; पर कायरता को छोड़ प्रयत्न के द्वारा उसको रोकना चाहिए । "तु" शब्द का मतलब यह है कि प्रयत्न में ढीलापन नहीं

प्रवृत्तस्तत्परिपाकलब्धात्मपरमात्मयाथात्म्यज्ञानेन नष्टसञ्चितक्रियमाणकर्मा प्रारब्धमात्रं भुञ्जान इदं विचारयति, पुण्यपापकार्ययोः सुखदुःखयोरुभयोरपि भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकत्वं सुखभोगे पुण्यक्षयो दुःखभोगे पापक्षयो भवति। तथा स्तुतिनिन्दयोर्हर्षविषादद्वारेण पुण्यपापक्षयहेतुत्वं, तस्मान्मे स्तुतिनिन्दाकारिणो जना न मित्रशत्रुभावेन विषमा भवन्त्यपि तु पुण्यपापरूपसंसारबन्धक्षयहेतुत्वेन सर्वेऽपि हितकारिणः यथा पादशृङ्खलयोः काञ्चनायसयोर्बन्धने विशेषाभावात्ततो मोचकः सर्वेऽपि समा एवेति पश्यति, अत एव सर्वत्रात्मतुल्यत्वेन यथा मम सुखं दुःखं पुण्यपापक्षयकरं तथा सर्वस्येति समं पश्यति।

अर्जुन उवाच।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन !।
एतस्याहं न श्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

उक्तस्य समत्वदर्शनलक्षणस्य योगस्यासम्भावितत्वं मन्वानोऽर्जुन उवाच—योऽयं सर्वत्र समदर्शनरूपः परमो योगः साम्येन वैषम्यहेतुरागद्वेषादिनिराकरणेन त्वया सर्वज्ञेन गुरुणोक्तः, हे मधुसूदन दुर्जनविनाशेन सद्धर्मस्थापक ! एमस्य त्वदुक्तस्य मनोनिरोधलक्षणस्य योगस्य स्थिरां स्थितिं दीर्घकालस्थायिनीं न पश्यामि, न सम्भावयामि। तत्र हेतुमाह चञ्चलत्वादिति मनस इति शेषः।

गुरु के समीप जाता है, और उनके उपदेश के अनुसार मोक्ष साधन क्रम से अपने अन्तःकरण को शुद्ध कर ध्यान योग में प्रवृत्त होता है। उस ध्यान योग के परिपाक वा पूर्णता से आत्मा और परमात्मा का याथात्म्य ज्ञान प्राप्त कर, और उसके द्वारा संचित और क्रियमाण कर्मों को नष्ट कर, और प्रारब्ध को भोगता हुआ ऐसा विचार करता है कि पुण्य और पाप कर्मों के फल, सुख और दुःख, दोनों ही भगवान् की प्राप्ति में रुकावट डालने वाले हैं, क्योंकि सुख भोग से पुण्य का क्षय और दुःख भोग से पाप का क्षय होता है; और ये स्तुति तथा निन्दा, हर्ष तथा विषाद के कारण बन कर, पुण्य और पाप दोनों के नाशक हैं, इसलिये मेरी स्तुति और निन्दा करने वाले लोग, मित्र और शत्रु भाव से भिन्न भिन्न नहीं है, बल्कि पुण्य और पाप रूप संसार के बन्धन के नाशक होने से दोनों समान रूप से हितकारी हैं। जैसे पैरों की बेड़ी काटने वाले चाहे वह बेड़ी सोने की हो वा लोहे की, समान रूप से बन्धन से छुड़ाने वाले होते हैं। इसलिए सब के आत्मा को समान समझने के कारण जैसे मेरे सुख दुःख मेरे पाप पुण्य के क्षय करने वाले हैं वैसे ही सबों के सुख दुःख उनके पाप पुण्य के नाशक हैं, ऐसा जो योगी समझता है वह परम श्रेष्ठ है ॥३२॥

समत्व दर्शन लक्षण वाले योग को असम्भव मानते हुए अर्जुन बोले—

विषमता के हेतु, राग द्वेष को हटाकर समता के द्वारा प्राप्त सर्वत्र समदर्शन रूप यह योग, जिसको आपने, जो सर्वज्ञ मेरे गुरु हैं, कहा, वह, हे मधुसूदन ! अर्थात् दुष्टों का नाशकर सद्धर्म के संस्थापक ! मन के चञ्चल होने के कारण, बहुत दीर्घकाल तक ठहरने वाला नहीं दीखता। अर्थात् वह योग बहुत देर तक नहीं ठहर सकता, क्योंकि मन बड़ा चञ्चल है ॥३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

उक्तं मनसश्चञ्चलत्वं सर्वजनप्रसिद्धमेवेति स्फुटयति चञ्चलमिति । चञ्चलं चपलस्वभावं मनः हि प्रसिद्धमेवैतत् । हे कृष्णेति सम्बोधनेन स्वभक्तपापकर्षकस्त्वं ममेदं प्राप्तं मनोनिग्रहरूपदुःखं निरासयेति सूचितम् । पुनः कीदृशं मनः प्रमाथि प्रमथनशीलं देहेन्द्रियाणां क्षोभकं, किञ्च बलवत् अभीष्ट-विषयाभिमुखं सत् ततो निवर्त्तयितुमशक्यम् । किञ्च दृढं विविधविषयवासनानुबद्धतया भेत्तुमशक्यम् । तथा च चञ्चलस्य प्रमाथिनो दृढतया बलवत्तरस्य मनसो निग्रहं दुष्करमहं मन्ये । यथाऽऽकाशे दोधूय-मानस्य प्रबलस्य वायोर्घटादिषु निरोधनमशक्यं तथा मनसोऽपीत्यर्थः ।

श्रीभगवानुवाच ।

असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

अथार्जुनवचनोक्तार्थाङ्गीकारपूर्वकं मनोनिग्रहोपायं श्रीभगवानुवाच—असंशयमिति । तत्र तावत्सामान्यजनेन यत्कर्त्तुमशक्यं तत् प्रयत्नवता पुरुषविशेषेण कर्त्तुं शक्यमित्यभिप्रायेण सम्बोधयति हे महाबाहो शत्रुनिग्रहणे महान्तौ बाहू यस्यैवम्भूतस्त्वं मनोरूपशत्रुनिग्रहे समर्थो भविष्यसीति भावः । हे कौन्तेय ! चञ्चलत्वादिना वायुवन्मनो दुर्निग्रहं दुःखेनापि गृहीतुमशक्यमिति यद्ब्रवीषि तदसंशयं

मन की चञ्चलता सब मनुष्यों को मालूम है इसीको कहते हैं :—

मन चञ्चल स्वभाव वाला है यह सब को ही विदित है, हे कृष्ण ! कृष्ण सम्बोधन करने का यहाँ यह भाव है कि आप अपने भक्तों के पाप एवं दुःखों को खींचनेवाले हैं मेरे इस मन के अनिग्रहरूप दुःख को भी हटाइये । फिर मन कैसा है ? प्रमाथी है अर्थात् देह और इन्द्रियों में क्षोभ उत्पन्न करने वाला है, बलवाला है अर्थात् इच्छित विषय की ओर जब झुकता है तब उसका रोकना दुष्कर है; और दृढ़ है, अर्थात् विविध विषय वासनाओं से बँधे हुए होने के कारण, तोड़ा नहीं जा सकता । इसलिए ऐसे मन का निग्रह अर्थात् रोकना वैसा ही दुःष्कर है जैसे आकाश में बहती हुई प्रबल वायु को घड़े आदि में भर कर रोक रखना ॥३४॥

भगवान् अर्जुन के ऊपर कहे हुए वचन को अङ्गीकार करते हुए मन के निग्रह करने के उपाय बताते हैं :—

हे बिशाल बाहु वाले अर्जुन ! (महाबाहो कहने का मतलब यह है कि जिस काम को साधारण मनुष्य नहीं कर सकता, उसको प्रयत्न करने वाला विशेष पुरुष कर सकता है और इसलिए तुम बड़े बाहु वाले होने से मनरूपी शत्रु को बश में करने में समर्थ होगे) चञ्चल, बलवान् दृढ़ इत्यादि होने के कारण मन, जैसा कि तुम कहते हो, वायु के समान कठिनता से बश आने वाला है; पर कायरता को छोड़ प्रयत्न के द्वारा उसको रोकना चाहिए । "तु" शब्द का मतलब यह है कि प्रयत्न में ढीलापन नहीं

संशयमशेषतस्त्वं छेत्तुमपनेतुमर्हसि। यतस्त्वदन्यः त्वत्तः परमेश्वरात्सर्वज्ञात्परमसुहृदोऽन्यः कश्चिदपि ऋषिर्वा देवो वाऽस्य संशयस्य छेत्ता सम्यगुत्तरदानेन नाशयिता न ह्युपपद्यते, न सम्भवति। जीवत्वेनासर्वज्ञत्वादिति भावः।

श्रीभगवानुवाच।

पार्थ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात! गच्छति॥४०॥

एवमर्जुनस्य संशयनिरासाय प्रश्नस्योत्तरं श्रीभगवानुवाच—पार्थेत्यादिभिः। हे पार्थ! तस्य त्वदुक्तस्य त्यक्तस्वर्गादिसाधनकर्मणो यथाशक्त्याऽनभिसंहितफलकर्मानुष्ठातुर्योगे प्रवृत्तस्याभ्यासवैराग्यशैथिल्याद्योगाद्भ्रष्टस्य मुमुक्षोरिह लोकेऽमुत्र परलोके वा विनाशो नैव विद्यते, सकामेतरजनवद्दुर्गतिर्न सम्भवति। यथा सकामस्य देवाद्याराधने प्रवृत्तस्य तत्कर्मफलमनवाप्यादावेव कर्मणो भ्रष्टस्येह लोकेऽपकीर्त्तिर्भोगानवाप्तेर्विनाशः। मृतस्य च परत्र पश्वादियोनिप्राप्तिरूपा दुर्गतिर्भवति, न तथाऽस्य योगिन इत्यर्थः। एतत्कुतस्तत्राह—न हीति हि यस्मात्कल्याणकृत् शुभाचरणः कश्चिदपि दुर्गतिमुक्तरूपां लोकद्वयहानिं न गच्छति। अयं तु शास्त्रविहितशुभकारी सर्वोत्कृष्टो न गच्छति। अयं तु शास्त्रविहितशुभकारी सर्वोत्कृष्टो न गच्छतीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः। तनोत्यात्मानमिति तत् स एव तातः पिता तद्रूपत्वात्पुत्रोऽपि तात उच्यते शिष्यस्य पुत्रस्थानीयत्वाभिप्रायेण तातेति सम्बोधनं कृपाविशेषद्योतनाय।

हे कृष्ण! अर्थात् भक्तों के पाप के नाशक। यही मेरा सन्देह है। इसको पूर्ण रीति से हटाने के आप योग्य हैं, क्योंकि आपको छोड़ इस संशय को दूर करने वाला दूसरा हो ही नहीं सकता, कारण कि आप परमेश्वर, सर्वज्ञ और परम सुहृत हैं। ऋषि, देवता आदि अन्य हमारे संशय को दूर नहीं कर सकते क्योंकि जीव होने के कारण वे सर्वज्ञ नहीं है॥३९॥

अर्जुन के संशय को हटाने के लिये भगवान् उनके प्रश्न का उत्तर देते हैं:—

हे पार्थ! उस मुमुक्षु पुरुष का, जिसके बारे में तुमने कहा है, और स्वर्गादि के साधन कर्मों को छोड़ यथा शक्ति निष्काम कर्मों का, अनुष्ठान करता है और योग में प्रवृत्त हो अभ्यास और वैराग्य की शिथिलता के कारण योग से भ्रष्ट हो जाता है, उस योगी का इस लोक में वा परलोक में विनाश नहीं होता। कामनावाले इतर पुरुषों की ऐसी उसकी दुर्गति संभव नहीं है। मतलब कि जैसे कामनायुक्त पुरुष, देवादि की आराधना में प्रवृत्त हो, उस कर्म के फल को नहीं पाने से कर्म भ्रष्ट होते हैं, और इस संसार में उनकी अपकीर्ति होती है, और कर्म फल भोग नहीं पाना उनका विनाश समझा जाता है तथा मरने पर भी ऐसे पुरुष पशु आदि योनि प्राप्ति रूप दुर्गति भोगते हैं, वैसी दुर्गति इस योगी की नहीं होती जिस योगी के बारे में तुम पूछ रहे हो। इसका कारण यह है कि शुभ आचरण करने वाले किसी भी पुरुष की ऊपर कही हुई दुर्गति रूप दोनों लोक की हानि नहीं होती। और यह योगी तो सबसे उत्कृष्ट है क्योंकि शास्त्र विहित शुभ कर्मों का कर्त्ता है इसलिए इस के दोनों लोक की हानि नहीं होगी, इसमें

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

यदि योगभ्रष्टो मृतो दुर्गतिं न गच्छति तर्हि कां गतिं गच्छतीत्यपेक्षायामाह—प्राप्येति । श्रद्धया योगे प्रवृत्तः केन चिददृष्टेन यादृशभोगाकाङ्क्षया योगाद्भ्रष्टो मृतो योगी सोऽल्पकालाभ्यस्तस्यापि योगस्य प्रभावात्पुण्यकृतामतिपुण्यकारिणां लोकान्प्राप्य तत्र तद्योग्यान्कल्याणतमान्भोगान्यथेष्टं भोक्तुं शाश्वतीः समाः बहून्सम्वत्सरानुषित्वा वासं कृत्वा तत्सुखभोगे तृप्तस्ततः शुचीनां सदाचारयुक्तानां श्रीमतां धनाढ्यानां गेहे जन्म प्राप्नोति ।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

इयमुत्तमभोगाकाङ्क्षया योगभ्रष्टस्य गतिरुक्ता । इदानीं भोगानपेक्षकस्य बह्वभ्यस्तयोगस्य कथञ्चिद्भ्रंशे ततोऽप्यतिश्रेष्ठं जन्म भवतीति पक्षान्तरमाह—अथवेति । शास्त्रज्ञानदार्ढ्येन विषयभोग-वासनाशून्यो ज्ञानवैराग्यादिगुणाढ्यः कथञ्चिद्योगाभ्यासाच्चलितश्चेद्भोगवासनाविरहात्पुण्यकृतां लोकान् प्राप्य योगिनां योगाभ्यासवतामेव प्रमादकारणधनहीनानामेव शुचीनां धीमतां ज्ञानिनां ब्राह्मणानां कुले भवति जायते । नतु श्रीमतां कर्मिणां ब्राह्मणानां राज्ञां वा कुले, यद्यपि शुचीनां श्रीमतां राज्ञां ब्राह्मणानां

पूछना क्या है ? तात पिता को कहते हैं । पिता रूप होने से पुत्र भी तात कहलाता है । शिष्य पुत्र स्थानीय है इसलिये अर्जुन पर कृपा विशेष दिखाने के लिये उसको यहाँ भगवान् ने 'तात' कह कर संबोधन किया है ॥४०॥

यदि योग भ्रष्ट पुरुष की मरने के बाद दुर्गति नहीं होती तो उसकी कौन सी गति होती है ? इसी का उत्तर देते हैं :—

श्रद्धायुक्त हो योग में प्रवृत्त, किसी अदृष्ट के फेर से भोग की अभिलाषा होने से उस योग से भ्रष्ट हुआ पुरुष मरने के बाद थोड़े ही समय तक के अभ्यास से किये हुए योग के प्रभाव से भी पुण्य करने वालों के लोक को प्राप्त करता है और अपने योग्य कल्याणतम भोगों को भोगने के लिए वहाँ बहुत वर्षों तक निवास कर और वहाँ के सुख भोग से तृप्त होने बाद सदाचार युक्त धनाढ्यों के घर में जन्म लेता है ॥४१॥

ऊपर के श्लोक में उत्तम भोग की आकांक्षा से भ्रष्ट हुए योगी की गति कही गयी । अब यह कहते हैं कि जो मनुष्य भोगों की नहीं इच्छा करता हुआ भी और योग का बहुत अभ्यास करके भी योग से थोड़ा भ्रष्ट हो जाता है तो उसको और भी श्रेष्ठ जन्म मिलता है ।

शास्त्र के ज्ञान की दृढ़ता से विषय भोग में वासना शून्य और ज्ञान, वैराग्य आदि गुणों से युक्त पुरुष, यदि योग के अभ्यास से कुछ विचलित हो जाय तो भोग की वासना से रहित होने के कारण पुण्य करने वालों के लोक को प्राप्त कर, वह धन से हीन, योगाभ्यासी और ज्ञानी, पवित्र ब्राह्मण के

वा कुलेऽपि जन्म दुर्लभं बहुसुकृतसाध्यत्वाज्ज्ञानमार्गाविरोधित्वाच्च, तथाऽपि सात्त्विकानां धनहीनानां ज्ञानिनां योगाभ्यासवतां ब्राह्मणानां कुले यज्जन्म एतद्धि लोके दुर्लभतरमतिशयेन दुष्प्रापं, सर्वप्रमाद-कारणशून्यत्वेन मोक्षान्तरङ्गत्वात् ।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।।४३।।

उक्तस्य जन्मद्वयस्य दुर्लभत्वं यतस्तद्दर्शयति—तत्रेति । तत्र द्विविधेऽपि जन्मनि पूर्वदेहे भवं पौर्वदैहिकं सुप्तप्रबुद्धवत्तमेवात्मपरमात्मध्यानविषयकबुद्धिसंयोगं लभते । ततस्तल्लाभानन्तरं भूयोऽधिक-संसिद्धौ यतते । यथा पुनरन्तरायहतो न भवति, तथा यत्नं कुरुते ।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ।।४४।।

ननु योगिनां कुले जातस्य भोगव्यवधानाभावाद्भवतु सुप्तप्रबुद्धवत् झटिति योगे प्रवृत्तिः । श्रीमतां गृहे जातस्य तु बहुभोगजन्यप्रमादसम्भवात्कथं पौर्वदैहिकबुद्धियोगलाभेन योगे प्रवृत्तिरिति चेत्तत्राह—पूर्वाभ्यासेनेति । पूर्वजन्मनि कृतोऽभ्यासः पूर्वाभ्यासस्तज्जन्यसंस्कारेण स योगभ्रष्टोऽवशोऽपि बहुकाल-भोगान्तरायात्स्वयमनिच्छन्नपि ह्रियते, बलात्कारेण स्ववशीक्रियते । भोगवासनाया निवर्त्य योग एव

कुल में जन्म लेता है; धन से युक्त, कर्म योग में प्रवृत्त, ब्राह्मणों और राजाओं के कुल में नहीं । यद्यपि पवित्र धनिक राजाओं वा ब्राह्मणों के कुल में जन्म लेना भी दुर्लभ ही है, क्योंकि ऐसा जन्म बड़े पुण्य के फल से ही होता है जो ज्ञान मार्ग का विरोधी नहीं है, तथापि सात्त्विक, धन हीन, योगाभ्यासी और ज्ञानी ब्राह्मणों के कुल में जन्म लेना इस संसार में बड़ा ही दुष्प्राप्य है कारण कि ऐसे कुल में प्रमाद के कारण विद्यमान नहीं रहते हैं, इस लिए ऐसे कुल में जन्म मोक्ष का अन्तरङ्ग अर्थात् समीपी होता है ।।४२।।

दोनों प्रकार के जन्म दुर्लभ क्यों हैं उसको कहते हैं :—

दोनों प्रकार के जन्म लेने पर, पूर्व देह में स्थित, आत्म परमात्म ध्यान विषयक बुद्धि को, सोकर जगे हुए की भाँति, वह प्राप्त करता है । फिर वह उससे अधिक सिद्धि वा प्राप्ति के लिये यत्न करता है । जिसमें फिर कोई अन्तराय वा बखेड़ा न खड़ा हो, ऐसा उपाय वह करता है ।।४३।।

मान लिया कि जिसका योगियों के कुल में जन्म हुआ है वह योग के बाधक रूप भोगों के नहीं रहने के कारण, झट से सोकर जगे हुये की भाँति योग में प्रवृत्त हो जाता है; पर जिनका जन्म धनवानों के कुल में होता है, उन को तो बहुत भोग से उत्पन्न प्रमाद होना संभव है, वे कैसे पूर्व देह में स्थित बुद्धि योग की प्राप्ति के द्वारा योग में प्रवृत्त हो सकते हैं ? इस शंका का उत्तर भगवान् यहाँ देते हैं ।

पूर्व जन्म में किये गये अभ्यास के संस्कार से योग भ्रष्ट पुरुष बहुत काल तक भोगरूपी रुकावट पड़ने से योग की इच्छा न करता हुआ भी उसकी ओर बलात्कार खींचा जाता है, अर्थात् भोग वासना

प्रवर्त्तते । अतो योगस्य जिज्ञासुरपि योगस्वरूपं ज्ञातुमिच्छुरपि नतु प्राप्तयोगः, तथाभूतोऽपि प्राग्जन्मार्जितयोगस्योद्बुद्धज्ञानसंस्कारादिह जन्मनि शब्दब्रह्मातिवर्त्तते, कर्मप्रतिपादकवेदपूर्वभागमतिवर्त्तते वेदोक्तकर्मफलमतिक्रम्य वर्त्तते । कर्माधिकारमुपेक्ष्य ज्ञानाधिकार एव निष्ठां करोतीत्यर्थः ।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

किं तर्हि कर्मप्रतिपादकवेदातिवर्त्तनात्तस्मिन्नेव जन्मनि सिद्धयोगो भूत्वा मुच्यते जन्मान्तरे वेत्यपेक्षायामाह—प्रयत्नादिति । पूर्वमभ्यासवैराग्यशैथिल्याद्योगभ्रंशात्पुनर्जन्मजातमिदानीं पुनर्जन्म यथा न स्यात्तथा यतितव्यमिति व्यवसायं कृत्वा प्रयत्नात्पूर्वकृतयत्नादपि प्रकर्षेणाधिकं यतमानोऽतिप्रयत्नं कुर्वन् योगी पूर्वाभ्यस्तयोगसंस्कारवान् तेनैव योगे प्रयत्नविशेषजन्यपावनत्वेन संशुद्धकिल्बिषः सम्यक् शुद्धानि धौतानि किल्बिषाणि योगप्रतिबन्धकान्यनेकजन्ममलानि यस्य सः, अत एवानेकैर्जन्मभिः कृतयोगाभ्यासाच्चरमजन्मनि संसिद्धः सम्यक् सिद्धध्यानसम्पन्नः, ततस्तदनन्तरमेव परां गतिं मुक्तिरूपामुत्कृष्टां गतिं फलं याति, प्राप्नोति ।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥४६॥

अतः सर्वसाधनेभ्यो योग एवाधिकतरः श्रेयोऽर्थिनोपादेय इत्याह—तपस्विभ्य इति । तपस्विभ्यः

से निवृत्त हो योग में प्रवृत्त हो जाता है। इसलिये योग के स्वरूप के जानने की इच्छा करने वाला भी पूर्व जन्म में अर्जित योग के जगे हुये ज्ञान के संस्कार से इस जन्म में शब्द ब्रह्म से, अर्थात् कर्म के प्रतिपादक वेद के पूर्व भाग से अलग हो जाता है, अर्थात् वेद से कहे गये कर्म के फलों को त्याग देता है। कहने का मतलब कि कर्माधिकार की उपेक्षा कर ज्ञानाधिकार में निष्ठा करता है ॥४४॥

ऐसा योगी कर्म प्रतिपादक वेद के पूर्व भाग को पार कर उसी जन्म में योग की सिद्धि प्राप्त कर मुक्त हो जाता है वा दूसरे जन्म में ? इसी प्रश्न की अपेक्षा में भगवान् कहते हैं।

यह योगी पूर्व में अभ्यास और वैराग्य की शिथिलता से योग भ्रष्ट हुआ और उसको फिर जन्म लेना पड़ा। अब फिर जिसमें जन्म लेना न पड़े वैसा उद्योग करना चाहिये, ऐसा दृढ़ निश्चय कर पूर्व में किये हुये यत्न से भी बहुत अधिक यत्न करता हुआ यह योगी, पूर्व में अभ्यस्त योग के संस्कार के कारण प्रयत्न विशेष करने से, अनेक जन्मों के योग के प्रतिबन्धक मलों से रहित हो जाता है और इसलिए अनेक जन्मों के योगाभ्यास के बाद आखिरी जन्म में पूर्ण रूप से ध्यान की सिद्धि लाभ कर, मुक्ति रूप श्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है ॥४५॥

कल्याण के चाहने वालों के लिये सबसे अधिक उपयोगी योग ही है, इसीको कहते हैं।

कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप एव पुरुषार्थसाधनं विद्यते येषां ते तथा तेभ्यो योगी अधिकः श्रेष्ठः, ज्ञानं शास्त्रजन्यं परोक्षं तद्वद्भ्योऽपि योगी अधिको मतः। कर्मिभ्यः अग्निहोत्रादिकर्मवद्भ्यश्च योगी अधिको मतस्तस्मात्त्वं योगी भव हे अर्जुन !।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

तपस्व्यादिभ्यो योगिनः श्रैष्ठ्यमुक्त्वेदानीं सर्वयोग्युत्कृष्टं योगिनं वदन्नध्यायमुपसंहरति—योगिनामिति। तपस्विकर्मादिभ्यो योगी श्रेष्ठः, योगिनामपि आत्मसमाधिपराणां हिरण्यगर्भरुद्रेन्द्रादित्याद्याराधनलक्षणयोगवतां च सर्वेषामपि मध्ये जन्मान्तरसहस्रार्जितपुण्यसञ्चयलब्धसदाचार्योपदेशजनितसर्वज्ञसर्वशक्तिसर्वकारणसर्वकर्मफलप्रदात्रीश्वरपरमात्मपुरुषोत्तमादिशब्दाभिधेयमदितरदेवफलसाधनादिष्वतिफलगुबुद्धिपूर्वकानन्यत्वभावनया मयि परमानन्दघने भगवति वासुदेवे निरतिशयप्रीतिवशाद्गतेन निविष्टेनान्तरात्मना चित्तेन श्रद्धावान् गुरुशास्त्रोक्तः सर्वाभीष्टप्रदोऽयमेवेति सर्वात्मना मया भजनीय इति विश्वासवान् यो मामीश्वरेश्वरं ज्ञानबलशक्त्यादिवात्सल्यकारुण्यदयाद्यनन्तकल्याणगुणाब्धिं सर्वशरण्यं प्रणतार्त्तिहरं स्वभक्तकामपूर्त्यर्थमेव यदुकुलेऽवतीर्णं वसुदेवसूनुं भजते, अर्चनवन्दनध्यानादिना सततं सेवते स मे युक्ततमः, सर्वेभ्यो युक्तेभ्यः समाहितचित्तेभ्यो युक्ततमोऽत्यर्थं समाहितचित्तः श्रेष्ठतमः मे मम परमेश्वरस्य सर्वज्ञस्य मतः निश्चितः। अतस्त्वमपि मदनन्यभक्तो भवेति भावः।

कृच्छ्र चान्द्रायण आदि तपरूपी पुरुषार्थ के साधन करने वाले तपस्वियों से यह योगी श्रेष्ठ है। शास्त्र जन्य परोक्ष ज्ञान वालों से भी यह योगी श्रेष्ठ माना जाता है। अग्निहोत्र आदि कर्म को करने वालों से भी यह योगी श्रेष्ठ है। इसलिये हे अर्जुन ! तुम भी ऐसे ध्यान सम्पन्न योगी होओ ॥४६॥

तपस्वी आदि से योगी श्रेष्ठ है, ऐसा कह अब सब योगियों में उत्कृष्ट योगी का वर्णन करते हुये अध्याय को समाप्त करते है।

तपस्वी और कर्मी आदि से योगी श्रेष्ठ है। आत्म समाधि में निरत योगी हिरण्यगर्भ, अर्थात् ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य आदि की पूजा रूप लक्षण योग वाले योगी से श्रेष्ठ है, और सब प्रकार के समाहित चित्त वाले योगियों से वह योगी श्रेष्ठ है जो सहस्रों जन्म के अर्जित पुण्य संचय के प्रताप से प्राप्त, सद्गुरु के उपदेश से उत्पन्न, सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान, सर्व कर्मफल के देने वाले, ईश्वर, परमात्मा, पुरुषोत्तम आदि नामों से पुकारे जाने वाले, परमानन्दघन मुझ वासुदेव में, मेरे अतिरिक्त और देवताओं के फल साधन में तुच्छ बुद्धि पूर्वक, अनन्त भावना से निरतिशय प्रीति के कारण अपने चित्त को निवेशित करके, गुरु तथा शास्त्र के बचन से भगवान् ही सब अभीष्ट के देने वाले हैं और वे ही सेवनीय हैं, ऐसा विश्वास करता हुआ, मुझ वासुदेव को, जो ईश्वरों का ईश्वर हूँ, ज्ञान, बल, शक्ति आदि, वात्सल्य, कारुण्य, दया आदि, अनन्त कल्याण गुणों का समुद्र हूँ, सबका शरण्य हूँ, प्रणत पुरुष के दुःख का हरने वाला हूँ और अपने भक्तों की कामना की पूर्ति ही के लिये यदुकुल में अवतार लिये

तदेवं भगवत्प्राप्त्यन्तरङ्गोपायभगवदनन्यभक्तस्वरूपयुक्ततमत्वलाभाय त्वम्पदार्थभूतप्रकृतिवियुक्तात्म-स्वरूपज्ञानं तदङ्गभूतनिष्कामकर्मप्रकारभेदवैराग्येन्द्रियमनोनिग्रहपूर्वकध्यानयोगाभ्यासोपदेशेनाध्याय-षट्कं समापितम् ।

कर्मोपशमवैराग्यपूर्वकं योगमुक्तवान् ।
अध्याये भगवानस्मिन्परमागतिसाधनम् ॥१॥
त्वम्पदार्थो भगवता साधनक्रमयोगतः ।
अस्मिन्नध्यायषट्के वै भक्तोत्कर्षश्च वर्णितः ॥२॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्विजयि श्रीकेशव-
काश्मीरिभट्टाचार्यविरचितायां षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

॥ इति प्रथमषट्कम् ॥

हुआ हूँ, भजता है, अर्थात् अर्चन, बन्दन, ध्यान आदि से मेरी ही सेवा करता है। इसलिये तुम भी मेरा अनन्य भक्त होवो ॥४७॥

इस प्रकार भगवत्प्राप्ति के अन्तरङ्ग उपाय, भगवान् में अनन्य भक्तिरूप पूरी योग्यता प्राप्त करने के लिये, त्वं पदार्थभूत, प्रकृति से पृथक्, आत्म स्वरूप का ज्ञान, और अंगभूत नाना प्रकार के निष्काम कर्म, वैराग्य, इन्द्रिय, मन निग्रह पूर्वक ध्यान योग के अभ्यास के उपदेश पूर्वक पहला षट्क छः अध्याय समाप्त हुए।

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

※ श्रीमते निम्बार्काय नमः ※

श्रीमद्भगवद्गीता

सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

मय्यासक्तमनाः पार्थ ! योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

सर्वेश्वरं हरिं कृष्णं भक्तिगम्यं परात्परम् ।
वन्दे भक्तिप्रदं नित्यं मायाध्वान्तनिवारकम् ॥१॥

तदेवं मुमुक्षूणां भगवद्भावापत्तिलक्षणं परमपुरुषार्थं तत्प्राप्त्युपायभूतं तदनन्यभक्तियोगं च वक्तुं तत्साधनभूतं प्राप्तुः प्रत्यगात्मनस्त्वम्पदार्थस्य ज्ञानं निष्कामकर्मोपशमवैराग्ययोगादिसाधनैः प्रथमेनाध्यायषट्केन निरूपितम् । इदानीं भगवद्भक्तियोगं भजनीयं गुणशक्त्यैश्वर्यादिविशिष्टं तत्पदार्थं परब्रह्मभूतवासुदेवस्वरूपं च भक्तभेदांश्च तत्प्रतियोग्यभक्तभेदांश्च निरूपयितुं मध्यमषट्कमारभ्यते । तत्रापि भजनीयस्वरूपं भक्तांश्च निरूपयितुं सप्तमाध्यायारम्भः । तत्र तावत्पूर्वाध्यायान्ते "योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मत" इत्युक्तम्, तत्र कीदृशं ते स्वरूपं कथं च भक्तस्त्वां ज्ञात्वा त्वद्गतान्तरात्मा भूत्वा त्वां भजेदिति प्रष्टव्यं. तदर्जुनेनापृष्टमपि स्वयमेव कृपया

मोक्षार्थियों के भगवद्भावापत्तिलक्षण परम पुरुषार्थ वा मोक्ष और उसकी प्राप्ति के उपायभूत अनन्य भक्ति योग के विषय में कहने के लिये प्रथम षटक् में भगवान् ने अनन्य भक्ति योग के साधनभूत प्रत्यगात्मा अर्थात् त्वं पदार्थ के ज्ञान को, निष्काम कर्म, निवृत्ति, वैराग्य योगादि साधनों से निरूपित किया । अब इस बीच के षटक् में भगवद्भक्ति योग, गुण शक्ति ऐश्वर्य्यादिकों से युक्त, तत् पदार्थ, परब्रह्मभूत, भजनीय वासुदेव के स्वरूप को और भक्तों और अभक्तों के भेद को कहेंगे । इस सातवें अध्याय में भजनीय भगवान् का और भक्तों का निरूपण करते हैं ।

पीछे के अध्याय में भगवान् ने यह कहा :—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

अब अर्जुन यहाँ पूछ सकते हैं कि—आपका स्वरूप कैसा है ? आप को जान कर और आप में

निरूपयितुं श्रीभगवानुवाच :—मय्यासक्तमना इति । मयि दोषगन्धास्पृष्टमहिम्नि अनन्तकल्याणगुण-शक्त्यैश्वर्याश्रये भगवति वासुदेवे आसक्तं दृढं निबद्धं मनो येन स मय्यासक्तमनाः, पार्थेति सम्बोधनेन पृथाया मद्भक्तायाः पितृस्वसुः पुत्रस्त्वं मेऽनुग्राह्योऽसीति सूचितं, योगं युञ्जन्मनः समाधानं कुर्वन् मदाश्रयः अहमेवेश्वरेश्वर आश्रयो न तु देवमनुष्याद्यन्यः कश्चित्कस्मैचिदर्थाय समाश्रयणीयो यस्य स त्वमेवम्भूतः सन्नसंशयं निःसंशयं यथा स्यात्तथा समग्रं समस्तविभूतिबलशक्त्यैश्वर्यादिसहितं मां यथा ज्ञास्यसि, येन ज्ञानेन ज्ञास्यसि तज्ज्ञानं मयोच्यमानं शृणु ।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

तदेव ज्ञानं श्रोतारमभिमुखीकरणाय स्तौति—ज्ञानमिति । इदं ज्ञानं शास्त्रीयं सविज्ञानं विज्ञानं स्वानुभवस्तत्सहितमशेषतस्ते तुभ्यमहं वक्ष्यामि । न हीदं साकाङ्क्षमित्याह—यज्ज्ञानं ज्ञात्वा इह श्रेयोमार्गे स्थितस्य मुमुक्षोर्ज्ञातव्यं नावशिष्यते, ज्ञातव्यान्तरनिरपेक्षमित्यर्थः ।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

वक्ष्यमाणं ज्ञानमतिदुर्लभमित्याह—मनुष्याणामिति । मनुष्याः शास्त्रीयाधिकारयोग्यास्तेषां सहस्रेषु कश्चिदेकः सिद्धये आत्मतत्त्वज्ञानाय यतते । यततां यतमानानां सहस्रेषु कश्चिदात्मानं यथा-

---

ही अपने अन्तरात्मा को निवेशित कर भक्त किस प्रकार आपका भजन करे ? पर बिना अर्जुन के पूछे ही भगवान् कृपा कर इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं :—

हे पार्थ, (अर्जुन को यहाँ पार्थ सम्बोधन कर भगवान् ने यह सूचित किया कि मेरे पिता की बहिन पृथा के तुम लड़के हो, और दोष के गन्ध मात्र से रहित, महिमा युक्त और अनन्त कल्याण गुण, शक्ति और ऐश्वर्य के आश्रय युक्त मुझ वासुदेव भगवान् में दृढ़ रूप से मन लगाने वाले हो) इसलिये मेरा अनुग्रह तुम पर होना उचित है। तुम अपने मन को समाधान करते हुए और मुझको ही अपना आश्रय समझ कर अर्थात् यह जान कर कि ईश्वरों के ईश्वर भगवान् ही मेरे आश्रय हैं और इनसे अन्य कोई देवता मनुष्य आदि किसी भी प्रयोजन के लिये मुझे आश्रयणीय नहीं है, ऐसे मुझ को, निःसंशय और समस्त विभूति, बल, शक्ति, ऐश्वर्य आदि के साथ जिस ज्ञान से जानोगे, उसको सुनो। अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा मेरे स्वरूपादि का ज्ञान प्राप्त करोगे वह मैं कहता हूँ, तुम सुनो ॥१॥

अर्जुन को इस ज्ञान की ओर अभिमुख करने के लिये उस (ज्ञान) की प्रशंसा करते हैं :—

इस समग्र शास्त्रीय ज्ञान को, विज्ञान, अर्थात् अपने अनुभव के साथ मैं तुमसे कहूँगा। जिस ज्ञान को जान कर श्रेय मार्ग में स्थित मोक्षार्थी को और कुछ जानना बाकी नहीं रह जाता, अर्थात् इस ज्ञान को जान कर और किसी जानने योग्य बात की उपेक्षा नहीं रह जाती ॥२॥

अब यह कहते हैं कि जो ज्ञान हम कहेंगे वह बड़ा दुर्लभ है। शास्त्रीय अधिकार के योग्य

वद्वेत्ति। तादृशानां ज्ञानसिद्धानामपि सहस्रेषु कश्चिन्मां परमात्मानं वेत्ति। मद्विदामपि सहस्रेषु कश्चिदेव मां तत्त्वतः यथाऽवस्थितस्वरूपं वेत्ति। पराभक्तिं विना तत्त्वतो ज्ञानासम्भवात्। "भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः" इति वक्ष्यमाणत्वात्।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

समग्रं मां यथा ज्ञास्यसीति पूर्वमुक्तं, तदेव वक्तुं तावत्प्रकृतिशब्दवाच्यपरापरशक्तिद्वयस्वरूपमाह—भूमिरिति द्वाभ्याम्। भूम्यादिपञ्चशब्दैस्तत्कारणभूतानि गन्धादिपञ्चतन्मात्राणि। गृह्यन्ते, न स्थूलभूतानि। तेषां विकारत्वेन प्रकृतित्वाभावात्। मनःशब्देन तत्कारणभूताहङ्कारो गृह्यते। बुद्धिशब्देन समष्टिबुद्धिर्महत्तत्त्वं गृह्यते। अहङ्कारशब्देन तत्कारणं माया। इत्येवमष्टधा भिन्नेयमाकाशादिपञ्चमहाभूतदशेन्द्रियमन इति षोडशविकारादिचराचरस्य जगतः प्रकृतिरुपादानभूता मे मदीया शक्तिरिति विद्धि।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्य्यते जगत् ॥५॥

सहस्रों मनुष्यों में कोई एक सिद्धि अर्थात् आत्म तत्त्व ज्ञान के लिये यत्न करता है। ऐसे सहस्रों यत्न करने वालों में किसी एक को आत्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। ऐसे सहस्रों ज्ञान सिद्ध अर्थात् आत्म तत्त्व को यथार्थ जानने वाले मनुष्यों में से कोई एक मुझ परमात्मा को जानता है। मुझको जानने वाले सहस्रों में से कोई एक मेरे यथार्थ स्वरूप को जानता है। कारण कि बिना मेरी पराभक्ति के मेरा यथार्थ ज्ञान हो ही नहीं सकता, अर्थात् वास्तव में मैं जैसा हूँ वैसे मेरे स्वरूप को भक्ति से ही जान सकता है। जैसा कि भगवान् आगे कहेंगे। यथा :—

"भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।" ॥३॥

पूर्व में मैंने यह कहा कि जिस प्रकार तुम मुझको सम्पूर्ण रूप से जानोगे, वह मैं तुमसे कहूँगा। अब उसी को कहने के अभिप्राय से प्रकृति शब्द से वाच्य, परा और अपरा नाम की अपनी दो शक्तियों के स्वरूप को दो श्लोकों से पहिले कहता हूँ।

भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश से उनके कारणभूत गन्धादि पाँच तन्मात्राओं को ग्रहण करना चाहिए, स्थूलाकार भूमि जल आदि को नहीं, क्योंकि ये तन्मात्राओं के विकार होने से प्रकृति नहीं कहे जा सकते, अर्थात् इन स्थूल रूप जल आदि में प्रकृतित्व का अभाव है। मन शब्द का यहाँ अर्थ है मन का कारण भूत अहङ्कार। बुद्धि शब्द से समष्टि बुद्धि, जो महत्तत्त्व है, उसको ग्रहण करना चाहिये और अङ्कार शब्द का अर्थ है माया, जो अहङ्कार का कारण है। इस भाँति मेरी प्रकृति आठ प्रकार से विभाजित है। अर्थात् आकाशादि पञ्च महाभूत, दस इन्द्रियाँ और सोलहवाँ मन, इन विकारों से युक्त, चर और अचर जगत की उपादानभूत, प्रकृति मेरी शक्ति है, ऐसा तुम जानो ॥४॥

अष्टधा या प्रोक्ता प्रकृतिः सेयमपराः निकृष्टा जगत्वात्परार्थत्वाच्च। इतस्त्वचेतनभूतायाः प्रकृतेरन्यां विलक्षणां स्वरूपतः स्वभावतश्चात्यन्तविजातीयां परां तस्याः भोक्तृतया प्रकृष्टां जीवभूतां चेतनां प्रकृतिं शक्तिं मे मदीयां मदात्मिकां विद्धि। यया जीवभूतया चेतनया क्षेत्रज्ञाख्ययाऽनादिकर्मवशादन्तःप्रविष्टया इदं शरीरादिरूपं क्षेत्रसञ्ज्ञकं जडजातं जगद्धार्य्यते। उभयोर्विष्णुशक्तित्वं विष्णुपुराणे स्पष्टमुक्तम् "विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरे"ति।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

स्वकीयप्रकृतिद्वयकार्यत्वात्सर्वजगतः स्वकार्यत्वमाह एतदिति। एते जडचेतने क्षेत्रक्षेत्रज्ञसञ्ज्ञके प्रकृती योनी कारणभूते येषां तान्येतद्योनीनि चराचराणि सर्वाणि भूतानि प्राणवन्ति शरीराणि इत्युपधारय, जानीहि। तत्राचेतनप्रकृतिः स्वरूपपरिणामेन चेतनरूपा तु स्वकर्मणा निमित्तेन तेषु प्रविश्य भोक्तृत्वेनाधारत्वेन च योनिः। न हि जीवं विना देहानां स्थितिर्वृद्धिश्च सम्भवति, ते च मदीये शक्तिरूपे, शक्तेः शक्तिमतः पृथक् स्थितिप्रवृत्त्यनर्हत्वात् मदधीने, शक्तिकार्यं शक्तिमत्येव पर्य्यवस्यति।

आठ प्रकार की प्रकृति जो मैंने कही, वह जड़ और दूसरे के अर्थ में आने वाली होने के कारण, निकृष्ट है। इस अचेतनभूत प्रकृति से बिलकुल विलक्षण अर्थात् स्वरूप तथा स्वभाव से अत्यन्त विजातीय मेरी परा प्रकृति, भोक्ता होने के कारण, मेरी श्रेष्ठ प्रकृति है। वह जीवभूत अर्थात् चेतन स्वरूप है। इस प्रकृति को मेरी वा मदात्मिका शक्ति जानो। इसी जीवभूत, चेतन स्वरूप, क्षेत्रज्ञ नाम वाली और अनादि कर्म के वश भीतर पैठी हुई, शक्ति से ही शरीरादिरूपी क्षेत्र नाम वाला जड़मय जगत् धारण किया जाता है। दोनों ही को विष्णु की शक्ति होने की बात स्पष्ट रूप से विष्णु पुराण में वर्णित है। यथा :—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा।

अर्थात् विष्णु की दो शक्तियाँ कही गयी हैं, क्षेत्रज्ञ नाम की परा शक्ति और दूसरी अपरा शक्ति ॥५॥

सम्पूर्ण जगत् भगवान् की ऊपर कही गयी दोनों प्रकृतियों का कार्य है इसलिये समूचे जगत् को उन्हीं भगवान् का कार्य समझना चाहिए। इसीको यहाँ कहते हैं :—

सब चर और अचर तथा प्राण वाले शरीर इन्हीं जड़ और चेतन, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ नाम वाली दोनों प्रकृति से उत्पन्न हैं, ऐसा तुम जानो, अर्थात् दोनों प्रकृतियाँ ही सब भूतों के कारण हैं। इनमें अचेतन प्रकृति स्वरूप परिणाम द्वारा और चेतन प्रकृति अपने कर्म के वश होने के कारण, उनमें (भूतों में) प्रवेश कर, उनका भोक्ता और आधार होने से उनकी योनि वा कारणभूत है, क्योंकि, जीव के बिना देह की स्थिति वा वृद्धि नहीं हो सकती।

ये दोनों प्रकृतियाँ मेरी शक्ति हैं और शक्ति की स्थिति और प्रवृत्ति शक्तिमान वा शक्ति वाले

अतोऽहमेव कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः, प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः परमकारणमित्यर्थः । तथा प्रलयः प्रलीयते-अस्मिन्ननेनेति वा प्रलयः संहारस्थानं, संहारको वा कर्त्ता संहर्त्ता चाहमेवेत्यर्थः ।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ! ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

सर्वजगद्योनिभूतप्रकृतिद्वयाधिष्ठातृत्वादात्मनः सर्वोत्तमत्वं सर्वाधारत्वं चाह—मत्त इति । यतः सर्वजगद्योनी भूते चेतनाचेतने मदाश्रये, तस्मान्मत्तः सर्वेश्वरात्परतरं श्रेष्ठं जगत्कारणभूतं स्वतन्त्रं किञ्चिदपि वस्तु नास्ति हे धनञ्जय ! "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । स कारणं कारणाधिपाधिपः, सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः, स विश्वकृद्विश्वकृदात्मयोनिः, प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश"इत्यादिश्रुतिभ्यः "कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः । कृष्णस्य हि कृते भूतमिदं विश्वं चराचरमि"ति स्मृतेश्च । सर्वस्याश्रयोऽप्यहमेवेत्याह—मयीति । सर्वमिदं चिज्जडजातं जगत् सर्वस्यात्मतयाऽवस्थिते मयि प्रोतमाश्रितम् । तत्र

से पृथक् नहीं हो सकती । इसलिये ये शक्तियाँ मेरे अधीन हैं । शक्ति के कार्य शक्तिमान ही के कारण पूर्ण होते हैं । इसलिये मैं समूचे जगत् का परम कारण हूँ, और प्रलय भी हूं । अर्थात् मुझमें ही वा मुझसे ही जगत् का प्रलय होता है । कहने का तात्पर्य यह कि यह जगत् मेरी शक्ति परा और अपरा प्रकृति से उत्पन्न है, इसलिए इस जगत् का परम कारण वा कर्त्ता और संहारक मैं ही हूँ ॥६॥

सब जगत् के योनिभूत, दोनों प्रकृति के अधिष्ठाता होने के कारण अब यहाँ भगवान् अपनी सर्वोत्तमता और सबका आधार होना बताते हैं :—

हे अर्जुन ! सब जगत् की योनि, चेतन और अचेतन प्रकृति, मेरे ही आश्रित है, इसलिये मुझ सर्वेश्वर से श्रेष्ठ जगत् में कोई वस्तु नहीं है, अर्थात् हमसे परे जगत् का कारणभूत और स्वतन्त्र कुछ नहीं है । श्रुति और स्मृति भी इस बात की पुष्टि करती है । यथाः—श्रुतिः—"न तत्समश्चाभ्यधिकश्च-दृश्यते" । "स कारणं कारणाधिपाधिपः सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" । "स विश्वकृत् विश्वकृदात्मयोनिः", प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, इत्यादि" । (अर्थात्—उन (भगवान्) के समान वा उनसे अधिक कोई नहीं देखा जाता । वे कारणाधिपाधिपों के भी कारण हैं । सब कोई उनके वश में है । सबके वे मालिक हैं । विश्व के स्वयं कर्त्ता और अपना स्वयं कारण हैं । प्रकृति और क्षेत्रज्ञ वा जीव के पति और गुणों के स्वामी हैं ।)

स्मृति :—"कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः ।
कृष्णस्य हि कृते भूतमिदं विश्वं चराचरम् ॥"

अर्थात्, इस जगत् के कृष्ण ही कर्त्ता और संहर्त्ता हैं । यह चराचर जगत् उन्हीं का बनाया हुआ है ।

अब भगवान् कहते हैं कि सबका आश्रय भी मैं ही हूँ । यह समूचा चेतन और जड़ जगत् मुझ में ही स्थित है क्योंकि मैं सबका आत्मा हूँ । इसको उदाहरण द्वारा समझाते हैं । जैसे मणियों की

दृष्टान्तः—सूत्रे मणिगणा इवेति । यथा मणीनां स्थितिप्रवृत्ती सूत्राधीने तथा सर्वस्य स्थितिप्रवृत्ती मदधीने । "यच्चकिञ्चिज्जगत्यस्मिन्दृश्यते श्रूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थित"इति श्रुतेः । "बुद्धिर्मनो महद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या । चतुर्विधं च यद्भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितमि"ति स्मृतेश्च ।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय ! प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

एवं सर्वात्मत्वादात्मनः सर्वरूपतां दर्शयितुं सर्ववस्तुसाररूपतामाह—रसोऽहमित्यादिपञ्चभिः । हे कौन्तेय ! अप्सु सारभूतो रसो रसतन्मात्ररूपेणापामाश्रयोऽहं स्थितः । तथा शशिसूर्ययोः प्रभाऽहमस्मि, तयोः प्रकाशरूपेण स्थितः । सर्ववेदेषु वैखरीरूपेणाविर्भूतेषु तन्मूलभूतः प्रणव ओंकारोऽहमस्मि । नृषु पुरुषेषु पौरुषं पुरुषसारभूतं यतः पुरुषत्वख्यातिः सोऽहमित्यर्थः ।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

पुण्यः सुरभिरविकृतो गन्धः सर्वपृथिव्याः सारभूतो गन्धतन्मात्राख्यः पृथिव्यां व्याप्तोऽहं, चकारोऽवादिषु पुण्यरसादिसमुच्चयार्थः किञ्च विभावसौ वह्नौ यत्तेजः स्वाभाविकसर्वदहनप्रकाशन-

---

स्थिति और प्रवृत्ति सूत्र वा डोरे के अधीन है उसी प्रकार सब जगत् की भी स्थिति और प्रवृत्ति मेरे ही अधीन है । इसमें श्रुति और स्मृति के वचन प्रमाण हैं ।

श्रुति :—"यच्चकिञ्चिज्जगत्यस्मिन्दृश्यते श्रूयतेऽपिवा ।
अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्यनारायणः स्थितः ॥"

अर्थात् इस जगत् में जो कुछ देखा वा सुना जाता है उन सबों में बाहर और भीतर से व्याप्त हो करके नारायण विराजमान हैं ।

स्मृति :—"बुद्धिर्मनो महद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या ।
चतुर्विधं च यद्भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥"

अर्थात् बुद्धि, मन, महत्, तत्त्व, वायु, अग्नि, जल, आकाश, पृथ्वी और चारों प्रकार के जीव, (स्वेदज, अण्डज, उद्भिज, योनिज ये चार प्रकार के जीव हैं) सभी कृष्ण में प्रतिष्ठित हैं ॥७॥

सबकी आत्मा होने के कारण भगवान् सर्वरूप हैं । अब अपनी सर्वरूपता दिखाने के लिये, वे यहाँ यह कहते हैं कि सब वस्तुओं का साररूप मैं हूँ ।

हे अर्जुन ! जल के सारभूत रस का आश्रय रसतन्मात्रा रूप से मैं हूँ । फिर सूर्य और चन्द्रमा की प्रभा मैं हूँ अर्थात् प्रकाश रूप से उनमें मैं स्थित हूँ । संस्कृत रूप से आविर्भूत सब वेदों का मूल ओंकार मैं हूँ । आकाश में स्थित शब्द, शब्दतन्मात्रा रूप से मैं हूँ । मनुष्यों का पौरुष, जिससे वे पुरुष कहे जाते हैं, मैं हूँ ॥८॥

पृथ्वी में उसका सारभूत विकार रहित जो गन्ध है, वह गन्ध तन्मात्रा रूप से मैं हूँ, अर्थात् मैं

सामर्थ्यं तदप्यहमस्मि । सर्वभूतेषु प्राणिषु जीवनं प्राणधारणमायुस्तदप्यहमस्मि । तपस्विषु तपःप्रधानेषु वानप्रस्थादिषु यत्तपः शीतोष्णादिद्वन्द्वसहनसामर्थ्यं तदहमस्मि ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

किञ्च बीजमिति । सर्वेषां स्थावरजङ्गमानां भूतानां बीजं कारणं सनातनं नित्यं सर्वकार्येष्वनुस्यूतं हे पार्थ ! मां विद्धि, मद्विभूतिं जानीहीत्यर्थः । तथा बुद्धिस्तत्त्वविवेचनरूपा प्रज्ञा तद्वतां सा बुद्धिरहमस्मि, तदभावे पशुत्वाविशेषात् । "ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समाना" इति सनत्सुजातवचनात् । तेजस्विनां यत्तेजः पराभिभवनसामर्थ्यं तदहमस्मि ।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ! ॥११॥

किञ्च बलमिति । कामोऽप्राप्ते वस्तुनि इदं मे भूयादिति तत्प्राप्त्यभिलाषः, अभिलषितेऽर्थे प्राप्तेऽपि इदं सदा तिष्ठेन्न कदापि क्षीयतामिति राजसश्चित्तरञ्जनात्मको रागस्ताभ्यां वर्जितं बलवतां सात्त्विकं स्वधर्मानुष्ठानरूपं बलमहमस्मि । धर्मो वेदविहितः सदाचाररूपस्तेनाविरुद्धोऽनुकूलो भूतेषु प्राणिषु कामः शास्त्रसम्मतः स्त्रीपुत्रवित्तादिविषयो योऽभिलाषः सोऽहमस्मि हे भरतर्षभ ! ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

गन्ध रूप से पृथिवी में व्याप्त हूँ । "च" से जल का सारभूत पुण्य रसादि का बोध होता है । अग्नि में तेज अर्थात् उसकी स्वाभाविक सबको जलाने और प्रकाश करने की शक्ति भी मैं हूं । सब प्राणियों का जीवन अर्थात् प्राण धारण वा आयु भी मैं हूँ । तप करने वाले वानप्रस्थादिकों का जो तप अर्थात् जाड़ा, गर्मी, भूख, प्यास इत्यादि द्वन्द्वों की सहने की शक्ति है, वह भी मैं हूँ ॥९॥

हे कौन्तेय ! स्थावर और जङ्गम जीवों का नित्य, सनातन, और सब कार्यों में पैठा हुआ कारण मुझको जानो । मतलब कि इन सब जीवों को मेरी विभूति समझो । बुद्धिमानों की जो तत्व विवेचनी बुद्धि है, जिसके अभाव में मनुष्य पशु के समान जाना जाता है, जैसा कि सनत्सुजात का वचन है कि "ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः" अर्थात् ज्ञान से हीन पशु के समान है, वह बुद्धि मैं हूं । तेजस्वियों में तेज अर्थात् दूसरों के पराभव करने की शक्ति मैं हूँ ॥१०॥

अप्राप्त वस्तु हमको मिले, इस प्रकार की अप्राप्त वस्तु के प्राप्त करने की अभिलाषा को काम कहते हैं । अभिलषित वस्तु प्राप्त होने पर, वे सदा ठहरें, उनका कभी नाश नहीं हो, इस प्रकार का जो चित्त में उनके प्रति भाव होता है उसको राग कहते हैं । ऐसे काम और राग से रहित बलशालियों का बल अर्थात् सात्त्विक स्वधर्मानुष्ठान रूप बल मैं हूँ । फिर धर्म नाम वेद विहित, सदाचार रूप धर्म के अनुकूल, प्राणियों में जो स्त्री पुत्रवित्तादि विषय का शास्त्र सम्मत नाम अभिलाषा) है, सो मैं हूँ ॥११॥

किं बहुना सर्वभावानामहमेव कारणमित्याह—ये चेति। ये चान्येऽपि सात्त्विका भावाश्चित्त-परिणामाः शमदमादयः, ये च राजसा हर्षादयः, ये च तामसाः शोकमोहप्रमादादयः, प्राणिनां स्वानादि-कर्मवशाज्जायन्ते तान्सर्वान्मत्त एव जातानीति विद्धि, तत्तत्कर्मानुसारादिमदनुभावितान्विद्धीत्यर्थः। ननु हेतुभूतस्य तवापि ते स्युरिति चेन्नेत्याह—न त्वहमिति। तु शब्दो वैलक्षण्यद्योतनार्थः। तेषां मत्तो जातत्वेऽपि अहं तु तेषु न वर्त्ते जीववत्तदधीनोऽहं न भवामीत्यर्थः ते तु मयि मदधीनतया मयि वर्त्तन्ते। अथवा सात्त्विका भावा देवा राजसा मनुष्यास्तामसास्तिर्यगादयो मत्त एव जातास्तेषु नाहं वर्त्ते, कार्यार्थं लीलार्थं वा तेषु कृतावतारोऽप्यहं अजहद्गुणशक्तिमत्वात्तत्सजातीयो न भवामीत्यर्थः। ते तु मदधीनस्थितिकत्वात्सदा मयि वर्त्तन्ते इत्यर्थः। अतश्चेतनाचेतनात्मकमखिलं जगन्मत्त एवोत्पद्यते मय्येव प्रलीयते मय्येवावतिष्ठते च। कारणावस्थायां कार्यावस्थायां च कारणत्वेनाश्रयत्वेन स्वतन्त्रत्वेन चाहमेव परतरो न मत्तोऽन्यत्किमपि वस्तु गुणशक्त्यादिभिः परमस्तीति सिद्धम्।

विशेष कहाँ तक कहा जाय, सब भावों का कारण मैं ही हूँ। इसी बात को यहाँ पर भगवान् समझाते हैं :—

जो दूसरे शम, दम आदि चित्त परिणाम स्वरूप सात्विक भाव, हर्ष शोक आदि राजस भाव और शोक, मोह, प्रमाद आदि तामस भाव अपने अनादि कर्म के वश प्राणियों में उत्पन्न होते हैं, वे सब हमसे ही उत्पन्न हुए हैं, ऐसा मानो अर्थात् इन भावों को उनके अनादि कर्मानुसार मैं ही पैदा करता हूं।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि यदि ये सात्त्विक, राजस और तामस भाव आपसे ही उत्पन्न हैं तो ये सब भाव उनके कारणभूत आपके भी हो सकते हैं, अर्थात् आप भी इनके वश में आ सकते हैं। इस शंका का भगवान् निराकरण करते हैं :—

'तु' शब्द विलक्षणता जताता है अर्थात् मैं उन भावों का कारण होता हुआ भी उनमें नहीं हूं। अर्थ यह कि जीवों के समान मैं उन भावों के अधीन नहीं हूँ। वे मेरे अधीन होने के कारण मुझमें स्थित हैं। इस श्लोक का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है। यथा :—

सात्विक भाव वाले देवता, राजस भाव वाले मनुष्य, और तामस भाव वाले तिर्य्यक् आदि योनि वाले जीव सब ही मुझसे उत्पन्न हैं; मैं उनमें नहीं हूँ। भाव यह कि कार्य वा लीला के लिये उनमें अवतार लेकर भी, अपने गुण और शक्ति को नहीं छोड़ने के कारण, उनका सजातीय नहीं होता हूँ; पर चूंकि उनकी स्थिति मेरे अधीन है, इसलिये वे मुझमें रहते हैं। अतएव चेतनात्मक और अचेत-नात्मक समूचा जगत् मुझसे ही उत्पन्न होता है, मुझमें ही प्रलय होता है और मुझमें ही स्थिर रहता है। कारण और कार्य दोनों अवस्थाओं में अपने कारणत्व, आश्रयत्व और स्वतन्त्रता के कारण मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूं। गुण, शक्ति आदि में मुझसे श्रेष्ठ और कोई वस्तु नहीं है, यह बात सिद्ध हुई ॥१२॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्य परमव्ययम् ॥१३॥

नन्वेवं सर्वेश्वरं सर्वनियन्तारं सर्वकारणं दोषास्पृष्टं स्वतन्त्रं त्वामयं जनः कुतो न जानाति, जानाति चेत्कथं संसारी भवतीत्यपेक्षायामाह—त्रिभिरिति । एभिः पूर्वोक्तैस्त्रिभिस्त्रिविधैर्गुणमयैर्भावैः सत्त्वादिगुणकार्यभूतैर्बुद्धीन्द्रियशरीरैर्हर्षलोभकामक्रोधादिभिश्च सर्वमिदं जगत् जीवजातं मोहितमाच्छादितज्ञानं सत् मां नाभिजानाति, सर्वेषां प्रवर्तकः स्वतन्त्रः कश्चिदीश्वरोऽस्तीति सामान्यतया जानदपि साक्षात्परब्रह्मैव परवैकुण्ठाधिपः स्वभक्तहितायावतीर्णो वासुदेव इति मां न जानाति । कथं भूतं मामेभ्यो गुणमयभावेभ्यः परं तेभ्यो विलक्षणं तैरस्पृष्टमित्यर्थः । अत एवाव्ययं व्ययरहितं कदाचिदपि गुणशक्त्याद्यन्यथाभावशून्यमित्यर्थः । एवम्भूतगुणशक्त्यादिमतो मम साक्षाज्ज्ञानाभावान्नोक्तत्रिगुणमयभावहेतुमायाऽतिक्रमस्तत एव न संसारोपरम इति भावः ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

ननु "गौरनाद्यन्तवती जनित्री भूतभाविनी । सितासिता च रक्ता चे"त्यादिश्रुतेर्मायायागुणप्रवाहस्यानाद्यनन्तत्वाभिधानात्तन्मोहितानां जीवानामस्वातन्त्र्येण तत्परिहर्त्तुमशक्यत्वान्न कदाऽपि कस्यापि मायाऽतिक्रमः स्यादित्याशङ्क्याऽसाधारणं मायातरणोपायमाह—दैवीति । "एको देवः सर्वभूतेषु

ऐसे सबके नियन्ता, सबके कारण, सब दोषों से रहित और स्वतन्त्र आपको मनुष्य क्यों नहीं जानता ? और यदि आपको जानता है तो संसारी क्यों हो जाता है ? इस प्रश्न की अपेक्षा में भगवान् कहते हैं :—

पूर्व में कहे तीनों प्रकार के गुणमय भावों से, अर्थात् सत्वादि गुणों के कार्यभूत बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर, हर्ष, लोभ, काम, क्रोधादिकों से यह समूचा जगत्, जीव समूह मोहित है अर्थात् उसका ज्ञान आच्छादित है । इसी कारण वह मुझको नहीं जानते । सबों का प्रवर्त्तक और स्वतन्त्र कोई ईश्वर है, ऐसा साधारण ज्ञान रखता हुआ भी यह जगत् मुझको ऐसा नहीं जानता कि मैं साक्षात् परब्रह्म और पर वैकुण्ठ का मालिक हूँ और मैंने अपने भक्तों के हित के लिए वासुदेव का पुत्र होकर अवतार लिया है । यह जगत् मुझको, इन गुणमय भावों से परे अर्थात् विलक्षण वा उनसे अस्पृष्ट, और अव्यय अर्थात् मेरे गुण शक्ति कभी मुझसे बिलग नहीं होते, ऐसा नहीं जानता । कहने का भाव यह कि गुण शक्ति आदि से युक्त, मेरे साक्षात् ज्ञान के अभाव से उक्त त्रिगुणमय भाव के हेतु, माया को, जीव पार नहीं कर सकता, इसलिये वह संसारी बना रहता है ॥१३॥

"गौरनाद्यन्तवती जनित्री भूतभाविनी सितासिता च रक्ता च" इस वेद के वचन से माया के गुणों के प्रवाह को आदि और अन्त से हीन कहा गया है । इस कारण उससे मोहित जीव स्वतन्त्रता

गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्चे"ति श्रुति-प्रतिपादितस्य देवस्य स्वतो द्योतमानस्य चिदानन्दघनस्य कर्मनियन्तुः सर्वव्यापकत्वेऽपि चेतनाचेतन-जगद्गुणदोषसम्बन्धवर्जितस्यातिशयसाम्यशून्यस्य भगवतो नियम्यभूता दैवी एषा त्रिगुणमय-कार्यद्वारा सर्वप्रत्यक्षा गुणमयी, सत्त्वरजस्तमोगुणमयात्मिका मम परमेश्वरस्य सर्वशक्तेः सर्वकार्यो-त्पादनशक्तिर्मायाशब्दवाच्या । "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरमि"तिश्रुतेः । दुरत्यया ममानुग्रहमन्तरेणोपायसहस्रैरपि दुस्तरा, हि निश्चितमेतत्तथापि 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । तद्योयोदेवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणामि'त्यादि-श्रुतिभ्योऽनन्ता एव जीवास्तेषां मध्ये ये केचिन्मामेव सर्वेश्वरं सर्वज्ञं सर्वशक्तिं मायानियन्तारं प्रपद्यन्ते स्वपुरुषार्थाभिमानं साधनान्तरं च विहाय साधनसाध्यरूपं निश्चित्य सर्वात्मना भजन्ते, आनुकूल्य-

---

रहित होने से उसको छोड़ने में असमर्थ हो उसको कभी पार नहीं कर सकता। ऐसी शंका होने के कारण भगवान् माया तरने का असाधारण उपाय बताते हैं।

जिस देव के विषय में श्रुति यह कहती है :—"एको देवः सर्व भूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च" अर्थात् वह देव एक, सब जीवों में निविष्ट, सर्वव्यापी, सब जीवों का अन्तरात्मा, कर्म का अध्यक्ष, सब जीवों का अधिष्ठान, साक्षी, चेतन, केवल अर्थात् अद्वितीय और निर्गुण है ऐसे स्वयं प्रकाशमान, चित्, आनन्दघन, कर्म के नियन्ता, सबमें व्यापक होकर भी चेतन और अचेतन जगत् के गुण दोष से रहित, और अपने से बढ़कर या समानता रखने वाले से रहित, मुझ सर्वज्ञ और शक्तिशाली परमेश्वर की वशवर्त्तिनी यह दैवी, त्रिगुण-मय कार्य द्वारा प्रत्यक्ष होने वाली और इसलिये सत्व, रज, तम, गुणमयात्मिका शक्ति, जो सब कार्य को उत्पन्न करने वाली है, माया कही जाती है। इसमें श्रुति का प्रमाण है। यथा :—"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" अर्थात् माया को प्रकृति और भगवान् को मायी अर्थात् माया वाला वा माया का स्वामी जानो। इस माया को मेरे अनुग्रह के बिना सहस्रों दूसरे उपायों के द्वारा पार करना दुष्कर है। ऐसा होने पर भी अर्थात् इस माया को पार करना दुष्कर है, ऐसा होने पर भी अनन्त जीवों❋में जो कोई मुझ सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान और माया के नियन्ता की शरण में आ जाता है अर्थात् अपने पुरुषार्थ के अभिमान और दूसरे साधनों को छोड़ कर और मुझ को ही साधन और

❋ ऊपर टीका में जीव अनन्त है, ऐसा कहा गया इसमें श्रुति प्रमाण है :—

"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तद् योयो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम् ॥"

अर्थात् नित्य (जीवों) में नित्य, चेतन (जीवों) में चेतन, बहुतों में एक, जो कामनाओं को पूर्ण करता है, देव, ऋषि और मनुष्यों में से जिस किसी ने ब्रह्म साक्षात्कार किया वही ब्रह्म भाव को प्राप्त हुआ। इन श्रुतियों से आत्मा का अनेक होना और ब्रह्म का एक होना प्रमाणित होता है।

सङ्कल्पादिकार्पण्यां तां षड्विधां शरणागतिं मयि कुर्वन्तीत्यर्थः। त एवैतां मम मायां तरन्ति वर्जयन्तीत्यर्थः। न त्वन्ये, अवधारणस्योभयत्र सम्बन्धात्—

ये प्रपन्ना हृषीकेशं न ते मुह्यन्ति मानवाः।
भये महति मग्नानां त्राता नित्यं जनार्दन"इति

भीष्मपर्वणि वचनं, वामने प्रह्लादश्चाह "ये संश्रिता हरिमनन्तममध्यमाद्यं नारायणं सुरगुरुं शुभदं वरेण्यम्। शुद्धं खगेन्द्रगमनं कमलालयेशं ते धर्मराजभवनं न विशन्ति धीरा"इति।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

यद्येवं तर्हि सर्वेऽपि शास्त्राचार्यद्वारेण सर्वानर्थहेतोर्मायायास्तारकं भगवन्तमेव निश्चित्य किन्न प्रपद्यन्ते इत्यपेक्षायां दुःकृतयोगादित्याह—न मामिति। दुष्कृतिनोऽनादिपापसञ्चयवत्त्वान्मां न प्रपद्यन्ते, ईश्वरेश्वरं ज्ञात्वा सर्वात्मना न भजन्ते। ते च दुष्कृततारतम्याच्चतुर्विधाः मूढा नराधमा माययाऽपहृत-

---

साध्य समझ कर भजता है, तात्पर्य्य यह कि आनुकूल्य संकल्पादि, कार्पण्यान्त छः प्रकार की शरणागति मुझ में करता है वही मेरी इस माया को तरता है अर्थात् छोड़ता है, दूसरा नहीं। श्लोक में 'हि' और 'एव' ये दो अवधारण हैं इनका भाव यह है कि जो मायापति भगवान् की शरणागति ग्रहण करते हैं भगवान् कृपा कर उनसे ही माया का सम्बन्ध छुड़ा देते हैं, औरों से नहीं। इसके प्रमाण में भीष्म पर्व का वचन है :—

"ये प्रपन्ना हृषीकेशं न ते मुह्यन्ति मानवाः।
भये महति मग्नानां त्राता नित्यं जनार्दन॥"

अर्थात् जो भगवान् की शरण में आ जाते हैं वे मनुष्य मोह को नहीं प्राप्त होते। बड़े भारी भय में डूबे हुये की जनार्दन नित्य रक्षा करते में। वामन पुराण में प्रह्लाद का भी ऐसा ही वचन है। यथा :—

"ये संश्रिता हरिमनन्तममध्यमाद्यं नारायणं सुरगुरुं शुभदं वरेण्यम्।
शुद्धं खगेन्द्रगमनं कमलालयेशं ते धर्मराजभवनं न विशन्तिधीराः॥"

अर्थात् जो धीर पुरुष अनन्त एवं मध्य रहित, आदिभूत, नारायण, देवताओं के गुरु, शुभदाता, वरेण्य, शुद्ध, गरुड़गामी, कमलालय के ईश भगवान् को शरण में जाते हैं उनको धर्मराज के भवन में नहीं जाना पड़ता ॥१४॥

यदि ऐसी बात है तो शास्त्र और आचार्य के द्वारा आप ही को माया से, जो सब अनर्थों का कारण है, छुड़ाने वाला निश्चय कर आप ही की शरण में लोग क्यों नहीं आते हैं? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् यहाँ देते हैं :—अनादि पाप सञ्चय के कारण वे दुष्कर्मी मेरी शरण में नहीं आते हैं अर्थात् मुझको ईश्वरों का ईश्वर समझ मेरा सब प्रकार से भजन नहीं करते हैं। दुष्कर्म के तारतम्य से मनुष्य

ज्ञाना—आसुरं भावमाश्रिता इति। तत्र शास्त्रप्रतिपादितमपि भगवत्तत्त्वं बुद्धिमान्द्याज्ज्ञातुमनर्हाः प्राकृतेष्वेव देहेन्द्रियेषु रता मूढाः। ये च शास्त्रप्रतिपादितं भगवत्तत्त्वं श्रोतुं ज्ञातुं बुद्धिमन्तोऽपि मदाश्रयणेऽश्रद्दधानाः प्राकृतविषयासक्तास्ते नराधमाः, सम्यक्शास्त्रनिर्णीतमपि मत्स्वरूपगुणैश्वर्य्यविषयं ज्ञानं दुष्कृतबाहुल्यान्मय्यसम्भावना विपरीतभावना जनिता तद्विपरीतार्थप्रतिपादकयुक्तिरूपा कपटपर्यायी माया, तयाऽपहृतं नाशितं ज्ञानं येषां ते माययाऽपहृतज्ञानाः। ये चानादितो मद्विमुखा मत्स्वरूपगुणैश्वर्य-विषयं सुदृढतरमपि ज्ञानं नाङ्गीकुर्वन्ति, प्रत्युत मां मद्भक्तांश्च बुद्धिपूर्वकं द्विषन्ति ते आसुरं भाव-माश्रिताः त एते उत्तरोत्तरं पापबहुलाः।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन !।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ! ॥१६॥

ये तु पुण्यकर्माणस्ते श्रद्धाप्रीतियुक्ता मां भजन्त इत्याह—चतुर्विधा इति। सुकृतिनः पूर्वजन्म-सुकृतसञ्चयो विद्यते येषु ते जना मां भजन्ते, तेऽपि सुकृततारतम्याच्चतुर्विधाः, हे अर्जुन ! तत्र शत्रु-व्याध्याद्यापदा ग्रस्त आर्त्तः। स यदि पूर्वं कृतपुण्यश्चेत्तर्हि तदार्त्तिनिवृत्तिमिच्छन्मां भजते, अन्यथा दुर्गारुद्रविनायकभैरवादीन्भजते। आर्त्तो यथा जरासन्धकारागृहनिगृहीतो राजसमूहः द्यूतसभायां वस्त्रा-

---

चार प्रकार के होते हैं, यथा—मूढ़, नराधम, माया से अपहृत ज्ञान वाले और आसुरी भाव वाले। मूढ़ वे हैं जो शास्त्र से प्रतिपादित भी भगवत्तत्व को बुद्धिमान्द्य के कारण जानने में अयोग्य हैं और प्राकृत देह, इन्द्रिय आदि में सदा रत हैं। नराधम वे हैं जो शास्त्र से प्रतिपादित भगवत्तत्व को सुनने जानने में बुद्धिमान होकर भी मेरी शरण में अश्रद्धा करते हैं और प्राकृत विषयों में आसक्त हैं। तीसरे वे हैं जो शास्त्र से पूर्णतया निर्णीत भी मेरे स्वरूप, गुण और ऐश्वर्य विषयक ज्ञान को दुष्कृति की अधिकता से मुझमें सब असम्भव मानते हैं और उल्टी बात को साबित करने के लिये विपरीत भावना से उत्पन्न युक्ति रूप कपट करते हैं। इसी कपट को माया कहते हैं और इसी माया ने उनके ज्ञान को नष्ट किया है। और चौथे वे हैं जो अनादि काल से मुझसे विमुख हैं। ये मेरे स्वरूप, गुण और ऐश्वर्य विषयक दृढ़तर ज्ञान को भी अङ्गीकार नहीं करते बल्कि मुझसे और मेरे भक्तों से द्वेष करते हैं। ये आसुरी वा राक्षसी भाव को प्राप्त हुए हैं। इन चारों में उत्तरोत्तर पाप की अधिकता है ॥१५॥

जो पुण्य कर्म वाले हैं, वे मुझको श्रद्धा और प्रीतिपूर्वक भजते हैं। इसी बात को भगवान् यहाँ कहते हैं।

जिन लोगों को पूर्व जन्म का सुकृत सञ्चित है, वे मुझको भजते हैं। हे अर्जुन ! वे अपने सुकृत के तारतम्य से चार प्रकार के हैं। पहले तीन अर्थात् आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी कामना वाले हैं और चौथा ज्ञानी कामना रहित और एक निश्चय वाला है।

शत्रु, व्याधि आदि दुःख से त्रस्त हैं, वे आर्त्त कहलाते हैं। ऐसा पुरुष, यदि उसने पूर्व में पुण्य किया है तो अपने दुःख से निवृत्ति के लिये मुझको ही भजता है और यदि पूर्व पुण्य नहीं किया है तो

कर्षणे द्रौपदी, ग्राहगृहीतो गजेन्द्रश्च वृकासुरात्पलायमानो रुद्रश्च। जिज्ञासुस्तत्त्वज्ञानार्थी मुमुक्षुः, यथा विदेहरहूगणयदुमुचुकुन्दादिः। अर्थार्थी भोगैश्वर्यविशिष्टपदभ्रष्टस्तल्लिप्सुर्मां भजते। यथेन्द्रो ध्रुवः सुग्रीवो विभीषणश्च। एते त्रयोऽपि स्वाभीष्टं प्राप्य मद्भजनात्क्रमेण मायां तरन्ति। ज्ञानी च सम्यङ्-निर्णीतात्मपरमात्मतत्त्वविवेकज्ञः, स च निष्काम एव तीर्णमायः सन् मामेव परमप्राप्यं जानन् भजते। यथा सनकादिर्नारदशुकप्रह्लादभीष्मोद्धवादिः।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

तेषां मध्ये ज्ञानी श्रेष्ठ इत्याह—तेषामिति। तेषां चतुर्विधानां मध्ये ज्ञानी तत्त्वज्ञानवान्विशिष्यते, सर्वोत्कृष्टो भवतीत्यर्थः। कुतः? यतो नित्ययुक्तः मयि भगवति सदाऽविच्छेदेनावेशितचेताः। किञ्च यथा सकामः पुरुषः स्त्रीपुत्राद्यात्मीयवर्गे नित्यावेशितमना अपि राजाद्यन्यं भजते, न तथाऽयं कश्चिदन्यं भजते। किन्तु—एकभक्तिरिति। देवान्तरसाधनान्तरफलान्तरसम्बन्धान्तरनिरासेन सर्वदैवसाधनफलसम्बन्धरूपे एकस्मिन् समाभ्यधिकशून्ये भगवति चिदानन्दघने मय्येव मद्विषयिकैव भक्तिरर्चन-

---

दुर्गा, रुद्र विनायक, भैरव आदि को भजता है। ऐसे आर्तों के उदाहरण ये हैं—जरासन्ध के कारागृह में बन्दी हुए राजागण, जुए की सभा में वस्त्र खींची जाती हुई द्रौपदी, ग्राह से गृहीत गजेन्द्र, बृकासुर के डर से भागते हुए रुद्र।

जिज्ञासु वह मोक्षार्थी है, जो तत्त्व ज्ञान के जानने का इच्छुक है। जैसे जनक, रहूगण, यदु, मुचुकुन्द आदि।

अर्थार्थी वह है जो भोग ऐश्वर्य से युक्त पद से भ्रष्ट हो उस पद को चाहता है और इसलिये मुझको भजता है। जैसे इन्द्र, ध्रुव, सुग्रीव, विभीषण आदि। ये तीनों अपने अभीष्ट को प्राप्त कर मेरे भजन से माया को पार कर जाते हैं।

ज्ञानी वह है जिसने पूर्व रीति से निर्णीत आत्म-परमात्म-तत्त्व के विवेक की जानकारी प्राप्त की है। वह कामना रहित हो माया को पार करता हुआ और हमको ही परम प्राप्य समझ कर मेरा भजन करता है, जैसे सनकादिक, नारद, शुक, प्रह्लाद, भीष्म, उद्धव आदि ॥१६॥

इन चारों में ज्ञानी श्रेष्ठ है, इसीको कहते हैं :—

इन चारों में तत्त्व को जानने वाला ज्ञानी सर्वोत्कृष्ट है। क्योंकि, वह नित्य युक्त है अर्थात् अविच्छिन्न रूप से मुझ भगवान् में अपने चित्त को लगाये रहता है, और जैसे सकामी पुरुष अपने पुत्र, स्त्री आदि आत्मीय वर्ग में नित्य मन लगाये हुए रहने पर भी राजा आदि की सेवा करता है, वैसा यह ज्ञानी नहीं करता है। वह एक भक्ति वाला होता है, अर्थात् दूसरे देव, दूसरे साधन, दूसरे फल और दूसरे सम्बन्ध से हट कर सब देव, साधन, फल और सम्बन्ध रूप एक मुझ चिदानन्दघन भगवान्, में

वन्दनकीर्तनध्यानादिभजनं यस्य सः "भजनं भक्तिरित्युक्तं वाङ्मनःकायकर्मभिः। भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः ॥ तस्मात्सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिशब्देन भूयसी"ति स्मृतेः। हि यस्माज्ज्ञानिनोऽहमत्यर्थं प्रियः, अनवधिकप्रीतिविषयः। तथैवोक्तं विष्णुपुराणे प्रह्लादेन "या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु"। श्रीपराशरोऽप्याह "स त्वासक्तमतिः कृष्णे दंश्यमानो महोरगैः। न विवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याल्हादसंस्थित" इति। स च ज्ञानी तथैव ममाप्यतिप्रियः। "यथा त्वं सह पुत्रैश्च यथा रुद्रो गणैः सह। यथा श्रियाभियुक्तोऽहं तथा भक्तो मम प्रिय" इतिश्रुतेः। "नास्य भक्तात्प्रियतरो लोके कश्चन विद्यते" इति मोक्षधर्मे नारायणवचनाच्च।

जिससे बड़ा वा जिसके समान दूसरा नहीं है, भक्ति करता है। भक्ति करने का मतलब है कि वह मेरा अर्चन, वन्दन, कीर्त्तन, ध्यान आदि करता है। स्मृति का वचन है कि—

"भजनं भक्तिरित्युक्तं वाङ्मनःकायकर्मभिः।
भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः॥
तस्मात्सेवा बुधैः प्रोक्ताः भक्तिशब्देन भूयसी॥"

अर्थात् वचन, मन, शरीर और कर्म से भजन करने को भक्ति कहते हैं। भज धातु का अर्थ जिससे भक्ति शब्द बना है, सेवा करना है। इसलिए भक्ति शब्द का अर्थ पण्डित लोग सेवा करना ही बताते हैं जिस प्रकार मैं ज्ञानियों को अति प्रिय हूँ अर्थात् मुझसे बढ़ कर प्रीति उनको दूसरे विषय में नहीं है इसी प्रकार का विष्णु पुराण में प्रह्लाद का वचन है :—

"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु॥"

अर्थात् विषय में जो गाढ़ी प्रीति अविवेकियों को होती है वैसी गाढ़ी प्रीति आपको स्मरण करते हुए मेरे हृदय से न निकल जाय अर्थात् आप में बनी रहे।

पारासरजी ने भी विष्णु पुराण में प्रह्लाद के विषय में कहा है कि—

"स त्वासक्तमतिः कृष्णे दंश्यमानो महोरगैः।
न विवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याह्लादसंस्थितः॥"

अर्थात् वह प्रह्लाद कृष्ण में आसक्तमति था, इससे बड़े भारी सांप से काटे जाने पर भी भगवान् के स्मरण के आह्लाद में निरत रहने से अपने शरीर को नहीं जाना। अर्थात् सांप का काटना और उससे होने वाले दुःख को उसने नहीं जाना। श्रुति कहती है :—

"यथा त्वं सह पुत्रैश्च यथा रुद्रो गणैः सह।
यथा श्रियाभियुक्तोऽहं तथा भक्तो मम प्रियः॥"

अर्थात् जैसे तुम (ब्रह्मा) अपने पुत्रों के साथ, रुद्र अपने गणों के साथ और मैं लक्ष्मी के साथ युक्त (प्रेम में पगा) रहता हूँ वैसे ही मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

एवं चेत्तर्हि किमार्त्तादयस्त्रिविधा भक्तास्तेऽप्रिया अधमा इति चेत्तत्राह—उदारा इति । एते आर्त्तादयः सर्व एव उदारा वदान्याः, जन्मान्तरेषु बहुपुण्यानि कृतवन्तः । न ह्यल्पपुण्यैर्मद्भक्ता भवन्ति । "जन्मान्तरसहस्रेषु तपोदानसमाधिभिः । नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते" इति वचनात् । अन्यथा मद्भक्ता न भवेयुः, किन्तु रुद्रादित्यविनायकादिदेवभक्ता भवेयुस्तदपेक्षया मम भक्ताः सकामा अपि श्रेष्ठा मद्भजनादेव शनैर्निष्कामा भूत्वा मोक्षार्हा भवन्ति । "न मे भक्तः प्रणश्यति, तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते" इत्यादिना वक्ष्यमाणत्वात् । ज्ञानी तु आत्मैव मनो देहो वेति मे मम मतं सम्मतं, न ह्यात्मनोऽधिकः कश्चिदपि प्रियो भवति । हि यस्मात्स युक्तात्मा एकान्ती भक्तो मामेवानुत्तमां न ह्युत्तमां विद्यते यस्यास्तामनुत्तमां गतिं गम्यते इति गतिः प्राप्यं फलमास्थितः सर्वात्मनाश्रित इत्यर्थः ।

फिर मोक्ष धर्म में नारायण का वचन है, यथा :—

"नास्य भक्तात् प्रियतरो लोके कश्चन विद्यते" अर्थात् भगवान् को इस जगत् में अपने भक्त से अधिक प्यारा और कोई वस्तु नहीं है ॥१७॥

यदि ऐसी बात है तो क्या आर्त्त, जिज्ञासु अर्थार्थी ये तीनों प्रकार के भक्त तुम्हारे अप्रिय और अधम हैं ? भगवान् उत्तर देते हैं कि नहीं, ऐसी बात नहीं है । आर्त आदि सब ही उदार अर्थात् श्रेष्ठ हैं और ये जन्मान्तर में बहुत पुण्य किये हुये हैं, कारण कि अल्प पुण्य करने से कोई मेरा भक्त नही हो सकता । कहा भी है :—

"जन्मान्तरसहस्रेषु तपोदानसमाधिभिः ।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते ॥"

अर्थात्, सहस्रों जन्म के तप, दान, समाधि से जब मनुष्यों का पाप क्षीण हो जाता है, तब कृष्ण में उनकी भक्ति उपजती है । तअएव पूरा पुण्य नहीं होने से, मनुष्य मेरा भक्त नहीं होता, किन्तु रुद्र, सूर्य्य, गणेश आदि देवों का भक्त होता है । इन अन्य देव भक्तों से मेरा सकाम भक्त भी श्रेष्ठ है, क्योंकि मेरे भजन से धीरे २ निष्काम होकर वह मोक्ष के योग्य हो जाता है । भगवान् आगे कहेंगे कि—"न मे भक्तः प्रणश्यति" "तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥" अर्थात्—मेरे भक्त का नाश नहीं होता । सदा युक्त होकर प्रीति पूर्वक भजन करने वाले को मैं बुद्धि योग देता हूँ जिससे वह मुझको प्राप्त करता है । पर ज्ञानी तो मेरा आत्मा वा मन वा देह ही है, यही मेरा मत है । और आत्मा से अधिक किसी को कोई दूसरी चीज प्रिय नहीं होती । इसका कारण यह है कि वह मेरा एकान्त भक्त मुझको ही अपनी सबसे श्रेष्ठ गति (फल) समझ कर मेरा ही भरोसा करता है और मुझको ही अपना परम प्राप्य फल समझता है ॥१८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

ज्ञानी भक्तस्त्वतिदुर्लभ इत्याह—बहूनामिति । न ह्यल्पसुकृतजन्मना मत्प्रपत्तिनिष्ठा भवति, किन्तु बहूनां पुण्याचारविशिष्टजन्मनामन्ते चरमजन्मनि ज्ञानवान्सन्मां प्रपद्यते साधनफलसम्बन्धरूपं निश्चित्य निरतिशयप्रेम्णा भजते । ज्ञानस्य स्वरूपमाह—वासुदेवः सर्वमितीति । "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीते"ति श्रुतेर्यथा तज्जत्वात्तल्लत्वात्तदनत्वात्सर्वस्य जगतो ब्रह्मत्वं तथा "योऽयं तवागतो देव समीपं देवतागणः । स त्वमेव जगत्स्रष्टा यतः सर्वगतो भवान् । सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थित"इत्यादिवाक्येभ्यो वासुदेवस्य सर्वगतत्वात्सर्वरूपत्वमित्येवम्भूतज्ञानवान्स महात्मा महाविवेकसम्पन्न आत्मा बुद्धिर्यस्यातः सुदुर्लभः, मनुष्याणां कोटिष्वपि कश्चिदेव स्यादिति भावः । तथोक्तं श्रीभागवते "मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने !"इति ।

ज्ञानी भक्त बहुत दुर्लभ है । इसी को कहते हैं ।

थोड़े जन्मों के पुण्य से मेरी शरण में निष्ठा नहीं होती । बहुत जन्मों तक पुण्य करने पर अन्त में अर्थात्, चरम जन्म में ज्ञानी पुरुष मेरी शरण में आता है अर्थात् मुझको ही साधन, फल और सम्बन्ध रूप निश्चय कर निरतिशय प्रेम से मेरे को ही भजता है ।

अब ज्ञान का स्वरूप कहते हैं । समूचा जगत् वासुदेव ही है ।श्रुति कहती है "सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलानिति शान्त उपासीत" अर्थात् यह सब ब्रह्म है, क्योंकि, उसीसे उत्पन्न होता है, उसी में लय होता है और उसी में स्थित है । शान्त हो मुमुक्षु इस प्रकार उपासना करे । जैसे इस श्रुति वाक्य में ब्रह्म ही से उत्पन्न, ब्रह्म ही में लय और ब्रह्म ही से उसकी चेष्टा होने के कारण सब जगत् को ब्रह्म कहा है, वैसे ही नीचे लिखे स्मृति वाक्यों से सर्वगत होने के कारण वासुदेव को सर्वरूप कहा है :—

स्मृतिवाक्य :—"योऽयं तवागतो देव समीपं देवतागणः ।
स त्वमेव जगत्स्रष्टा यतः सर्वगतो भवान् ॥
सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः ॥"

हे देव ! तुम्हारे समीप जो यह देवतागण आये हैं वह तुम ही हो क्योंकि, जगत के स्रष्टा आप सर्वगत हैं । अनन्त भगवान् के सर्वगत होने से हम वही हैं ।

वासुदेव के विषय में ऐसा ज्ञान सम्पन्न महा विवेकी महात्मा दुर्लभ है । अर्थात् करोड़ों मनुष्यों में कहीं एक पाया जाता है । श्रीमद्भागवत में भी यही बात कही गयी है :—

यथा :—"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ।" अर्थात्—हे महामुने, करोड़ों मुक्तसिद्धों में भी नारायणपरायण और प्रशान्त आत्मा वाला मनुष्य पाना दुर्लभ है ॥१९॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

तदेवमार्तादिचतुर्विधभक्तेषु ज्ञानिनो दुर्लभत्वकथनादुत्कर्ष उक्तः । इतरेषां त्रयाणामपि क्रमेण निष्कामत्वपूर्वकज्ञानद्वारा क्रमेण मोक्षभागित्वमुक्तमिदानीं स्वभक्तानामेवोत्कर्षद्योतनाय ये राजसतामस-बहुलाः सुकृतहीनाः प्राचीनक्षुद्रकामवासनानिबद्धहृदयास्ते भगवद्व्यतिरिक्तदेवताराधनपरा भूत्वा संसरन्तीत्याह—कामैरिति चतुर्भिः । तैस्तैरनादिवासनानुसारिभिः स्त्रीपुत्रवित्तवशीकरणमोहनस्तम्भन-शत्रुमारणोच्चाटनादिविषयैः कामैरमिलाषैर्हृतमपहृतं भगवतः सर्वेश्वराद्वैमुख्योत्पादनपूर्वकं तत्तदभि-लाषपूरकत्वेनाभिमतान्यदेवताऽभिमुखीकृतं ज्ञानं ज्ञानकरणमन्तष्करणं येषां तेऽन्यदेवताः श्रीभगवतो वासुदेवादन्याः स्वतः शुद्धिहीनाः कालविद्रुता रजस्तमःप्रधानाः तं तं नियमं तत्तद्देवतासम्बन्धिनियमं व्रतदीक्षाचिह्नविधारणतन्मन्त्रस्तोत्रजपादिरूपं तत्तत्तन्त्रेऽभिहितमास्थाय दृढबुद्ध्याऽऽश्रित्य प्रपद्यन्ते, अर्चनस्तवनप्रदक्षिणनमस्कारादिलक्षणभजनेन तदाश्रिता भवन्तीत्यर्थः । तत्रापि स्वया स्वकीयया प्रकृत्या पूर्वाभ्याससंस्कारजन्यस्वभावेन नियता वशीकृता इत्यर्थः ।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

ननु "सर्वदेवमयो हरिरि"ति वचनात्सर्वदेवमयस्य हरेरेव सर्वदेवतामूर्त्तयस्तासां मध्ये यां

आर्त्त आदि चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी की दुर्लभता कह कर उसका उत्कर्ष दिखलाया। फिर यह भी कहा कि तीनों प्रकार के भक्त धीरे २ निष्काम पूर्वक ज्ञान द्वारा मोक्ष के भागी होते हैं। अब अपने सब भक्तों का उत्कर्ष दिखाने के लिए चार श्लोकों से यह कहते हैं कि जो राजस-तामस-प्रधान और सुकृतहीन पुरुष हैं और प्राचीन क्षुद्र कामवासनाओं से जिसका हृदय बँधा हुआ है वे हमको छोड़ और देवताओं के आराधन में तत्पर होकर संसार-यात्रा करते हैं।

अनादि वासना के अनुसार स्त्री, पुत्र, धन, वशीकरण, मोहन, स्तम्भन, शत्रुमारण, उच्चाटन आदि अभिलाषाओं से जिन मनुष्यों का ज्ञान, अर्थात् ज्ञान का कारण अन्तःकरण, अपहृत हो गया है अर्थात् ये कामनाएँ जिनके अन्तःकरण को सर्वेश्वर मुझ भगवान् से विमुखता पैदा कर उन २ अभि-लाषाओं की पूर्ति के लिए अन्य देवताओं के अभिमुख करती हैं, वे मनुष्य मुझ भगवान् को छोड़ दूसरे स्वतः शुद्धि हीन, काल के भय से भागते हुए, रज और तम प्रधान देवताओं के नियमों में अर्थात् उनके तन्त्रों में कहे गये व्रत, दीक्षा, चिह्नधारण, मन्त्र, स्तोत्र, जप आदि में दृढ़ बुद्धि से स्थित होकर उनकी शरण में हो जाते हैं। भाव यह कि उन्हीं के अर्चन, स्तवन, प्रदक्षिणा, नमस्कार आदि रूप भजन द्वारा उनके आश्रित होते हैं, क्योंकि वे भी अपने पूर्व अभ्यास के संस्कार से उत्पन्न स्वभाव के वशीभूत रहते हैं ॥२०॥

यहाँ यह शंका हो सकती है कि इस वचन के अनुसार कि "सर्वदेवमयो हरिः" अर्थात् भगवान्

काञ्चिदपि देवतामूर्त्तिं भजतस्तद्द्वारेण हरिभक्तिः स्यादिति नाशासनीयमित्याह—यो यो यामिति। अन्य-देवताभक्तानां मध्ये यो यो भक्तः यां यां तनुं देवतामूर्तिं श्रद्धया अर्चितुमर्चयितुमिच्छति, तदर्थं प्रवर्त्तते तस्य तस्य कामिनो भक्तस्य तामेव देवताविषयां श्रद्धां पूर्ववासनानुरूपामचलां दृढां विदधामि साधयामि तत्रैव नियोजयामि, नतु स्वविषयां श्रद्धां कारयामीत्यर्थः।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

ततश्च स कामी भक्तस्तया मद्विहितया देवताविषयया श्रद्धया युक्तस्तस्या देवतातन्वा राधन-माराधनमीहते करोति। ततो देवतातन्वाः सकाशात्कामानभिलषितान्विषयान्पूर्वं सङ्कल्पितांल्लभते च। ननु त्वदितरदेवताभक्तस्य तत्प्रसादात्स्वेष्टसिद्धौ तस्या देवतायाः स्वातन्त्र्यं सिद्धं, तर्हि किं ते वैशिष्ट्यं ? यतस्तवाराधनस्यैव श्रैष्ठ्यं स्यादिति चेत्तत्राह—मयैव विहितानिति। सर्वकर्मफलप्रदात्रा तत्तद्देवता-ऽन्तर्यामिणा मयैव विहितांस्तदाराधनानुसारं निर्मितान् नहि देवतानां स्वातन्त्र्येण फलदाने शक्तिः। हि प्रसिद्धमेतच्छास्त्रे "कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवास" इति वेदे "एकस्त्वमस्य लोकस्य स्रष्टा संहार-कस्तथा। अध्यक्षश्चानुमन्ता च गुणमायाविवर्जितः। लोकयात्राप्रसिद्ध्यर्थं स्रष्टब्रह्मादिरूपिणे।

सर्व देवमय हैं सब देवताओं की मूर्त्ति हरि ही की मूर्त्ति है और इसलिये किसी भी देवता के भजन करने से भगवान् की भक्ति हो सकती है। इस शंका के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि ऐसी आशा करनी व्यर्थ है। क्योंकि अन्य देवताओं के भक्तों में जो जो जिस जिस देवता की मूर्त्ति की श्रद्धा के साथ पूजा की इच्छा करता है और उसमें प्रवृत्त होता है उस २ कामनायुक्त भक्त की उसी २ देवता विषयक पूर्व वासनानुरूप श्रद्धा को मैं दृढ़ करता हूँ। मतलब यह कि मैं उसी २ देवता में उसको लगाता हूं। अपने विषय में उसकी श्रद्धा मैं नहीं करता ॥२१॥

यह कामनायुक्त भक्त मुझसे विहित उस श्रद्धा से युक्त होकर उसी देवतामूर्त्ति की आराधना करता है और उसीसे पूर्व में संकल्पित अभिलषित पदार्थ को पाता है।

अब यहाँ यह शंका है कि यदि दूसरे देवताओं के भक्त उनके प्रसाद से अपनी इष्ट सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, तो ये देवता स्वतन्त्र हैं तब आप की विशेषता क्या रही और आपकी आराधना करने में कौन सी श्रेष्ठता है ? इसी शंका को दूर करने के लिये भगवान् कहते हैं कि ये देवता कर्म के फल देने में स्वतन्त्र शक्ति वाले नहीं हैं। मुझसे विहित फलों को अर्थात् जिन फलों का उन देवताओं की आराधना-नुसार मैंने निर्माण किया है, वे ही फल दे सकते हैं क्योंकि मैं उनका अन्तर्यामी होने के कारण सर्व कर्म फल का दाता हूँ। यह बात वेद में भी प्रसिद्ध है। यथा :—"कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः" अर्थात् भगवान् कर्म के अध्यक्ष और सब जीवों में स्थित हैं। शास्त्र इस बात को अनुमोदन करता है यथाः— "एकस्त्वमस्य लोकस्य स्रष्टा संहारकस्तथा। अध्यक्षश्चानुमन्ता च गुणमायाविवर्जितः॥ लोकयात्रा प्रसिद्ध्यर्थं स्रष्टब्रह्मादिरूपिणे। इज्य फलात्मने तुभ्यम्।" अर्थात् आप एक ही इस लोक के स्रष्टा,

इज्यफलात्मने तुभ्यमि"त्यादिसात्त्वततन्त्रे "सकलफलप्रदो हि विष्णुरि"त्यादिशास्त्रे भगवत एव फलप्रदत्वं प्रसिद्धम् ।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

स्यादेतदन्यदेवभक्ता अपि त्वद्दत्तानेव कामान्देवेभ्यो लभन्त इति । एवमपि न तेषां काऽपि क्षतिः फलसिद्धेरविशेषादतस्तेभ्यस्त्वद्भक्तानां को विशेष इति चेत्तत्राह—अन्तवदिति । तु शब्दो महद्विशेषं दर्शयति । अल्पमेधसां मन्दप्रज्ञत्वेन तत्त्वविवेचनेऽकुशलानां तेषां तत्तद्देवताभक्तानां तदेव विशेषाराधनजं फलं तदध्यक्षेण मया दत्तमपि साक्षान्मदाराधनाभावादन्तवद्विनाश्येव भवति । कुतः ? यतो देवानिन्द्रादीन्ये यजन्ते ते देवयजस्तानेवान्तवतः कालविद्रुतान् देवान्यान्ति प्राप्नुवन्ति । यद्युपास्यभूता देवा एवान्तवन्तस्तर्हि तद्दत्तं फलमन्तवद्भवेदिति किमु वक्तव्यमिति भावः । मद्भक्तास्तु अपिशब्दात्प्रथमं मत्प्रसादात्कामानपि प्राप्नुवन्ति पश्चान्मद्भजनप्रभावान्निष्कामा भूत्वा मामनन्तस्वरूपगुणमहिमानं यान्ति प्राप्नुवन्ति । अतः सकामा अपि मद्भक्ता अन्यदेवताभक्तवन्न संसरन्तीति महान्विशेषः ।

संहारकर्त्ता, अध्यक्ष और अनुमन्ता हैं । गुण और माया से विवर्जित हैं । लोक यात्रा के लिए सिरजे गये ब्रह्मा आदि रूप और यज्ञ के फल स्वरूप हैं । सात्त्वततन्त्र में भी लिखा है कि "सकलफलप्रदो हि विष्णुः" अर्थात् सकल फल के देने वाले विष्णु हैं इस प्रकार भगवान् ही सकल फल के दाता हैं यह शास्त्र में प्रसिद्ध है ॥२२॥

यह बात हो कि अन्य देवता के भक्त भी आपके ही दिये हुए फलों को उन देवताओं से पाते हैं; पर इसमें उनकी क्षति कौनसी हुई, क्योंकि फल सिद्धि तो उनकी होती है और आपके भक्तों की उनके भक्तों से विशेषता क्या रही ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् देते हैं । "तु" शब्द के व्यवहार से भगवान् ने अन्य देवता के भक्त में और अपने भक्त में महत् विशेषता बतायी ।

मन्द बुद्धि होने के कारण तत्व के विवेचन में अकुशल अन्य देवता भक्तों को अपने २ देवता के आराधन से उत्पन्न फल मेरे द्वारा पा लेने पर भी साक्षात् मेरी आराधना के अभाव से वे फल विनाशी होते हैं अर्थात् चिरस्थायी नहीं होते । इसका कारण यह है कि इन्द्रादि देवों की पूजा करने वाले उन्हीं अन्त होने वाले और काल के भय से भागने वाले देवों को प्राप्त करते हैं और जब उनके उपास्यभूत देवता ही लोग अन्त वाले हैं अर्थात् काल में उनका अन्त वा नाश हो जाता है तब उनका दिया हुआ फल भी अन्त वाला वा नाशवान होगा, इसमें कहना ही क्या है ? मेरे भक्त इन अन्य देव-भक्तों से विलक्षण हैं । वे मेरे प्रसाद से अपनी अभिलाषाओं को भी प्राप्त करते हैं । पीछे मेरे भजन के प्रभाव से निष्काम होकर वे मुझको, जो अनन्त स्वरूप गुण वाला हूं, पाते हैं । (अपि शब्द का यही भाव है) । मतलब यह कि कामनायुक्त भी मेरा भक्त अन्य देवभक्तों के समान संसार के चक्कर में नहीं पड़ता । यही उसकी विशेषता है ॥२३॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

यद्येवं त्वदाराधनमेव सर्वोत्तमं चेत्तर्हि सर्वोऽपि लोको देवान्तरं हित्वा अनन्तफलदं देवदेवं सर्वेश्वरं त्वामेव निश्चित्य किमिति न भजतीत्यत आह—अव्यक्तमिति । "यं न देवा न मुनयो न चाहं न च शङ्करः । जानन्ति परमेशाख्यं तद्विष्णोः परमं पदमि"ति वचनात् ब्रह्मशिवाद्यगोचर ईश्वरेश्वरः सर्वैर्ब्रह्मादिभिः स्वाभीष्टलाभाय कर्मभिराराधितः परमकारुण्यादाश्रितवत्सलत्वाच्च सर्वलोकहिताय जहत्स्वस्वरूपगुणशक्तिरेवाहं वसुदेवगृहेऽवतीर्ण इत्येवमव्ययं परं सर्वोत्कृष्टमत एवानुत्तमं मम भावं प्रादुर्भावमजानन्तोऽबुद्धयः सद्गुर्वाश्रयणाभावान्मज्ज्ञानार्हबुद्धिहीना इतः पूर्वमव्यक्तमनभिव्यक्तमिदानीं कर्मविशेषाद्वसुदेवगृहे व्यक्तिमापन्नं जन्म प्राप्तं क्षत्रियसजातीयं कञ्चिज्जीवविशेषं मन्यन्ते, ननु परमेश्वरमतो न मां कर्मभिराराधयन्ति । किन्तु मनुष्यबुद्ध्या मां विहायेन्द्रादिदेवानेवाराधयन्तीत्यर्थः ।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

ननु सर्वयोगिध्येयस्य दिव्याप्राकृताद्भूताविष्कृतरूपस्य शङ्खचक्रगदादिदिव्यायुधधारिणश्चतुर्भुजस्य श्रीवत्सकौस्तुभवनमालाकिरीटकुण्डलादिदिव्यलक्ष्मवतो ब्रह्मरुद्रादिजयिनो मन्मथगर्वापहारिणो

यदि आपकी आराधना ही सर्वोत्तम है तो मनुष्य अन्य देवों को छोड़ आप ही को, अनन्त फलदाता, देवों का भी देव और सर्वेश्वर निश्चयकर, आपकी पूजा क्यों नहीं करते ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् यहाँ देते हैं । "यं न देवा न मुनयो न चाहं न च शंकरः । जानन्ति परमेशस्य तद्विष्णोः परमं पदम्", जिसको न देवता, न मुनि, न शंकर और न हम अर्थात् ब्रह्मा जानते हैं, उसी परमेश विष्णु का वह परमपद वा स्थान है । ऐसा, ब्रह्मा शिवादि से अगोचर, ईश्वरों का ईश्वर, ब्रह्मादिक सबों से अपनी अभीष्ट प्राप्ति के लिये आराधित, मैं, परम करुणा के वश हो, आश्रितों पर वत्सलता के कारण और सब लोक के हित के लिये अपने स्वरूप गुण शक्ति को बिना छोड़े हुए ही वसुदेव के गृह में अवतार लिया हूँ । ऐसा जो मेरा अव्यय, सर्वोत्कृष्ट और अनुत्तम (सर्वश्रेष्ठ) भाव अर्थात् जन्म है उसको नहीं जानते हुए मूढ़ लोग, सद्गुरु के आश्रय के अभाव से, मुझको जानने योग्य बुद्धि से हीन हो, ऐसा समझते हैं कि इस समय के पूर्व में मैं अव्यक्त (अप्रगट) था और कर्मविशेष के वश में होकर वसुदेव के घर में अब जन्म लिया है । मुझको वे क्षत्रियों का सजातीय कोई जीवविशेष ही मानते हैं, मुझको परमेश्वर नहीं समझते । इसीलिये कर्मों द्वारा मेरी आराधना नहीं करते हैं । मुझ में मनुष्य बुद्धि होने के कारण वे, मुझको छोड़ इन्द्रादि देवों की ही पूजा करते हैं ॥२४॥

सब योगियों के ध्येय, दिव्य, अप्राकृत रूपवाले, शंख, चक्र, गदादि दिव्य आयुधों को धारण करनेवाले, चतुर्भुज, श्रीवत्स, कौस्तुभ, बनमाला, किरीट, कुण्डल आदि दिव्य चिह्नों से युक्त, ब्रह्म रुद्रादि को जय करनेवाले, कामदेव के गर्व को हरनेवाले, युद्ध में शिव इन्द्रादि को जीतनेवाले,

युद्धे त्रिनयनसहस्राक्षादिजेतुर्नरकासुरजरासन्धपौण्ड्रकचेदिपादिसंहर्त्तुः सर्वदेवासुरमनुष्येष्वसम्भावितपराक्रमस्य सर्वेश्वरस्य तव ज्ञानं सर्वेषां कुतो न जायते, इत्यपेक्षायामाह। सर्वजीवविजातीयस्वरूपगुणैश्वर्योऽप्यहं सर्वस्य लोकस्य जनस्याहं न प्रकाशः, अप्राकृतेन स्वेन रूपेण प्रकटो न भवामि। किन्तु कस्य चिदेव स्वानन्यभक्तस्य प्रकटो भवामि। तथोक्तं नारायणीयाख्याने श्वेतद्वीपपतिना नारदं प्रति—

"एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः।
इदं मे समनुप्राप्ता मम दर्शनलालसाः॥
न च मां ते ददृशिरे नतु द्रक्ष्यति कश्चन।
ऋते ह्येकान्तिकं चैषां त्वं चैवैकान्तिको मम"ति॥

तत्र हेतुमाह—योगमायासमावृत इति। योगो मत्सङ्कल्पस्तदधीना माया योगमाया मनुष्यसमानरूपता, तया अयमभक्तलोको मां यथाऽवस्थितदिव्याप्राकृतरूपं न जानात्विति मदिच्छावशवर्त्तिन्या मायारूपजवनिकया समावृतः सम्यगाच्छन्नः न दर्शनमुपगच्छामि। तया योगमायया मूढ आवृतज्ञानोऽयं मद्भक्तव्यतिरिक्तः सर्वोऽपि लोको मामजं जीववत्कर्मनिमित्तजन्मशून्यं स्वेच्छया लीलार्थमाविर्भूतमव्ययमजहत्स्वरूपगुणशक्तिकं नाभिजानाति, साक्षात्परमेश्वरोऽयमिति न जानाति। किन्तु मनुष्यविशेषमेव मन्यते।

नरकासुर, जरासन्ध, पौण्ड्रक, शिशुपाल आदि को मारनेवाले, सब देव, राक्षस मनुष्यों से पराक्रम की थाह न लगनेवाले, सब ईश्वरों के ईश्वर आपका ज्ञान सबको क्यों नहीं होता? इसी प्रश्न को लक्ष करके भगवान् कहते हैं।

सबसे विजातीय स्वरूप, गुण और ऐश्वर्यवाला भी मैं सब लोगों के सामने अपने अप्राकृत (दिव्य) रूप से प्रगट नहीं होता हूँ किन्तु किसी अपने अनन्य भक्त ही के सामने अपने अप्राकृत रूप को प्रगट करता हूँ। नारायणी आख्यान में नारदजी के प्रति श्वेतद्वीपपति का ऐसा ही बचन है :—

"एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः।
इदं मे समनुप्राप्ता मम दर्शनलालसाः॥
न च मां ते ददृशिरे न तु द्रक्ष्यति कश्चन।
ऋते ह्येकान्तिकं चैषां त्वं चैवैकान्तिको मम॥"

अर्थात् एकत्, द्वित् और त्रित् महर्षि लोग मेरे पास आये, पर वे मुझको नहीं देख सके, कोई भी मुझको नहीं देख सकेगा। केवल वही मुझको देख सकेगा जो मेरा एकान्त भक्त है। तुम्हीं मेरे एकान्त भक्त हो। ऐसा होने का कारण बताते हैं। योग अर्थात् मेरा संकल्प और उसके अधीन जो माया (योगमाया) अर्थात् मनुष्य की समानरूपता, उससे अभक्त लोग मेरे यथार्थ दिव्य और अप्राकृत स्वरूप को नहीं जानते। उस प्रकार की मेरी इच्छा के वशवर्त्ती मायारूपी परदे से पूर्णरूप से आच्छादित होने के कारण मैं लोगों के दर्शन का विषय नहीं होता हूँ। उस योगमाया ने मूढ़ बनकर अर्थात् ज्ञानाच्छादित होकर मेरे भक्तों को छोड़ और सभी लोग मुझ अजन्मा को जीवों के समान

वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन ! ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

योगमायासमावृतोऽहं लोकस्य न प्रकाश इत्युक्तमिदानीं मायाया नियन्तुर्मम तया कथञ्चित्कदाचिदपि न ज्ञानावरणं किन्तु तद्वश्यानामेवेत्यतो मां न जानन्तीत्याह—वेदाहमिति । अहं परमेश्वरः स्वयोगमायया सर्वान् जीवान् व्यामोहयन्नपि स्वयं सर्वदाऽप्रतिबद्धज्ञानः समतीतानि बहुकालतो विनष्टानि वर्त्तमानानि च भविष्याणि चेति कालत्रयवर्त्तीनि भूतानि स्थावरजङ्गमानि सर्वाणि वेद, जानामि हे अर्जुन ! अतोऽहं सर्वदाऽखण्डज्ञानत्वात्सर्वज्ञः । मां तु सर्वदा सर्वत्र विद्यमानमपि मायावश्यः कश्चन कोऽपि मद्भक्तिवर्जितो न वेद, अतो मायामोहितत्वान्मां न प्रायेण भजत इत्यर्थः ।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ! ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ! ॥२७॥

तदेवं जीवानां भगवत्तत्त्वज्ञानाभावे मायाया हेतुत्वमुक्तं, पुनस्तदज्ञानदार्ढ्ये तत्कार्यस्य हेतुत्वमाह—इच्छाद्वेषसमुत्थेनेति । इच्छाऽनुकूलविषये रागः, द्वेषः प्रतिकूलविषयेऽप्रीतिस्ताभ्यां पूर्वपूर्वजन्मन्य-

---

कर्मनिमित्त जन्म से शून्य, स्वइच्छा से लीला के लिये अवतरित और अनन्तस्वरूप, गुण, शक्तियुक्त नहीं जानते अर्थात् मुझे साक्षात् परमेश्वर नहीं समझते । वे यही जानते हैं कि ये कृष्ण भी एक मनुष्य विशेष है ॥२५॥

योगमाया से मेरे घिरे रहने के कारण मुझको लोग नहीं देख सकते यह बात पीछे के दो श्लोकों में कह आये हैं । अब यहाँ यह कहते हैं कि माया के नियन्ता होने के कारण उस माया से मेरे ज्ञान का कभी भी और तनिक भी आवरण नहीं होता, पर माया के अधीन रहनेवाले जीवों का ज्ञानावरण होता है । इसी से जीव मुझको नहीं जानते ।

अपनी योगमाया से सब जीवों को मोहता हुआ भी मैं स्वयं सर्वदा ज्ञानावरणहीन हो बहुकाल से विनष्ट, वर्तमान और भविष्य में जो होंगे अर्थात् भूत, भविष्य, वर्त्तमान, तीनों काल में स्थित सब स्थावर जङ्गम आदि जीवों को जानता हूँ । हे अर्जुन ! इसलिये सर्वदा अखण्डज्ञान होने के कारण मैं सर्वज्ञ हूँ ।

मैं सर्वदा सर्वत्र विद्यमान हूँ, पर तौभी माया के वश में होने के कारण मेरी भक्ति से शून्य कोई भी जीव मुझे नहीं जानता । मतलब यह कि माया से मोहित होने के कारण मुझे लोग प्रायः नहीं भजते हैं ॥२६॥

जीवों के भगवत्तत्व के न जानने में माया (भगवतसंकल्प) ही कारण है, ऐसा कहा । अब यह कहते हैं कि उस अज्ञान को दृढ़ करने में उसी माया के कार्य ही कारण हैं ।

अनुकूल विषय में राग को इच्छा कहते हैं और प्रतिकूल विषय में अप्रीति को द्वेष कहते हैं ।

भ्यस्ताभ्यां समुत्थेन सम्यगुत्पन्नेन शीतोष्णसुखदुःखादिरूपद्वन्द्वनिमित्तेन मोहेन अहं सुखी अहं दुःखीत्यादि-विपर्ययरूपेण सर्वभूतानि प्राणिनः सर्गे स्थूलदेहोत्पत्तौ सत्यां सम्मोहं विभ्रमं सुखदुःखादिविशिष्टे नश्वरे देहे एवात्माभिमानं यान्ति प्राप्नुवन्ति । ननु देहाद्यतिरिक्तमात्मानं जानन्ति, कुतो मां सर्वान्तर्यामिणं हे परन्तप ! अतो रागद्वेषजन्यसम्मोहाभिभूतान्तःकरणाः प्राणिनो मां सर्वेश्वरं न जानन्त्यतो न भजन्ते ।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

ननु यदि सर्ग एव सर्वभूतानि सम्मोहं यान्ति चेत्कथं तर्हि केचित्त्वां भजन्तो दृश्यन्त इत्यत आह :—येषामिति । येषां तु पूर्वजन्मसुकृतपुण्यकर्मणां जनानां सुकृतकार्यभूतोत्तमजन्मवतां पूर्वजन्मकृत-पुण्यबलाज्जन्मत एव ज्ञानप्रतिबन्धकं पापमन्तगतमन्तमवसानं प्राप्तं नष्टमित्यर्थः । ते निष्पापाः सन्तो रागद्वेषनिमित्तेन द्वन्द्वमोहेन विपर्ययज्ञानेन निर्मुक्ता निःशेषेण मुक्तास्तत्त्वज्ञानार्हा दृढव्रताः सन्तो मां सर्वज्ञं सर्वकारणं सर्वेश्वरं सर्वकर्मफलप्रदातारमाश्रितवात्सल्यजलधिं भजन्ते, सर्वात्मना सेवन्ते ।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

ततस्ते भगवन्तं भजमाना ज्ञातव्यविशेषान्विज्ञाय कृतार्था भवन्तीत्याह—जरामरणेति ।

पूर्व जन्मों में अभ्यास किये गये इच्छा द्वेषों के द्वारा उत्पन्न, ठंडा गरम, सुख दुःख आदि रूप द्वन्द के लिये मोह, अर्थात् मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, ऐसा विपर्यय, सब जीवों को, स्थूल देह की उत्पत्ति होने पर, विभ्रम पैदा करता है । अर्थात् जीव को सुख दुःख से युक्त नाश होनेवाले शरीर में आत्माभिमान हो जाता है । वह अपने को अर्थात् अपने आत्मा को देह से पृथक् नहीं जानता और जब अपने आत्मा ही को नहीं जानता तो मुझको, जो सबका अन्तर्यामी हूँ क्या जानेगा ? इस प्रकार राग द्वेष से उत्पन्न मोह से अभिभूत अन्तःकरणवाले जीव मुझ सर्वेश्वर को नहीं जानकर मेरा भजन नहीं करते हैं ॥२७॥

यदि संसार में सब जीव मोह ही को प्राप्त होते हैं तो कुछ लोग आपका भजन करते हुए कैसे देख पड़ते हैं ? भगवान् इसका उत्तर देते हैं ।

जो लोग पूर्व जन्म में सुकृत किये हुए हैं और उसके बल से उत्तम जन्म पाये हैं, और ज्ञान के प्रतिबन्धक पाप जिनके नाश हो गये हैं वे ही पापरहित पुरुष, राग द्वेष से उत्पन्न द्वन्द मोह से छूट और इस प्रकार तत्वज्ञान के योग्य बन, दृढ़व्रत होकर सर्वज्ञ, सबके कारण, सबके ईश्वर, सबके कर्म के फलदाता और आश्रितों के लिये वात्सल्य के समुद्र, मुझको भजते हैं अर्थात् सर्व प्रकार से मेरी सेवा करते हैं ॥२८॥

ऐसे लोग भगवान् का भजन करते हुए जानने योग्य बातों को जानकर कृतार्थ होते हैं । इसी को यहाँ कहते हैं :—

जरामरणयोर्मोक्षाय निरासाय मां भजतां यथेष्टफलदातारमाश्रित्य शरणं गत्वा ये यतन्ति यतन्ते फलाभिसन्धिशून्यानि मत्प्रीणाय कर्माणि कुर्वन्ति, ते शुद्धान्तःकरणाः सन्तः तद्ब्रह्म विदुः, कृत्स्नमध्यात्मं च विदुः। कर्म चाखिलं विदुः।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

अन्यानपि वेत्ऋन्समुचीय तद्वेदनफलं वदन्नध्यायमुपसंहरति—साधिभूताधिदैवमिति। अधिभूतेनाधिदेवेन च तथा अधियज्ञेन च सह मां येऽर्थार्थिनो ज्ञानिनो वा विदुः, ते सर्वे प्रयाणकालेऽपि मरणसमयेऽपि स्वप्राप्यफलानुगुणं मां विदुः। ब्रह्माध्यात्माधिभूतादिशब्दानामर्थमनन्तराध्यायेऽर्जुनप्रश्नपूर्वकं श्रीभगवानेव वक्ष्यति।

स्वैश्वर्यं भक्तश्रैष्ठ्यं च बन्धमोक्षादिकारणम्।
स्वभक्तकृपयैवेह सप्तमे हरिणोदितम् ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्विजयि श्रीकेशव-काश्मीरिभट्टाचार्यविरचितायां सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

जरा और मरणावस्था से मोक्ष पाने के लिये मुझको, जो भजनेवालों को यथेष्ट फल का दाता हूँ, आश्रय करके अर्थात् मेरी शरण में आकर जो फल की आकांक्षा से शून्य और मेरी प्रीति के लिये कर्मों को करते हैं वे शुद्धान्तःकरण हो उस ब्रह्म को, सब अध्यात्म (वेदान्त) को और सब कर्म को जानते हैं ॥२९॥

दूसरी जानने योग्य वस्तुओं का भी उल्लेख कर और उनके जानने के फल को कहते हुए अध्याय को समाप्त करते हैं।

अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के साथ मुझको जो अर्थार्थी वा ज्ञानी जानते हैं वे सब मरणकाल में भी अपने प्राप्य फल के अनुरूप ही मुझको जानते हैं।

ब्रह्म, अध्यात्म, अधिभूत, आदि शब्दों का अर्थ अर्जुन से पूछे जाने पर भगवान् ही आगे के अध्याय में कहेंगे ॥३०॥

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

* श्रीमते निम्बार्काय नमः *

श्रीमद्भगवद्गीता

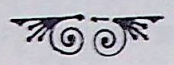

अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच ।

किं तद्ब्रह्म ? किमध्यात्मं ? किं कर्म ? पुरुषोत्तम ! ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं ? किमुच्यते ॥१॥

पूर्वाध्यायान्ते यथाधिकारिज्ञेया ब्रह्माध्यात्मादिसप्तपदार्था भगवता निर्दिष्टास्तद्व्याख्यारूपोऽयमष्टमाध्याय आरभ्यते । तत्र निर्दिष्टमात्रान्मुमुक्षुभिर्ज्ञातव्यान् ब्रह्माध्यात्मादिपदार्थान् बुभुत्सुरर्जुन उवाच—किं तद्ब्रह्मेति द्वाभ्याम् । जरामरणमोक्षाय भगवन्तं त्वामाश्रित्य यतमानानां ज्ञातव्यतयोक्तं तद्ब्रह्म किं ? किमध्यात्मम्, आत्मानं देहमधिकृत्य तस्मिन्प्राधान्यतया तिष्ठत्यध्यात्मं किं विवक्षितं ? तथा कर्म चाखिलमित्यत्र कर्म किं कीदृशं विवक्षितं ? त्वं सर्वज्ञो जानासि नान्य इति सम्बोधयति—पुरुषोत्तम इति । अधिभूतं च किं प्रोक्तं भूतान्याकाशादीन्यधिकृत्य यत्कार्यं तदधिभूतशब्देनोच्यते किं वाऽन्यत् ? अधिदैवं किमुच्यते देवानामधिष्ठातृ इन्द्रादि किमन्यद्वा ? ।

पूर्व अध्याय के अन्त में भगवान् ने डेढ़ श्लोकों से यथाधिकार पुरुषों द्वारा जानने योग्य अध्यात्म आदि सात पदार्थों को संक्षेप से कहा । इस आठवें अध्याय में उन्हीं पदार्थों की व्याख्या करते हैं ।

पीछे जिन ब्रह्म, अध्यात्म आदि पदार्थों का भगवान् ने केवल निर्देश किया, मुमुक्षुओं के जानने योग्य, उन पदार्थों को अच्छी रीति से जानने के लिये अर्जुन ने भगवान् से पूछा । पहले दो श्लोकों में अर्जुन के प्रश्न हैं ।

हे पुरुषोत्तम ! (पुरुषोत्तम कह के भगवान् को सम्बोधन करने का अर्थ यह है कि आप सर्वज्ञ हैं और हमारे प्रश्नों का उत्तर आप ही दे सकते हैं और दूसरा नहीं) आपका आश्रय करके यत्नशील पुरुषों को जरा मरण से छुटकारा पाने के लिये जिस ब्रह्म को जानना चाहिये वह ब्रह्म क्या है ? जो आत्मा अर्थात् शरीर पर अधिकार कर उसमें प्रधानता से स्थित है वह अध्यात्म क्या है ? यत्नशील पुरुषों द्वारा जानने योग्य कर्म क्या है ? अधिभूत क्या है ? आकाशादि भूतों पर अधिकार कर जो कार्य होता है वही अधिभूत कहा जाता है वा दूसरा कोई ? अधिदैव किसे कहते हैं ? देवताओं पर अधिकार करनेवाले इन्द्रादिकों को ही अधिदैव कहते हैं वा दूसरे किसी को ? ॥१॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेस्मिन्मधुसूदन ! ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

अधियज्ञः यज्ञेऽधिकृतः यदुद्देशेन यज्ञो निर्वर्त्यते स तत्सम्प्रदानभूतोऽत्रास्मिन्यज्ञाधिकारिजने क इन्द्रादिदेवविशेषो वा सर्वाधिष्ठाता सर्वात्मा परमेश्वरो वा ? परमेश्वरश्चेत्सोऽस्मिन्देहे तद्बहिर्वा ? स चाधियज्ञः कथं केन प्रकारेण तस्याधियज्ञतेत्यर्थः । दैत्यराजनाशकस्य तवैतत्संशयनिवारणं कियदित्याशयेन सम्बोधयति—मधुसूदनेति । प्रयाणकाले मरणसमये नियतात्मभिः संयतचित्तैः कथं ज्ञेयोऽसि ।

श्रीभगवानुवाच ।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः ॥३॥

अर्जुनप्रश्नानामुत्तरं क्रमेण त्रिभिः श्लोकैः श्रीभगवानुवाच, तत्र तावत्त्रयाणामुत्तरमेकेनाह—अक्षरमिति । अक्षरं न क्षरति न विनश्यतीत्यक्षरं क्षेत्रज्ञसमष्टिरूपं "अविनाशी वाऽरेऽयमात्मे"ति श्रुतेः । "अव्यक्तमक्षरे लीयते अक्षरं तमसि लीयते"इत्यादिश्रुतेश्चाक्षरशब्दवाच्यं बद्धक्षेत्रज्ञस्वरूपं निर्दिष्टं, परममक्षरं तु प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपं ब्रह्मशब्दार्थतयाऽत्र ज्ञेयं, प्रकृतिवियुक्तस्य धर्मभूतज्ञानविकाशाद्ब्रह्मवत्सार्वज्ञ्ययोगादित्यर्थः । यद्यपि "एतद्वैतदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्ती"त्यादिश्रुतौ

हे मधुसूदन ! (मधुसूदन सम्बोधन करने का अभिप्राय यह है कि आप मधु नाम के दैत्यराज को मारनेवाले हैं इसलिये मेरा संशय दूर करना आपके लिये कोई मुश्किल बात नहीं है ।) जिनके उद्देश्य से यज्ञ किया जाता है वह यज्ञ का सम्प्रदान अधिकारी कौन है ? इन्द्रादि कोई खास देवता यज्ञाधिकारी हैं वा स्वयं सर्वात्मा परमेश्वर ही ? यदि स्वयं परमेश्वर ही अधियज्ञ हैं तो यज्ञकर्त्ता के शरीर के भीतर अन्तर्यामीरूप से हैं वा बाहर ? फिर उनकी अधियज्ञता किस प्रकार की है ? जिन्होंने अपने चित्त को जीत लिया है, वे प्राण छूटने के समय अपने आपको कैसे जान सकते हैं ? ॥२॥

भगवान् अर्जुन के प्रश्नों का उत्तर क्रम से तीन श्लोकों में देते हैं । इस श्लोक में अर्जुन के पहले तीन प्रश्नों का उत्तर है ।

जीव की समष्टि वा समूह को अक्षर कहते हैं क्योंकि उसका नाश नहीं होता । आत्मा के अविनाशी होने में श्रुति प्रमाण है, यथा "अविनाशी वाऽरेअयमात्मा" अर्थात् यह आत्मा अविनाशी है । पर श्रुति ने "अक्षर" शब्द से बद्ध जीव का निर्देश किया है (यथा "अव्यक्तमक्षरे लीयते, अक्षरं तमसि लीयते" अर्थात् प्रकृति अक्षर वा बद्धजीव में लीन होती है और अक्षर तम (अन्धकार) में लीन होता है), इसलिये इसे श्लोक में "परमं अक्षरं" कहा । परम अक्षर कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृतिसम्बन्ध से छुटकारा पाये हुए शुद्ध आत्मस्वरूप ही को ब्रह्म कहते हैं, बद्धजीव समूह को नहीं । प्रकृतिवियुक्त होने से शुद्ध आत्मस्वरूप के धर्मभूत ज्ञान का विकाश हो जाता है और इसलिये वह ब्रह्म ही के समान सर्वज्ञता आदि गुणवाला हो जाता है । यद्यपि "अक्षर" शब्द से श्रुति परमात्मा का भी बोध

अक्षरशब्देन परमात्माऽपि निर्दिष्टस्तथाऽप्यत्र परमात्मा नोच्यते "द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत"- इत्यादिना भगवता स्वयमेवाक्षरात्परमात्मनो भेदेन वक्ष्यमाणत्वात्। स्वभावः प्रकृतिः आत्मानं जीवात्मानमधिकृत्य कार्यकारणकर्त्तृत्वादिहेतुत्वेन वर्त्तमानोऽध्यात्मशब्देनोच्यते "कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते" इति वक्ष्यमाणवचनात्। बुद्धीन्द्रियभूतसूक्ष्मरूपेण परिणतः प्रकृत्याख्यः स्वभाव-श्चेतनाधिष्ठितोऽत्राध्यात्मशब्दवाच्य इत्यर्थः। तदुभयं प्राप्यतया त्याज्यतया च मुमुक्षुभिर्ज्ञातव्यम्। भूतानां स्थावरजङ्गमादिभेदभिन्नानां भाव उत्पत्तिः उद्भवो वृद्धिस्तौ भावोद्भवौ करोति यो विसर्ग इन्द्रादिदेवतोद्देशेन द्रव्यत्यागलक्षणो यज्ञदानादिरूपः स कर्मसञ्ज्ञितः "अग्नौ प्रस्ताहुतिः सम्यगादित्य-मुपतिष्ठति। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजे"ति स्मृतेः। सोऽपि पुनरावृत्तिहेतुत्वाद्धेयतया मुमुक्षुभिर्ज्ञातव्यः।

कराती है, यथा "एतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति" अर्थात् ब्राह्मण लोग इस अक्षर ब्रह्म को प्रतिपादन करते हैं तथापि यहाँ पर इसका अर्थ परमात्मा नहीं है, क्योंकि पन्द्रहवें अध्याय में भगवान् स्वयं कहेंगे कि परमात्मा अक्षर से भिन्न है, यथा "द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः"॥ अर्थात् लोक में दो पुरुष प्रसिद्ध हैं, एक क्षर और दूसरा अक्षर। सब भूतों को क्षर कहते हैं और सब भूतों में अचलरूप से स्थित आत्मा को अक्षर कहते हैं। और इन दोनों से विलक्षण जो उत्तम पुरुष है उसको परमात्मा कहते हैं।

अध्यात्म किसको कहते हैं ? अब इसका उत्तर भगवान् देते हैं। स्वभाव (प्रकृति) को अध्यात्म कहते हैं क्योंकि स्वभाव ही कार्य कारण और कर्त्तृत्व (कर्त्तापन) आदि का हेतु होकर जीवात्मा पर अधिकार करके स्थित है। भगवान् ही के बचन इसमें प्रमाण है क्योंकि आगे चलकर भगवान् ने स्वयं कहा है कि "कार्यकारणकर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते" अर्थात् कार्य कारण और कर्त्तापने का हेतु प्रकृति अर्थात् स्वभाव ही है। कहने का भाव यह कि बुद्धि और इन्द्रिय का सूक्ष्मरूप धारण कर स्वभाव सब जीवों पर अधिकार किये हुए है और इसी से इसको अध्यात्म (अधि+आत्म) कहते हैं। इन दोनों अर्थात् परम अक्षर और अध्यात्म में पहला ग्रहण करने योग्य और दूसरा छोड़ने योग्य है ऐसा मुमुक्षुओं को जानना चाहिये।

जो यज्ञ इन्द्रादि देवों के लिये अग्नि में द्रव्यादिकों को डालकर वा दान देकर किये जाते हैं और जिनसे स्थावर जङ्गम आदि भूतों की उत्पत्ति और वृद्धि होती है उन्हीं को कर्म कहते हैं। इसमें स्मृति प्रमाण है, यथा "अग्नौप्रस्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठति। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा॥" अर्थात् अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य को पहुँचती है, सूर्य से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है। यह कर्म संसार में बार-बार लानेवाला है। इसलिये मोक्ष के चाहनेवालों को इसको हेय अर्थात् छोड़ने के योग्य समझना चाहिये।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृताम्वरः ! ॥४॥

ततस्त्रयाणां प्रश्नानामुत्तरमाह—अधिभूतमिति । अधिभूतशब्दनिर्दिष्टः क्षरो भावः, क्षरतीति क्षरो विनाशी यो भावः, वियदादिभूतपरिणामविशेषस्तदाश्रयः शब्दस्पर्शादिर्गुणाश्च ऐहिक आमुष्मिकश्च सर्वोऽपि क्षरणस्वभावः । भूतमात्रमधिकृत्य भवत्यधिभूतमित्युच्यते । पुरुषो हिरण्यगर्भः समष्टिजीवात्मा सर्वजीवाभिमानी—

स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।
आदिकर्त्ता स भूतानां ब्रह्माऽग्रे समवर्त्तते"इति श्रुतेः ॥

दैवतानि दिग्वातार्क्कवरुणाश्विनाख्यानि अधिकृत्यः सर्वेषां श्रोत्रादिकरणान्यनुगृह्णातीत्यधिदैवतमुच्यते । अधियज्ञः यज्ञाधिष्ठाता सर्वकर्मप्रवर्त्तकः अत्रास्मिन्यजमानदेहेऽन्तर्यामितया वर्त्तमानोऽहमेवाधियज्ञ-शब्दनिर्दिष्टः । यज्ञो हि देहनिर्वर्त्यत्वेन देहायत्तो दृष्टचरः, देहश्च सजीवो मदायत्तस्थितिप्रवृत्ति-कत्वान्मत्प्रवर्त्यस्तस्मादहमधियज्ञः । अथवाऽधियज्ञः सर्वयज्ञाधिष्ठाता सर्वयज्ञफलदाता चात्रास्मिन्यज्ञा-

---

अर्जुन के चौथे, पाँचवें और छठें प्रश्नों का उत्तर भगवान् इस श्लोक में देते हैं ।

हे देहभृताम्वर ! अर्थात् देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन (अर्जुन को इस प्रकार सम्बोधन करने का अर्थ यह कि तुम देहधारियों में श्रेष्ठ होने के कारण मुझको, जैसा मैं अपने को यहाँ पर कहूँगा, जानने के योग्य हो) । क्षर भाव को अर्थात् नाश होने के स्वभाव को अधिभूत कहते हैं क्योंकि आकाशादि पंचभूत के परिणाम अर्थात् कार्य और उनके शब्द, स्पर्शादिगुण नश्वर हैं, चाहे ये इस लोक के हों या परलोक (स्वर्ग) के । कहने का मतलब यह कि इस क्षर भाव का अधिकार भूतमात्र पर है इसलिये यह अधिभूत (भूतों पर अधिकार करके स्थित रहनेवाला) कहलाता है ।

जीव समष्टि (समूह) का अभिमानी हिरण्यगर्भ, सूर्य-मण्डलमध्यवर्ती ब्रह्मा को पुरुष कहते हैं (श्रुति प्रमाण—"स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते । आदिकर्त्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्त्तते ॥" अर्थात् ब्रह्मा ही सबसे पहले हुए; उन्होंने ही सबसे पहले शरीर धारण किया, वही सब जीवों के आदि कर्त्ता हैं, उन्हीं को पुरुष कहते हैं ।) यही ब्रह्मा अधिदैवत कहलाते हैं क्योंकि दिक्, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमारादि नामवाले देवताओं पर अधिकार कर सब जीवों के आँख, कान आदि इन्द्रियों को अपने अपने काम की शक्ति प्रदान करते हैं । कहने का भाव कि उन सब पर इनका अधिकार है इसलिये यही अधिदैवत हैं ।

यज्ञकर्त्ता यजमान के शरीर में, यज्ञ का मालिक सब कर्मों का करानेवाला और अन्तर्यामि-रूप से स्थित मैं ही अधियज्ञ हूँ । भगवान् का अधियज्ञ होना दो प्रकार से जाना जा सकता है । एक तो यह कि सब यज्ञ देह के आधीन हैं क्योंकि बिना देह के यज्ञ हो ही नहीं सकता और जीवयुक्त देह भगवान् के आधीन है क्योंकि उसकी स्थिति प्रवृत्ति उन्हीं पर अवलम्बित है और इस प्रकार भगवान्

विषयं गन्तुं शीलमस्य तेन चेतसा परमं पुरुषं परमेश्वरं दिव्यं द्योतनात्मकमादित्यमण्डलमध्यस्थमनुचिन्तयन् हे पार्थ ! याति प्राप्नोति ।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

पुनस्तमेव प्राप्यं पुरुषं विशिनष्टि द्वाभ्याम्—कविमिति । कविं सर्वज्ञं, पुराणं पुरातनम्, अनुशासितारं सर्वस्य जगतो नियन्तारम्—अणोरणीयांसम् । अणुपरिमाणकाज्जीवादेरपि तद्व्यापकत्वात्सूक्ष्मतरमित्यर्थः । सर्वस्य धातारम्-सर्वस्य जगत आधारं पोषकञ्च । अचिन्त्यरूपम् । अचिन्त्यमहिमत्वादि यदित्थमित्येवं चिन्तितुमनर्हं रूपं यस्य तम्, आदित्यवत्सकलजगत्प्रकाशो वर्णः प्रकाशो यस्य तं, तमसः परस्तात् । तमःशब्दवाच्यप्रकृतिकालाभ्यां परस्तादत्यन्तभिन्नमित्यर्थः ।

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन, भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ॥
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्, स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

एवम्भूतं पुरुषं प्रयाणकाले भक्त्या युक्तो योगबलेन समाधिबलेन च युक्तः सम्यक् सुषुम्णामार्गेण भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य अत एवाचलेन निश्चलेन चेतसा योऽनुस्मरेत्स तं परं पुरुषं दिव्यं प्रकाशरूपमुपैति प्राप्नोति ।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति, विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

सामान्यं योगमुक्त्वेदानीं योगशिरोयोगं वक्तुं प्रतिजानीते—यदक्षरमिति । यदक्षरं वेदविदो

अभ्यासरूप योग वा समाधि में लगा हुआ और अपने ध्येय से अन्यत्र नहीं जानेवाले निश्चल चित्त से दिव्य अर्थात् सूर्य मण्डलमध्यस्थ प्रकाशमय परमपुरुष परमेश्वर को चिन्तन करानेवाला योगी उसको प्राप्त करता है ॥८॥

फिर दो श्लोकों से उसी प्राप्त करने योग्य परपुरुष के विशेषणों को बताते हैं ।

वह परमेश्वर सर्वज्ञ, पुरातन, सब जगत् का शासक, अणुपरिमाणवाले जीवों के भी भीतर व्यापक होने के कारण अणु से भी सूक्ष्म या छोटा, सारे संसार का आधार और पोषक, अचिन्त्यरूप अर्थात् जिसकी महिमा के विषय में यह नहीं कहा जा सके कि वह ऐसा ही वा इतना ही है अथवा अन्य वस्तुओं की उपमा देकर जो नहीं समझा जा सके, सूर्य के समान सकल जगत् को प्रकाश करनेवाले तेज से युक्त, और तम अर्थात् प्रकृति और काल से बिलकुल भिन्न, ऐसे परपुरुष को, मरने के समय भक्ति और समाधिबल से युक्त हो और प्राणों को सुषुम्णा मार्ग से भौंहों के बीच रखकर और इस कारण निश्चल मन से जो मनुष्य स्मरण करता है वह उस प्रकाशरूप दिव्य परमेश्वर को प्राप्त करता है ॥९।१०॥

पीछे के श्लोकों में सामान्य योग का वर्णन कर अब यहाँ श्रेष्ठयोग को कहने की प्रतिज्ञा करते हैं—

ब्राह्मणा वदन्ति । "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्ति, अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमित्यादिवचनैः प्रतिपादयन्ति । यत् वीतरागा निवृत्तसर्वविषयस्पृहा यतयो यत्नशीला विशन्ति, स्वस्यात्मानं नियामकं परमाधाररूपं साक्षादनुभूय प्रकृतिसम्बन्धविनिर्मुक्ताः सन्तस्तदात्मीयतन्नियम्यतद्व्याप्यतदाधेयतया पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यनर्हास्तिष्ठन्ति । यदिच्छन्तो यज्ज्ञातुमिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत् पद्यते गम्यते इति पदं प्राप्यं ते तुभ्यं सङ्ग्रहेण सङ्क्षेपेण प्रवक्ष्ये, तत्प्राप्त्युपायं कथयिष्यामीत्यर्थः ।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

तमेव प्रतिज्ञातमुपायं साङ्गमाह द्वाभ्याम्—सर्वेति । सर्वद्वाराणि श्रोत्रचक्षुरादीन्द्रियद्वाराणि संयम्य बाह्यविषयग्रहणायोग्यानि कृत्वा मनश्च हृदि निरुध्य बाह्यविषयसङ्कल्पशून्यं सम्पाद्य सर्वबाह्य-क्रियाहेतुं प्राणं मूर्द्धि न भ्रूमध्यादुपरि ब्रह्मरन्ध्रे सुषुम्णामार्गेणावेश्य आत्मनो योगधारणां समाधि-स्थैर्यमास्थितः सन् ।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

ओमित्येकमक्षरं ब्रह्मवाचकत्वाद्ब्रह्म व्याहरन्नुच्चरन् तद्वाच्यभूतं परं ब्रह्म मामनुस्मरन् मूर्द्धन्या नाड्या देहं त्यजन् यः प्रयाति प्रकर्षेणार्चिरादिमार्गेण याति, स परमामुपनिषत्प्रतिपाद्यां गतिं प्राप्य यथोपासनं मां प्राप्नोति ।

वेदज्ञ लोग जिसे अक्षर कहते हैं अर्थात् नीचे लिखे और दूसरे अनेक वचनों से जिसका प्रतिपादन करते हैं, यथा—"एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणाः अभिवदन्ति, अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्," अर्थात् हे गार्गि ! वेद के जानने वाले ब्राह्मण लोग इस अक्षर को यह (ब्रह्म) न स्थूल है न अणु, नहस्व है, न दीर्घ कहते हैं । ऐसे फिर जिस अक्षर वा ब्रह्म में, सब विषयों की इच्छा से रहित यत्नशील पुरुष प्रवेश करते हैं अर्थात् ऐसे यत्नशील पुरुष अपने आत्मा (अन्तरात्मा), नियामक, व्यापक, परमाधार रूप भगवान् का साक्षात् अनुभव कर, प्रकृति के सम्बन्ध से छूट जाते हैं और तब अपने को भगवान् का आत्मीय, नियम्य, व्याप्य और आधेय समझ भगवान् से पृथक अपनी स्थिति प्रवृत्ति के न होने के अनुभव में स्थित रहते हैं । फिर जिस ब्रह्म को जानने की इच्छा से ब्रह्मचर्य धारण करते हैं उसी को प्राप्त करने योग्य ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय मैं तुमसे संक्षेप में कहूँगा ॥११॥

अब दो श्लोकों से प्रतिज्ञात उपायों को साङ्गोपाङ्ग कहते हैं । नाक, कान, आँख आदि सब इन्द्रिय द्वारों को संयम कर अर्थात् बाहर के विषयों को ग्रहण करने में अयोग्य बना, मन को हृदय में रोक कर, अर्थात् बाहर के विषयों में संकल्प रहित कर और सब बाहरी क्रियाओं के कारण रूप प्राण को सुषुम्ना मार्ग से भौंहों के बीच के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में लाकर और समाधि में स्थिरता लाभ कर ओम् इस एक अक्षर को जो ब्रह्म का बाचक होने से ब्रह्म ही है जपता हुआ और मुझ परब्रह्म को, जो

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

एवं सामान्ययोगिनो गतिरुक्ता । इदानीं भगवदनन्यभक्तस्य योगिनः प्राप्तिप्रकारमाह—अनन्यचेता इति । नान्यस्मिन् चेतो यस्य सोऽनन्यचेता यः सततं निरन्तरमतिशयप्रेम्णा निरतिशयप्रियं मां स्मरति, तस्य नित्ययुक्तस्य नित्यं मद्योगं काङ्क्षमाणस्य निरतिशयमत्प्रियस्य योगिनोऽहमन्यैरचिन्त्यस्वरूपगुणैश्वर्योऽपि वात्सल्यकारुण्यसौहार्दादिगुणपरवशतया स्वभक्तदुःखवियोगाद्यसहमानः सुलभः सुखेनैव प्राप्यः । एतेन मदनन्यभक्तिहीनानां सर्वोपायवतामपि ब्रह्मलोकादिमत्समानैश्वर्यावधिफलावाप्तियोग्यत्वेऽपि नाहं सुलभो, भक्त्यैकवश्यस्वभावत्वात् "शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः, नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वामि"ति श्रुतेः "भक्तिरेवैनं दर्शयति भक्तिरेवैनं वर्द्धयति । भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी"त्यादेश्च ।

ओंकार का वाच्य हूँ, स्मरण करता हुआ जो मनुष्य मूर्धनाड़ी द्वारा शरीर को छोड़ता है वह अर्चिरादि मार्ग से जाकर उपनिषदों द्वारा प्रतिपाद्य परम गति को, अर्थात् मुझको, अपनी उपासना के अनुसार परधाम में प्राप्त करता है ॥१२।१३॥

ऊपर के श्लोकों में साधारण योगी की गति कही गई। अब इस श्लोक में भगवान् के अनन्य भक्त योगी की गति कही जाती है अर्थात् ऐसा योगी भगवान् को किस प्रकार पाता है वह कहते हैं।

हे अर्जुन ! जिसका मन अनन्य भाव से मुझमें ही है और जो सदा मुझको ही अपना सबसे अधिक प्यारा समझ मेरा प्रेम से स्मरण करता है, ऐसे अपने अतिशय प्रेमी योगी को मैं सर्वदा सुलभ हूँ क्योंकि वह मुझसे नित्य योग वा मिलन चाहता है। कहने का मतलब यह कि अचिन्त्य रूप, गुण, ऐश्वर्य वाला होने पर भी वात्सल्य, कारुण्य, सौहार्द आदि गुणों के वशीभूत होने के कारण मैं अपने भक्तों का वियोग और दुःख आदि नहीं सह सकता और इसीलिये मैं उनको झट सुलभ हो जाता हूँ। इसलिए मेरी अनन्य भक्ति से विहीन पुरुष सब उपाय करने पर भी मुझको नहीं प्राप्त कर सकता। उनको ब्रह्म लोक आदि तक के मेरे समान ऐश्वर्य वाले लोकों को प्राप्त करने की योग्यता हो जाती है सही, पर मैं उसको सुलभ नहीं होता। इसका कारण यह कि मैं केवल एक भक्ति ही से वश में हो सकता हूँ और दूसरे उपायों से नहीं। इसमें श्रुति प्रमाण है, यथा—

※"शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः, नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया, न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम् ।" "भक्तिरेवैनं दर्शयति, भक्तिरेवैनं वर्द्धयति, भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी ।" अर्थात् भक्ति ही इस (परब्रह्म) को दिखाती है। भक्ति ही इसको बढ़ाती है। पुरुष परब्रह्म भक्ति ही के वश में है इसलिए भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ साधन है ॥१४॥

※ इस श्रुति का अर्थ पीछे लिखा जा चुका है।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

ननु यथा त्वदनन्यभक्तस्य भवान्सुलभस्तथाऽन्यदेवादिभक्तानामन्येऽपि सुलभाः "यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैती"त्युक्तत्वात् । एवं चेत्तर्ह्यन्यदेवादिफलप्राप्तेभ्योऽन्यभक्तेभ्यस्त्वद्भक्तानां को विशेष इति चेत्तत्राह—मामिति । मां सर्वेश्वरमानन्दघनं प्राप्य पुनरखिलगर्भवासादिदुःखालयं दुःखगृहमशाश्वतमस्थिरं जन्म प्राकृतदेहसम्बन्धं नाप्नुवन्ति । यतो महात्मानः महाविवेकसम्पन्नान्तःकरणा अत्यर्थमत्प्रियत्वेन मत्प्रसादकारणानि मदेकाराधनानि कर्माणि कृत्वा मदनुग्रहादेव परमां सर्वोत्कृष्टां संसिद्धिं मद्भावात्मिकां मुक्तिं गता प्राप्ताः ।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन ! ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

मदनन्यभक्तिहीनास्तु विविधधर्मानुष्ठानाद्ब्रह्मलोकपर्यन्तं प्राप्ता अपि पुनरावर्त्तन्त इत्याह—आब्रह्मेति । आब्रह्मभुवनात् ब्रह्मणो भुवनं ब्रह्मलोकस्तमभिव्याप्य सर्वे लोकास्तत्रस्था जनास्तद्भोगावसाने पुनरावर्त्तिनो भवन्ति हे अर्जुन ! । तेभ्यः स्वभक्तानां तु शब्देन महद्वैलक्षण्यं द्योतयति । मां सर्वेश्वरं सत्यसङ्कल्पं निखिलजगदुत्पत्तिकारणं दोषास्पृष्टमाहात्म्यं भगवन्तमुपेत्य प्राप्य ये निर्वृत्ता हे कौन्तेय ! तेषां जन्म न विद्यते ।

जैसे अपने अनन्य भक्तों को आप सुलभ हैं वैसे ही दूसरे देवताओं के भक्तों को वे दूसरे देवता सुलभ हैं क्योंकि आपने ही कहा है कि "यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तम् तमेवैति ।" यदि ऐसी बात है तो अन्य देव भक्तों से आपके भक्तों की क्या विशेषता रही ? इसी शंका का उत्तर भगवान् इस श्लोक में देते हैं ।

मुझ सर्वेश्वर और आनन्दघन को प्राप्त कर लेने पर मेरे भक्तों को फिर सारे गर्भवास आदि आदि दुःखों का घर और विनाशी जन्म नहीं लेना पड़ता है अर्थात् उनका फिर से प्राकृत् देह से सम्बन्ध नहीं होता । इसका कारण यह है कि महात्मा लोग अर्थात् महाविवेक से भरे हुए अन्तःकरण वाले पुरुष मुझको अपना अत्यन्त प्रिय जान मेरी ही आराधना सम्बन्धी कर्मों को कर मेरे अनुग्रह से ही परम श्रेष्ठ भगवद्भावात्मक मुक्ति को प्राप्त कर चुके हैं ॥१५॥

जो मेरे अनन्य भक्त नहीं हैं वे विविध प्रकार के धर्मानुष्ठानों के द्वारा ब्रह्मलोक तक भी पहुँच कर फिर लौट आते हैं अर्थात् उनको फिर जन्म लेना पड़ता है । इसी बात को यहाँ कहते हैं ।

हे अर्जुन ! ब्रह्म के लोक तक पहुंचे हुए मनुष्य भी वहाँ के भोग के अन्त हो जाने पर फिर संसार में लौट आते हैं । (इस श्लोक में "तु" शब्द का व्यवहार कर भगवान् ने अपनी भक्ति से हीन पुरुषों से अपने भक्तों की महत् विलक्षणता दिखलायी ।) पर जो (मेरे भक्त) सर्वेश्वर, सत्य-संकल्प, सकल जगत् के कर्त्ता और दोषों के स्पर्श से रहित, मुझको प्राप्त करते हैं वे फिर जन्म नहीं धारण करते ॥१६॥

सहस्रयुगपर्य्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

ब्रह्मभुवनावधिगतानां लोकानां पुनरावर्त्तित्वे हेतुं कालपरिच्छिन्नत्वं दर्शयति—सहस्रयुगपर्यन्तमिति । सहस्रं युगानि पर्यन्तोऽवसानं यस्य तत् ब्रह्मणो यदहस्तद्यं विदुः, तथा युगसहस्रमन्तो यस्यास्तां रात्रिं च ये विदुस्ते जना अहोरात्रविदः, बहुज्ञाः कालज्ञत्वात् । ये तु दिवाकरगत्यैवाहरादि जानन्ति, न ते तथाऽहोरात्रविदः, अल्पज्ञा इत्यर्थः । अयम्भावः मनुष्याणां यद्वर्षं तद्देवानामहोरात्रं भवति, तादृशैरहोरात्रैः पक्षमासादिक्रमेण द्वादशभिर्वर्षसहस्रैः ससन्ध्यं चतुर्युगं भवति । तथाविधं चतुर्युगसहस्रं ब्रह्मणोऽहर्दिनं भवति, तत्परिमाणिका च रात्रिस्तादृशैरहोरात्रैः पक्षमासादिक्रमेण वर्षशतं ब्रह्मणो द्विपरार्द्धसञ्ज्ञकं परमायुर्भवति । अतः कालपरिच्छिन्नत्वेन तस्याप्यनित्यत्वात्तलोकगतानां पुनरावृत्तिर्युक्तैव । तथा तदधस्तान्महर्लोकादिगतानां पुनरावृत्तिर्बोध्या ।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके ॥१८॥

एवं कालपरिच्छिन्नत्वेन ब्रह्मलोकादिमहर्लोकान्तर्वर्त्तिनां पुनरावृत्तिर्निरूपिता । इदानीं

जो मेरे अनन्य भक्त नहीं हैं वे ब्रह्मलोक तक भी जाकर फिर लौट आते हैं। इसका कारण यह है कि ब्रह्मलोक तक सभी लोक काल से परिच्छिन्न हैं अर्थात् काल के अधीन हैं। इसीको कहते हैं।

ब्रह्मा के सहस्र युग की अवधि वाले दिन और उतनी ही अवधि वाली रात्रि को जो जानते हैं वे अहोरात्रविद् (दिन रात के जानने वाले) कहे जाते हैं, अर्थात् काल के जानने वाले होने से वे बहुज्ञ हैं। सूर्य की गति से होने वाले दिन रात को जो जानते हैं वे किसी भी प्रकार के कालज्ञ नहीं हैं अर्थात् वे अल्पज्ञ हैं। इस श्लोक का भाव यह कि मनुष्यों का वर्ष देवताओं के एक दिन रात के बराबर होता है। ऐसे (देवताओं के) दिन रात से बने हुए पक्ष, महीना आदि क्रम से बारह सहस्र वर्ष का संन्ध्यासहित चार युग होते हैं। ऐसे चार सहस्र युग का ब्रह्मा का एक दिन होता है और उतने ही परिमाण की उनकी रात होती हैं। इसी प्रकार के दिन रात से बने हुए, पक्ष, महीना आदि क्रम से सौ वर्ष की द्विपरार्ध्य संज्ञक ब्रह्मा की परम आयु है। इस भाँति ब्रह्मा और उनका लोक काल के अधीन हैं अर्थात् उनका भी एक न एक दिन निश्चित आयु पूरी होने पर अन्त होगा। और जब ब्रह्मा ही और उनके लोक का अन्त है तो उनके लोक को पहुँचे हुए लोगों को फिर लौट आना पड़ेगा, इसमें कहना ही क्या है ? अर्थात् ऐसा होना युक्ति युक्त ही है। और जब ब्रह्मा के लोक को पहुंचे हुए लोगों की यह दशा है तो इस लोक के नीचे के महः आदि के लोकों को पहुँचे हुए पुरुषों का वहाँ से लौट आना तो निश्चय ही है ॥१७॥

ऊपर यह निरूपण किया गया कि ब्रह्मा के लोक से लेकर महर्लोक तक के सब लोक काल के

स्वर्गादिलोकत्रयस्य ब्रह्मणोऽहर्निशयोरुत्पत्तिप्रलयावाह—अव्यक्तादिति । इहाव्यक्तशब्देन प्रकृतिपरिणामरूपं ब्रह्मणः शरीरमभिधीयते, अहरागमे ब्रह्मणः प्रबोधसमये अव्यक्ताद् ब्रह्मणो देहात् व्यक्तयः जीवानां देहेन्द्रियभोग्यभोगस्थानरूपाः प्रभवन्ति । तत्तत्कर्मफलभोगायाभिव्यज्यन्ते । रात्र्यागमे तस्य स्वापकाले यतोऽव्यक्तात्सम्भूतास्तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके प्रजापतिशरीरे प्रलीयन्ते ।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ ! प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

ननु ये प्राणिनः प्रलीयन्ते तेषां कृतकर्महानिः स्यात्, ये चोत्पद्यन्ते तेषामकृताभ्यागमः स्यादित्याशङ्कां वारयन् जन्ममरणादिदुःखात्मकेन संसारेणालमिति वैराग्यजननायाह—भूतग्राम इति । भूतानां चराचरप्राणिनां ग्रामः समूहो यः पूर्वस्मिन्कल्पे आसीत्स एवायमेतस्मिन्कल्पेऽहरागमे भूत्वा भूत्वा पुनः पुनर्देवमनुष्यादिपूत्पद्य रात्र्यागमे प्रलीयते, हे पार्थ ! पुनरवशः कर्मतन्त्रोऽहरागमे प्रभवति, प्रकर्षेण जायते प्रतिकल्पं न तस्य भेद इत्यर्थः । "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयद्दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वरि"ति श्रुतेः । एवमुपरितना ब्रह्मलोकपर्यन्ता लोका ब्रह्मा च ब्रह्मणो वर्षशतात्म-

---

अधीन हैं और इसलिये उन लोकों तक पहुँचे हुए मनुष्यों को फिर लौट कर संसार में आना पड़ता है। अब इस श्लोक में यह कहेंगे कि स्वर्गादि तीनों लोकों की उत्पत्ति और प्रलय ब्रह्मा के दिन और रात के आरम्भ में होता है।

यहाँ अव्यक्त शब्द का अर्थ प्रकृति का परिणाम स्वरूप ब्रह्मा का शरीर है। ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में अर्थात् उनके जागने के समय उनके शरीर से जीवों के देह, इन्द्रियाँ, भोग्य और भोग्यस्थान पैदा होते हैं, अर्थात् उनके कर्म फल के भोग के लिये आविर्भूत (प्रगट) होते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस जीव का जैसा कर्म होता है, उसको उस कर्म का फल भोगने के लिए वैसा ही शरीर धारण करना पड़ता है। फिर ब्रह्मा की रात्रि के आरम्भ में, अर्थात् उनके शयन काल में सब जीव उनके शरीर में प्रवेश कर जाते हैं अर्थात् जिस ब्रह्मा के शरीर से वे प्रकट होते हैं, उसी में उनका प्रलय हो जाता है ॥१८॥

यहाँ यह शंका हो सकती है कि जिन जीवों का प्रलय होगा उनके किये कर्मों का नाश हो जायगा और जो जीव पैदा होंगे उनको बिना किये हुए कर्मों का भोग भोगना पड़ेगा। इस शंका को हटाने के लिये भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! पहले कल्प में जिन जीवों का समूह था वही जीव समूह इस कल्प में ब्रह्मा के दिन के आरम्भ होने पर फिर पैदा होता है, अर्थात् देव, मनुष्य आदि के रूप को धारण करता है और ब्रह्मा की रात्रि के आरम्भ में उसका प्रलय हो जाता है। फिर पूर्वकालीन कर्म के वश होने के कारण ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में पैदा होता है। इस प्रकार प्रत्येक कल्प में जीव समूह का भेद नहीं होता। इसमें श्रुति प्रमाण है, यथा—"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा

काऽऽयुषोऽन्ते महाप्रलये पृथिव्यादिलयक्रमेण सर्वे परमात्मनि मय्येव लीयन्ते। सुबालोपनिषद्याम्नायते पृथिव्यप्सु प्रलीयते, आपस्तेजसि प्रलीयन्ते, तेजो वायौ प्रलीयते, वायुराकाशे प्रलीयते, आकाश इन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु, तन्मात्राणि भूतादौ प्रलीयन्ते, भूतादिर्महति, महानव्यक्ते अव्यक्तमक्षरे, अक्षरं तमसि, तमः परे देवे एकी भवती"ति। तस्मात्परमात्मलोकव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य लोकस्योत्पत्ति-प्रलयवत्त्वात्तत्तल्लोकं प्राप्तानां हरिभक्तिहीनानां पुनरावृत्तिरवर्जनीया। भगवन्तं प्राप्तानां तु न पुनरा-वृत्तिशङ्काऽपीति सिद्धम्।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपं तु जन्ममरणादिभाववर्जितं हिरण्यगर्भादपि श्रेष्ठं तत्प्राप्तानामपि पुनरावृत्तिर्न भवतीत्याह—पर इति द्वाभ्याम्। तस्मात्पूर्वोक्ताच्चराचरभूतग्रामकारणाद्धिरण्य-गर्भाख्यादव्यक्तात्प्रकृतिसंसृष्टात्परः प्रकृतिवियुक्ततयोत्कृष्टो भावोऽन्यो भिन्नः अव्यक्तः, शास्त्रमन्तरेण

पूर्वमकल्पयद्दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथोस्वः" अर्थात् ब्रह्मा ने सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग लोक को जैसे ये पूर्व काल में थे वैसा ही बनाया।

इस प्रकार ऊपर के ब्रह्म लोक तक के सभी लोक और ब्रह्मा भी अपनी सौ वर्ष की आयु पूरी कर महा प्रलय के समय में पृथिवी आदि के लय के क्रम से मुझ परमात्मा में लीन हो जाते हैं। सुबा-लोपनिषद् में भी यही बात कही गई है, यथा "पृथिव्यप्सु प्रलीयते, आपस्तेजसिप्रलीयन्ते, तेजो वायौ प्रलीयते, आकाश इन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणिभूतादौ प्रलीयन्ते, भूतादिर्महति, महान-व्यक्ते, अव्यक्तमक्षरे, अक्षरं तमसि, तमः परे देवे एकी भवति" अर्थात् पृथ्वी जल में, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में, आकाश इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ तन्मात्राओं में, तन्मात्राएँ भूतादि में, भूतादि महत् में, महत् अव्यक्त में, अव्यक्त अक्षर में, और अक्षर तम में लीन होता है। और तम अपने में लीन हुए सबके साथ परब्रह्म में लीन होता है। इसलिए परमात्मा के लोक को छोड़ और सभी लोकों की उत्पत्ति और प्रलय होता है। इसलिए हरि भक्ति से हीन मनुष्यों का, जो उन लोकों को प्राप्त करते हैं फिर लौट आना अर्थात् जन्म लेना अनिवार्य है। इससे यह सिद्ध हुआ कि भगवान् को प्राप्त किये मनुष्यों को फिर लौट आने अर्थात् जन्म धारण करने की कुछ भी शंका नहीं की जा सकती ॥१९॥

प्रकृति से रहित शुद्ध आत्म स्वरूप, जन्म, मरण इत्यादि भावों से रहित होने के कारण हिरण्यगर्भ, अर्थात् ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ है, और जो लोग ऐसे आत्म स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं वे इस संसार में फिर नहीं लौटते इसी बात को दो श्लोकों से कहते हैं।

चराचर भूत समूहों का कारण, प्रकृति सम्बन्ध युक्त हिरण्य गर्भ नामक अव्यक्त से भिन्न, और प्रकृति वियुक्त होने के कारण उससे श्रेष्ठ जो अन्य भाव अर्थात् शुद्ध आत्म स्वरूप है वह शास्त्रों को छोड़ और किसी प्रमाण द्वारा नहीं जाना जा सकता। इसलिए इसको अव्यक्त कहते हैं। वह भाव

केनचित्प्रमाणेन न व्यज्यत इत्यव्यक्तः, सनातनः सदैकरूपतया नित्यः। नित्यत्वमेव साधयति—य इति। एतादृशो यो भावः स सर्वेषु भूतेषु स्थावरजङ्गमेषु नश्यत्सु न विनश्यति विनाशमभावं न प्राप्नोति।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

योऽव्यक्तोऽतीन्द्रियो भावोऽक्षर इत्युक्तः "अक्षरं ब्रह्म परमम"त्यत्र मयैवोक्तः। "ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते, कूटस्थोऽक्षर उच्यते" इत्यादौ वक्ष्यमाणश्च। तं वेदविदः परमां गतिमाहुः। प्रकृतिसंसृष्टाज्जीवात्परमामुत्कृष्टां स्वस्वरूपत्वाद्गतिं प्राप्यभूतामाहुः "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यादिना। यमक्षरं प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपं प्राप्य पुनर्न निवर्त्तन्ते। संसारायेति शेषः। तच्छुद्धात्मस्वरूपं मम परमं धाम निवासस्थानं, यद्यपि प्रकृतिसंसृष्ट आत्माऽपि मम मूर्त्तेर्निवासस्थानं तदनुग्रहायैव। "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि व्यवस्थितः, य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरमि"त्यादिश्रुतिभ्यः, "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्ट"इति वक्ष्यमाणत्वाच्च। तथाऽपि प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपं ततः श्रेष्ठं नित्यं धाम गृहमित्यर्थः।

पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

नित्य है और सदा एक रूप से स्थित रहता है क्योंकि सब स्थावर जंगमादि भूतों के नाश होने पर भी उस अव्यक्त भाव का नाश नहीं होता ॥२०॥

जिस अव्यक्त अर्थात् इन्द्रिय से परे भाव को अक्षर कहा गया है यथा, "अक्षरं ब्रह्म परमं" फिर आगे के अध्यायों में भी भगवान् ने जिस भाव को अक्षर कहा है यथा "ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते। कूटस्थोऽक्षर उच्यते" उस भाव को वेद के जानने वाले श्रेष्ठ गति कहते हैं। अर्थात् प्रकृति में बँधे जीव से यह भाव परम श्रेष्ठ है क्योंकि इस भाव में जीव अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। जैसा श्रुति कहती है "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" अर्थात् (जीव) अपने रूप को पा जाता है।

प्रकृति से वियुक्त जिस आत्म स्वरूप को पाकर जीव फिर संसार में नहीं लौटता, वह शुद्ध आत्म स्वरूप मेरा परम श्रेष्ठ निवास स्थान है। यद्यपि प्रकृति से युक्त आत्मा भी मेरी मूर्ति के रहने का स्थान है क्योंकि मैं उस पर अनुग्रह करना चाहता हूँ [इसमें श्रुति प्रमाण—"अंगुष्ठमात्रः पुरुषोमध्य आत्मनि व्यवस्थितः। यः आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो। यमात्मा न वेद। यस्यात्मा शरीरम्" अर्थात् अंगूठा के समान छोटा पुरुष आत्मा के मध्य में स्थित है। जो आत्मा में स्थित भी आत्मा से पृथक् है। जिसको आत्मा नहीं जानती है। जिसका आत्मा शरीर है। आगे के अध्याय में भी भगवान् कहेंगे कि "सर्वस्य चाहं हृदिसन्निविष्टः" अर्थात् सबके हृदय में मैं प्रविष्ट हुआ हूँ] तथापि प्रकृति से वियुक्त आत्मा ही मेरा परम श्रेष्ठ और नित्य निवास स्थान है ॥२१॥

एवमक्षरशब्दाभिहितस्य क्षेत्रज्ञस्य परमगतित्वाभिधानात्परमात्मनैक्यशङ्का मा भूदित्येतदर्थं "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः। अक्षरात्परतः परः, तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतं न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। भेदव्यपदेशाच्चान्यः। अधिकं तु भेदनिर्देशात्। पारं परं विष्णुरपारपारः परः परेभ्यः परमार्थरूपी। सब्रह्मपारः परपारभूतः परः पराणामपि पारपारः" इत्यादिश्रुतिस्मृतिसूत्रैः सिद्धं प्रत्यगात्मनः परमेश्वरस्य स्वाभाविकं भेदं स्पष्टयति—पुरुष इति। हे पार्थ! अनन्यया देवतान्तरफलान्तराभिसन्धिशून्यया भक्त्या लभ्यस्तु स पुरुषः परः पूर्वोक्ताद्विलक्षणः। स कः? यस्यान्तःस्थानि अन्तर्वर्त्तीनि सर्वभूतानि पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यनर्हाणि तिष्ठन्तीत्यर्थः। येन सर्वात्मना इदं विश्वं ततं व्याप्तम्। तं मां प्राप्तानामपुनरावृत्तिः "मामुपेत्यः पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मान" इत्यादिनोक्तैव।

ऊपर के श्लोक में अक्षर को परम गति कहा है। इससे ऐसी शंका हो सकती है कि इस माया से वियुक्त जीव में और परमात्मा में अभिन्नता वा एकता है। इसी शंका को हटाने के लिये भगवान् इस श्लोक को कहते हैं।

अक्षर (जीव) में और परमात्मा में स्वभाव से ही भिन्नता है। इसमें श्रुति, स्मृति और पुराण प्रमाण हैं, यथा—"प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" अर्थात् परब्रह्म माया और जीव का स्वामी और गुणों का ईश है। "अक्षरात्परतः परः" अर्थात् परमात्मा जीव से बहुत श्रेष्ठ है। "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं। तं देवतानां परमं च दैवतं।" अर्थात् परब्रह्म ईश्वरों का परम महा ईश्वर और देवताओं का परम देवता है। "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" अर्थात् परब्रह्म के बराबर ही कोई नहीं है, तो उससे बड़ा कोई न हो, इसमें कहना ही क्या है। "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।" "यमेवैषः वृणुते तेन लभ्यः।" (इन अंशों का अर्थ पीछे लिखा जा चुका है)। "भेदव्यपदेशाच्चान्यः" अर्थात् जीव और ब्रह्म में भेद कहा गया है इससे वे एक दूसरे से भिन्न हैं। "अधिकं तु भेदनिर्देशात्" अर्थात् जीव और ब्रह्म में भेद होने से ब्रह्म जीव से श्रेष्ठ है। "पारं परं विष्णुरपारपारः परः परेभ्यः परमार्थरूपी। स ब्रह्मपारः परपारभूतः परः पराणामपि पारपारः"। भाव कि विष्णु भगवान् जो परब्रह्म हैं वे परमार्थ रूप हैं और सबसे श्रेष्ठ और परे हैं। इन ऊपर लिखे हुए श्रुति, स्मृति, सूत्र और पुराणादि वचनों से यह प्रमाणित है कि जीव और ब्रह्म में स्वाभाविक भेद है। इसी भेद को भगवान् यहाँ स्पष्ट करते हैं।

हे अर्जुन! देवान्तर और फलान्तर की कामना शून्य, अनन्य भक्ति द्वारा जो पुरुष अर्थात् परमात्मा है, वह प्रकृति से वियुक्त प्रत्यगात्मा अर्थात् जीव से पृथक् और श्रेष्ठ है। वह परपुरुष कौन है? वह वही है जिसके भीतर सब भूत स्थित हैं अर्थात् जिससे पृथक् इन भूतों की स्थिति प्रवृति हो ही नहीं सकती और वह वही है जो इस विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। ऐसे मुझ ब्रह्म को प्राप्त कर फिर इस

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभः ॥२३॥

तदेवमक्षरात्मानं प्राप्ताः परमपुरुषं भगवन्तं प्राप्ताश्च पुनरिह संसारे नावर्त्तन्ते । अन्ये तु पुनरावर्त्तन्त इत्युक्तम् । तत्र केन मार्गेण गता नावर्त्तन्ते, केन गता पुनरावर्त्तन्ते इत्यपेक्षायां देवयानं पितृयानं चेति मार्गद्वयं वक्तुं प्रतिजानीते—यत्रेति । प्राणोत्क्रमणानन्तरं यत्र यस्मिन्काले प्रयाता योगिनोऽनावृत्तिं यान्ति, यस्मिँश्च काले प्रयाता आवृत्तिं यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भारतेत्यन्वयः । अत्र कालशब्देनाहरादिसंवत्सरान्तकालाभिमानिनीभिरातिवाहिकदेवताभिर्गन्तव्यो मार्ग उपलक्ष्यते । अग्नि-ज्योतिषोः कालवाचित्वाभावाद्देवयानमार्गप्रतिपादकश्रुतौ "संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसमि"त्यादि-देवतावाचकेनैवोपसंहारात्, पूर्वापरदेवतावाचकपदसाहचर्यादहरादीनामपि कालाभिमानिदेवतापरत्वं युक्तम् । तथा च यस्मिन्कालाभिमानिदेवतोपलक्षितमार्गे प्रयाता योगिनः द्विविधा ज्ञानिनः कर्मिणश्च यथाक्रममनावृत्तिमावृत्तिं च यान्ति तं मार्गं वक्ष्यामीत्यर्थः ।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

प्रतिज्ञायतोः तत्र तावदपुनरावृत्तिमार्गमाह—अग्निरिति । अग्निर्ज्योतिः शब्दाभ्यां "तेऽर्चिष-

---

संसार में लौटना नहीं पड़ता जैसा कि पीछे कहा गया है यथा,—"मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशा-स्वतम् नाप्नुवन्ति महात्मनः" ॥२२॥

अक्षर अर्थात् आत्मा को और परम पुरुष भगवान् को जो लोग प्राप्त किये हैं वे फिर इस संसार में लौट कर नहीं आते हैं । दूसरे और लोग लौट कर संसार में आते हैं । ये बातें पीछे के श्लोकों में कही गई हैं । जिस मार्ग से जाने वाले नहीं लौटते और जिस मार्ग से जाने वाले लौटते हैं उन दोनों (देवयान और पितृयान) मार्गों का अब वर्णन करेंगे ।

हे अर्जुन ! प्राण छूटने के बाद जिस काल अर्थात् मार्ग में प्रयाण करने वाले ज्ञान योगी फिर लौट कर संसार में नहीं आते और जिस काल (मार्ग) में जाने वाले कर्म योगियों को फिर संसार में लौट आना पड़ता है उन कालों (मार्गों) को अब मैं कहूँगा । यहाँ काल शब्द से दिन से लेकर वर्ष तक के समय के अभिमानी पहुँचाने वाले देवताओं के मार्ग का विधान किया गया है । अग्नि और ज्योति के काल वाचक न होने से, और देवयान मार्ग के बतलाने वाली इस श्रुति में, "संवत्सरादादित्यम् आदित्याच्चन्द्रमसि" देवता वाचक उपसंहार से और पहले तथा पीछे देवता वाचक पद के साथ रहने से दिन आदि के कालाभिमानी देवता ही को समझना ठीक है । मतलब यह कि कालाभिमानी देवता के दिखलाये हुए जिस मार्ग से जाने वाले योगी, ज्ञानी और कर्मी का क्रमशः पुनर्जन्म नहीं होता या होता है उस मार्ग को भगवान् अर्जुन से यहाँ कहेंगे ॥२३॥

मभिसम्भवन्ती"ति श्रुत्युक्तार्चिराभिमानिनी देवतोपलक्ष्यते, तथाऽहरभिमानिनी शुक्लपक्षाभिमानिनी षण्मासा उत्तरायणाभिमानिनी देवतोपलक्ष्यते। एतच्छ्रुत्युक्तानां सम्वत्सराद्यभिमानिनीदेवतानामुपलक्षणार्थं, तथा च श्रुतिः "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति अर्चिषोऽहः अह्न आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान्षडुदेति मासांस्तान्मासेभ्यः सम्वत्सरं सम्वत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवावर्त्तं नावर्त्तन्त" इति छान्दोग्ये। तत्र देवयानमार्गे प्रयाता ब्रह्मविदो जना ब्रह्म गच्छन्ति।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥२५॥

पुनरावृत्तिमार्गमाह—धूम इति। अत्रापिशब्देन धूममार्गाभिमानिनी देवता रात्र्यादिशब्देश्च तत्तत्कालाभिमानिन्यो देवता उपलक्ष्यन्ते। एतदपि पितृलोकाकाशादीनामुपलक्षणम्। तत्र तस्मिन् पितृयानपथि प्रयातः योगी इष्टापूर्त्तादिपुण्यकर्मकारी जनः चान्द्रमसं ज्योतिस्तदुपलक्षितं स्वर्गलोकं

ऊपर प्रतिज्ञा किये हुए दो मार्गों में से जिस मार्ग से गये हुए की मुक्ति हो जाती है और इसलिए संसार में वे नहीं लौटते उस मार्ग को यहाँ बताते हैं।

यहाँ अग्नि और ज्योति शब्द से, "तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" इस श्रुति में कहे गये अर्चि के अभिमानी देवगण का बोध होता है। और उसी प्रकार दिन से दिन के अभिमानी देवता का, शुक्लपक्ष से उस पक्ष के अभिमानी देवता का और छः महीने उत्तरायण से उसके अभिमानी देवता का बोध होता है। छान्दोग्य उपनिषद् में यह श्रुति आती है, यथा "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति अर्चिषोऽहः अह्न आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इदं मानवावर्त्तं नावर्त्तन्ते।" अर्थात् जिन्होंने इस प्रकार जाना है और जङ्गल में रह कर तप अर्थात् ब्रह्म की श्रद्धा पूर्वक उपासना करते हैं वे अर्चि को प्राप्त करते हैं, अर्चि से दिन और दिन से पूरा पक्ष, पूरे पक्ष से छः महीने उत्तरायण, उन महीनों से वर्ष, वर्ष से सूर्य, सूर्य से चन्द्रमा, चन्द्रमा से विद्युत्, वहाँ से अमानुष पुरुष उसको ब्रह्मलोक की सीमा, विरजा नदी तक पहुँचाता है। यही देव पथ ब्रह्मपथ है।। इस पथ से जाने वाले इस मानवावर्त्त में अर्थात् संसार में नहीं आते। इस देवयान मार्ग में गये हुए ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। इस श्रुति में संवत्सर आदि से उनके अभिमानी देवता का उपलक्षण है ॥२४॥

अब आवृत्ति मार्ग अर्थात् पुनर्जन्म देने वाले मार्ग को कहते हैं।

यहाँ भी धूम से धूमाभिमानी देवता तथा रात्रि शब्द से उस २ मार्ग के अभिमानी देवताओं को ही जानना चाहिए। यह मार्ग पितृ लोक, आकाश आदि का भी बोधक है यद्यपि इसके नाम श्लोक

प्राप्य तत्र पुण्यकर्मफलं भुक्त्वा पुनर्निवर्त्तते। तथा च श्रुतिः "अथ य इमे इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैति मासांस्तानेति सम्वत्सरमभिप्राप्नुवन्ति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते, यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुभूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहिर्वायवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति" सम्पतत्यनेनेति सम्पातः कर्मतत्फलभोगो यावत्तावदुषित्वा आकाशादिक्रमेण धूममार्गमेव निवर्त्तत इत्यर्थः। "प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोति यः। तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे, तद्य इह रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह

में नहीं दिये गये हैं। इष्टापूर्त्तादि शुभ कर्मों को करने वाला योगी पितृयान मार्ग से जाकर चन्द्रमा की ज्योति से उपलक्षित स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है और वहाँ अपने किये*इष्टपूर्त्तादि पुण्य कर्मों का फल भोग कर फिर संसार में लौट आता है, इसमें श्रुति प्रमाण है, यथा—"अथ य इमे इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति। धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैति मासांस्तानेति सम्वत्सरमभिप्राप्नुवन्ति। मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते, यथेतमाकाशमाकाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमोभवति धूमोभूत्वाऽभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहिर्वायवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषाः इति जायन्ते यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति।" अर्थात् जो इष्टापूर्त्तादि शुभ कर्म करते हैं वे धूम को प्राप्त करते हैं, धूम से रात्रि, रात्रि से कृष्णपक्ष, कृष्णपक्ष से छः महीने दक्षिणायन और उन महीनों से वर्ष को प्राप्त करते हैं। फिर पितृलोक, पितृलोक से आकाश, आकाश से चन्द्रमा। यह राजा सोम अर्थात् चन्द्रमा उन देवताओं का अन्न है। देवता उसे खाते हैं। उसमें अर्थात् स्वर्ग में जब तक कर्मफल का भोग समाप्त नहीं होता तब तक रह कर उसी रास्ते लौट आता है। आकाश में आता है, आकाश से वायु, वायु बन कर धूम होता है, धूम होकर अभ्र, अभ्र होकर मेघ होता है, मेघ होकर बरसता है। वे ही धान या यव, घास पात, तिल और उड़द होते हैं। जो जो अन्न खाते हैं उसका वीर्य बनता है। पुरुष स्त्री में वीर्य त्याग करते हैं, और इस प्रकार वे फिर जन्म लेते हैं। सम्पात का अर्थ है कि जब तक कर्म फल का भोग रहता है तब तक स्वर्ग में रह कर फिर आकाश आदि क्रम से धूम मार्ग ही में लौट आता है। कहा है—"प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोति यः। तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे, तद्य इह रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणाः कपूयां योनिमा-

---

* श्रुति प्रतिपादित योगादिक कर्मों को इष्ट कहते हैं और स्मृति प्रतिपादित खनन आदि शुभ कर्मों को पूर्त्त कहते हैं।

कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वे"ति । तस्मादावृत्तिमार्गादितस्मात्पूर्वोक्तो नित्यसुखरूपोऽनावृत्तिमार्ग एव मुमुक्षुणा प्रार्थ्य इति भावः ।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्त्तते पुनः ॥२६॥

उक्तौ मार्गौ नित्यतया निरूपयन्नुपसंहरति—शुक्लकृष्णे इति । शुक्ला अर्चिरादिका प्रकाशमयत्वात्, कृष्णा धूमादिका तमोमयत्वात् एते गती मार्गौ ज्ञानाधिकारिणः कर्माधिकारिणश्च द्विविधस्य जगतः शाश्वते, अनादीमते । शास्त्रज्ञैरिति शेषः । तयोरेकया शुक्लया कश्चिदधिकारी अनावृत्तिं याति । अन्यया कृष्णया पुण्यकर्मा पुनरावर्त्तते ।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ! ॥२७॥

उक्तस्य मार्गद्वयस्य ज्ञानफलं दर्शयन्योगमेव दृढीकरोति—नैते इति । एते सृती मार्गौ हे पार्थ ! परमपदप्राप्तये एका संसारावर्त्तनायापरेति जानन् हेयोपादेयतया विवेचयन् योगी ज्ञाननिष्ठो ध्याननिष्ठो वा कश्चन कश्चिदपि न मुह्यति, पुनरावृत्तिनियतं स्वर्गादिफलं पुरुषार्थतया न प्रत्येति । यस्मादेवं तस्मादपुनरावृत्तये हे अर्जुन त्वं सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो ज्ञाननिष्ठो ध्याननिष्ठो वा भव ।

पद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डाल योनिं वा" अर्थात् जो कुछ यहाँ करता है उस कर्म का अंत हो जाता है, तब फिर उस लोक से इस लोक में कर्म करने के लिए आता है। उनमें जो अच्छे आचरण वाले हुए वे सुन्दरयोनि–ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि वा वैश्ययोनि को प्राप्त करते हैं, और जो बुरे आचरण वाले हुए वे बुरी योनि–कुत्ता की योनि वा सूअर की योनि वा चाण्डाल की योनि को प्राप्त करते हैं। इससे पुनर्जन्म के मार्ग से पहले का कहा हुआ पुनर्जन्म न होने वाला मार्ग ही नित्य सुखदाई है, और मुमुक्षुओं को वही प्रार्थनीय है।।२५।।

उक्त दोनों मार्गों की नित्यता बतलाते हुए उपसंहार करते हैं। प्रकाशमय होने से अर्चि आदि शुक्ल और तमोमय होने से धूम आदि कृष्ण ये ही दो प्रकार के संसार के अनादि मार्ग शास्त्र के जानने वालों ने बताया है। शुक्ल मार्ग ब्रह्मविद्या के ज्ञानाधिकारी जनों का है और कृष्ण मार्ग कर्माधिकारी मनुष्यों का। इन दोनों मार्गों में से शुक्ल मार्ग से जो कोई अधिकारी जाता है उसका पुनर्जन्म नहीं होता, और दूसरे अर्थात् कृष्ण मार्ग से गये हुए पुण्यात्माओं का पुनर्जन्म होता है ।।२६।।

ऊपर कहे हुए दोनों मार्गों का ज्ञान फल दिखलाते हुए योग ही को सुदृढ़ करते हैं। हे अर्जुन ! इन दोनों मार्गों में से एक परम पद की प्राप्ति के लिए, और दूसरा संसार में लौट आने के लिये है इस प्रकार इन दोनों मार्गों के जानते हुए और छोड़ने तथा ग्रहण करने की योग्यता का विचार करते हुए कोई भी ज्ञाननिष्ठ वा ध्याननिष्ठ योगी, स्वर्गादि सुख को पुरुषार्थ समझ कर उसमें कभी भी मुग्ध नहीं हो सकता है, अर्थात् पुनर्जन्म के कारण होने से स्वर्गादि सुख में कभी भी पुरुषार्थ रूप नित्यबुद्धि वा

वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैव, दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा, योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

तदेवमध्यायद्वयोक्तशास्त्रार्थद्वयोक्तशास्त्रार्थनिर्णयस्य फलं वदन्नध्यायमुपसंहरति—वेदेष्विति । स्वाध्यायविधिना गुरुशुश्रूषणपूर्वकसम्यगधीतेषु वेदेषु यज्ञेषु साङ्गोपाङ्गतया श्रद्धया सम्यगनुष्ठितेषु तपस्सु शारीरमानसवाङ्मयेषु सम्यक् श्रद्धया सुतप्तेषु दानेषु देशे काले सुपात्रे च श्रद्धया प्रतिपादितेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टं सुकृतस्य फलं निर्दिष्टं शास्त्रेण तत्सर्वमत्येति, अतिक्रम्यात्यल्पमेतदिति निश्चयेनोपेक्ष्य तदुत्कृष्टानन्तफलमेति । किं कृत्वा इदमध्यायद्वयोक्तं भगवदैश्वर्याख्यसप्तप्रश्ननिर्णयार्थं विदित्वा सम्यगवधार्य्यानुष्ठाय च योगी ज्ञाननिष्ठो ध्याननिष्ठो वा भूत्वा परमुत्कृष्टं सर्वयोगिप्राप्यं स्थानं पारमेश्वरमाद्यं सनातनमुपैति प्राप्नोति ।

इति श्रीमद्भगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्विजयि श्रीकेशव-
काश्मीरिभट्टाचार्यविरचितायां अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नियमेन यतः सर्वमानन्देनाततं जगत् ।
तमहं नियमानन्दं परमात्मानमाश्रये ॥१॥

विश्वास नहीं कर सकता । जब ऐसी बात है तब, हे अर्जुन ! संसार बंधन से छूटने के लिये सदा ध्यान योगी वा ज्ञान योगी बनो, क्योंकि ये दोनों योग अर्चिरादि मार्ग से जाने के लिये आवश्यक है ॥२७॥

इस प्रकार दोनों अध्यायों के शास्त्रार्थ निर्णय के फल को कहते हुए अध्याय को समाप्त करते हैं । स्वाध्याय विधि से गुरु की सेवा कर वेद पढ़ने का, श्रद्धा से साङ्गोपाङ्ग भले प्रकार यज्ञ करने का, शरीर, मन, और वचन से श्रद्धा पूर्वक तप करने का, देश, पात्र और काल आदि का विचार कर दिये हुए दान का जो पुण्य फल कहा गया है अर्थात् सुकृत का जो फल शास्त्र ने बतलाया है, उन सब फलों को भी ध्यान वा ज्ञाननिष्ठ योगी पार कर जाता है अर्थात् पुण्य फल बहुत थोड़ा और नाशवान् है, यह समझ उससे उत्कृष्ट अनन्त फल को पाता है । क्या करके ? उत्तर देते हैं कि गत दोनों अध्यायों में कहे हुए भगवान् के ऐश्वर्य स्वरूप सातों प्रश्नों के निर्णय का भली भाँति अर्थ समझ कर, और तदनुरूप अनुष्ठान कर योगी ज्ञाननिष्ठ वा ध्याननिष्ठ होकर परमेश्वर के योगिगम्य और श्रेष्ठ सनातन स्थान को प्राप्त करता है ॥२८॥

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायां अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

* श्रीमते निम्बार्काय नमः *

श्रीमद्भगवद्गीता

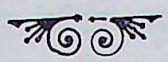

नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच ।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

पूर्वं सप्तमाष्टमाध्याययोर्भगवदैश्वर्यं भक्तविशेषा भक्त्यैव संसारोत्तरणपूर्वकभगवत्प्राप्तिस्तत्प्रकारनिर्धारणं प्राप्तौ ज्ञानयोगध्यानयोगयोरसाधारणोपायत्वं तद्वतोऽर्चिरादिगत्या परमपदप्राप्तिस्तदभाववतः संसारावृत्तिरिति प्रतिपादितम् । इदानीं भगवत्तत्त्वज्ञानस्य स्वरूपं निरूपयितुं भक्तेश्चासाधारणं प्रभावं द्योतयितुं नवमाध्याय आरभ्यते । तत्र तावज्ज्ञानमाहात्म्यमभक्तनिन्दां च व्यञ्जयितुं श्रीभगवानुवाच—इदं त्विति । इदं गुह्यतमम् । गुह्यं धर्मज्ञानं ततो देहादिव्यतिरिक्तात्मज्ञानं गुह्यतरं, ततोऽपि परमात्मज्ञानमतिरहस्यत्वाद्गुह्यतमं भक्त्यन्वितं परमात्मविषयकं ज्ञायते स्वरूपयाथात्म्यमनेनेति ज्ञानं विज्ञानसहितम् उपास्योपासनगतविशेषज्ञानसहितमनसूयवे मयि दोषारोपणमकुर्वते ते तुभ्यं वक्ष्यामि । यज्ज्ञानं वक्ष्यमाणमनुष्ठानपर्यन्तं ज्ञात्वा अशुभात्संसारान्मत्प्राप्तिविरोधिनः सर्वस्माद्विमोक्ष्यसे ।

सातवें और आठवें अध्यायों में भगवान् का ऐश्वर्य, भक्तविशेष, भक्ति से ही संसार से उद्धार होकर भगवान् को प्राप्त करना, उसके प्रकार का निश्चय, भगवान् के प्राप्त करने में ज्ञानयोग और ध्यानयोग ही का असाधारण उपाय होना और उस उपाय करनेवाले को अर्चि आदि गति से परमपद पाना तथा उस उपाय के न करनेवाले का पुनः जन्म पाना कहे हैं ।

अब भगवत् तत्त्वसम्बन्धी ज्ञान का स्वरूप निरूपण करने और भक्ति के असाधारण प्रभाव दिखलाने को नवां अध्याय प्रारम्भ करते हैं । उस में पहले ज्ञान का महत्व और अपने अभक्तों की निन्दा प्रकट करने के लिये भगवान् बोले ।

गुह्य अर्थात् गुप्त जो धर्मज्ञान है उससे देहादि से भिन्न आत्मज्ञान गुह्यतर अर्थात् बहुत गुप्त है और उससे भी अत्यन्त रहस्य वा गोपनीय होने के कारण परमात्मा का जो ज्ञान है वह गुह्यतम नाम अत्यन्त गुह्य है । ऐसे अभियुक्त परमात्मविषयक यथार्थ ज्ञान को, विज्ञान सहित अर्थात् उपास्य परमात्मा और उसकी उपासना आदि के विशेष ज्ञान सहित, मुझ में लेशमात्र दोष न देखनेवाले,

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥२॥

किञ्च राजविद्येति । विद्यानां राजा राजविद्या सर्वाऽविद्यातत्कार्यनाशकत्वात् । तथा राजगुह्यं गुह्यानां राजा तत्तथा सर्वगुह्येषु श्रेष्ठं मदनुग्रहं विना जन्मसहस्रेणापि बहुभिरज्ञातत्वात् । "उपसर्जनं पूर्वमि"त्यनेन विद्याशब्दस्य पूर्वनिपातार्हत्वेऽपि राजदन्तादित्वात्परः*निपातः । पवित्रमिदमुत्तमम् । प्रायश्चित्तान्यपि पापानि नाशयन्त्यतस्तानि पवित्राणि, तथाऽपि यत्किञ्चिन्नाशितमपि तत्सूक्ष्मरूपेण तिष्ठत्येव । यतः पुनः पुरुषस्य पापे प्रवृत्तिर्जायते, इदं तु अनेकजन्मसहस्रसञ्चितानां पापानां स्थूल-सूक्ष्मावस्थानां सर्वेषां निरवशेषेण नाशकमतः सर्वोत्तमं पावनमिदमेव । प्रत्यक्षावगमम् । अवगम्यते इत्यवगमो विषयः प्रत्यक्षभूतोऽवगमो विषयो यस्य तत्तथा, भक्तिरूपतापन्नेन ज्ञानेनोपास्यमानोऽहं तदानीमेवोपासितुः प्रत्यक्षतामुपगच्छामीत्यर्थः । ततश्च धर्म्यं धर्मादनपेतं धर्मो हि श्रेयःसाधनम्, इदं तु जन्मान्तरसहस्रेष्वनुष्ठितनिष्कामकर्मलभ्यत्वात्स्वरूपेणापि श्रेयोरूपम्, अत्यर्थमत्प्रियत्वेन मद्दर्शना-पादकतया परमश्रेयोरूपमत्प्राप्तिसाधनमित्यर्थः । तर्हि दुःसम्पाद्यं स्यान्, नत्याह सुसुखं कर्त्तुम् । सद्गुरु-पदेशजनितसम्यग्व्यवसायसहकृतकर्मार्पणादिना सुखं यथा स्यात्तथोपादेयमित्यर्थः । एवमप्यव्ययं कर्म-

---

तुमसे मैं कहूँगा । जिस आगे कहे जानेवाले ज्ञान को अनुष्ठान तक जानकर मेरी प्राप्ति के बाधक अशुभ अर्थात् संसार से अथवा सब पापों से छुटकारा पा जाओगे ॥१॥

और भी, यह ज्ञान विद्याओं का राजा है, क्योंकि सब अविद्याओं और उनके कार्य्यों का नाशक है तथा राजगुह्य है, अर्थात् सब रहस्यों का गोपनीयों से भी रहस्य वा गोपनीय है क्योंकि मेरी कृपा के बिना हजारों जन्मों में भी किसी से नहीं जाना जा सकता है । यद्यपि प्रायश्चित भी पापनाशक होने से पवित्र है तो भी प्रायश्चित द्वारा नाश किये गये पाप का कुछ अंश सूक्ष्म रूप से रह ही जाता है । इसीलिये पुरुष के मन में फिर भी पाप की प्रवृत्ति हो ही जाती है । किन्तु यह ज्ञान अनेक हजारों जन्म के सञ्चित स्थूल, सूक्ष्म सब प्रकार के पापों को सम्पूर्ण रूप से नाश कर देता है । इसीलिये सर्वोत्तम पवित्र यही है । इसका विषय प्रत्यक्ष है अर्थात् भक्तिरूप को प्राप्त ज्ञान से उपासित होता हुआ मैं उसी समय उपासना करनेवाले को प्रत्यक्ष हो जाता हूँ । पुनः यह ज्ञान धर्मयुक्त है । धर्म कल्याण का साधन है । यह हजारों जन्मान्तरों में किये गये निष्काम कर्म के फल से प्राप्त होने के कारण कल्याणरूप ही है, अर्थात् मेरे अति प्रिय होने से और मेरे दर्शन का कारण होने से परम कल्याणरूप अर्थात् मेरी प्राप्ति का साधनरूप है । यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि यदि यह ज्ञान ऐसा है तो यह बड़े दुःख से प्राप्त होता होगा । इस शङ्का को हटाने के लिये भगवान् कहते हैं कि इतना होने पर भी यह सुख से प्राप्त होने योग्य है, अर्थात् सद्गुरु के उपदेश से उत्पन्न सम्यक् निश्चय के साथ कृत् कर्म्मों को भगवान् में अर्पण करने ही से सुखपूर्वक प्राप्त हो जाता है । ऐसा होकर भी यह अव्यय है अर्थात्

---

* "राजदन्तादिषु परमि"त्यनेन परनिपातः ।

काण्डवत्किञ्चिदङ्गवैगुण्ये सति प्रत्यवायापादकतया स्वरूपतः फलतो वा विनाशि न भवतीत्यव्ययमक्षयं मत्प्राप्तिरूपं फलं साधयित्वाऽपि न क्षीयत इत्यव्ययमिति वाऽर्थः ।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ! ।
अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥

ननु यदीदं परमश्रेयःसाधनत्वेन सुकरत्वेन च सर्वोत्कृष्टं चेत्तर्हि सर्वेऽपीदमेवानुष्ठाय कुतो न मुच्यन्ते ? किमर्थं संसारिणो भवन्तीति चेत्तत्राह—अश्रद्दधाना इति । अस्य भक्तिसहितज्ञानलक्षणस्य परमधर्मस्येति कर्मणि षष्ठी, इमं धर्ममश्रद्दधानाः पुरुषाः पापबाहुल्येन दूषितान्तष्करणतया लघुत्वेन मन्यमाना मोक्षार्थमुपायान्तरेण कथञ्चिद्यतमाना अपि मद्वाक्ये विश्वासाभावान्मद्विमुखाः सन्तो मामप्राप्य मृत्युसंसारवर्त्मनि मृत्युक्ते संसारवर्त्मनि जन्ममरणात्मकस्य संसारस्य वर्त्मनि मार्गे मद्भक्तिहीने केवल-कर्मादौ साधने निवर्त्तन्ते, नितरां वर्त्तन्ते सर्वदा परिभ्रमन्तीत्यर्थः ।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥

एवं वक्तव्यतया प्रतिज्ञातं ज्ञानं निर्दिश्य श्रेयोऽनुबन्धितयाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत् स्तुत्वा श्रोतारमभिमुखीकृत्य निरूपयति—मयेति द्वाभ्याम् । इदं चेतनाचेतनात्मकं सर्वं जगत् अव्यक्तमूर्त्तिना अव्यक्ता इन्द्रियागोचरा मूर्त्तिर्यस्य तेनान्तर्यामिरूपेण मया ततं व्याप्तम् । मत्स्थानि मय्येव सर्वकारण-कारणे आधेयतया स्थितानि सर्वाणि भूतानि स्थावरजङ्गमानि मत्तोऽन्यत्र स्थितिप्रवृत्त्यनर्हत्वान्मदधीन-स्थितिप्रवृत्तिकान्येवेत्यर्थः । "योऽसौ सर्वेषु भूतेष्वाविश्य भूतानि विदधाती"ति श्रुतेः—

कर्मकाण्ड के समान किसी अंग में दोष हो जाने पर भी इसमें प्रत्यवाय, प्रायश्चित वा पाप का लेश नहीं और इसीलिये फल से वा स्वरूप से विनाशी भी नहीं अर्थात् सदा अक्षय है अथवा अक्षय होने से मेरी प्राप्ति कराकर भी यह सदा ही बना रहता है, नष्ट नहीं होता । ऐसा यह ज्ञान है ॥२॥

यदि यह ज्ञान परम श्रेय का साधन है और सुलभ होने के कारण सर्वश्रेष्ठ है तो क्यों नहीं सभी लोग इसका अनुष्ठान करके मोक्ष पा लेते हैं । इस भक्तिसहित ज्ञानलक्षणवाले परम धर्म की ओर श्रद्धा नहीं रखनेवाले अर्थात् पाप की अधिकता से दुष्ट-हृदय होकर इसको छोटा उपाय समझनेवाले, दूसरे उपायों से मोक्ष प्राप्त करने के लिए यत्न करते हुए भी, मेरी बातों में विश्वास न रख, मुझसे विमुख हो, जब मुझे नहीं पाते हैं तब जन्ममरणमूलक इस संसार के मार्ग में ही मेरी भक्ति से हीन हो केवल कर्म आदि साधन में भटकते रहते हैं ॥३॥

इस प्रकार प्रतिज्ञात ज्ञान के विषय में अन्वय अर्थात् उसके गुणकथन और व्यतिरेक अर्थात् उसके अभाव में दोष कथन द्वारा उस ज्ञान की बड़ाई कर और इस प्रकार अर्जुन को अपनी ओर आकर्षित कर दो श्लोकों से उस ज्ञान का निरूपण करते हैं । इस चेतन और अचेतन संसार में अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों से अगोचर मूर्त्ति से (अन्तर्यामी रूप से) मैं व्याप्त हो रहा हूँ । सब कारणों के कारण

"बुद्धिर्मनो महद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या।
चतुर्विधं च यद्भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितमि"ति ॥

सभापर्वणि सहदेववचनात्। एवं चेत्तव कुत्र स्थितिरिति स्वाधारो वक्तव्य इति चेत्तत्राह—न चाहं तेष्ववस्थितः। अहं तेषु भूतेष्ववस्थितो न भवामि। यथाऽहं सर्वाधारस्तथा न मे कश्चिदाधारः, स्वाधार एवाहं नान्याधीनस्थितिप्रवृत्तिक इत्यर्थः। तथा छान्दोग्ये प्रश्नोत्तराभ्यां निर्णीतं भूमविद्यायां "स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठते इति स्वमहिम्नि यदि वा न स्वमहिम्नीति गो अश्वमहिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यदास-भार्याक्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमीति होवाच ह्यन्यो ह्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति स एवाधस्तात्स एवोपरिष्टात् स पश्चात्स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदंसर्वमि"ति।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

मुझ आधार में सभी स्थावर जङ्गम जीव आधेय हो रहते हैं, क्योंकि मुझसे अलग हो कोई वस्तु रह ही नहीं सकती। सब वस्तु की स्थिति प्रवृत्ति मेरे ही आधीन है। श्रुति में भी यही बात कही गई है। यथा "योऽसौ सर्वेषु भूतेष्वाविश्य भूतानि विदधाति" अर्थात् वह (ब्रह्म) सब जीवों में रहकर उनको धारण करता है। सभापर्व में सहदेव ने भी कहा है—

"बुद्धिर्मनो महद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या।
चतुर्विधं च यद्भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥"

अर्थात् बुद्धि, मन, महत्, वायु, तेज, जल, पृथ्वी और आकाश, और चार प्रकार के जीव सब कृष्ण में ही प्रतिष्ठित हैं।

यदि ऐसी बात है तो आप कहाँ रहते हैं? आपका आधार क्या है? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि मैं उन जीवों में नहीं रहता। जैसे मैं सबों का आधार हूँ वैसा मेरा आधार कोई नहीं है। स्वतन्त्र होने के कारण मैं अपना आधार आप ही हूँ। मेरी स्थिति प्रवृत्ति दूसरे के आधीन नहीं है। मैं अपने ही आधीन हूँ। छान्दोग्य उपनिषद् की भूमविद्या में प्रश्नोत्तर रूप में लिखा है—"स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठिते इति स्वमहिम्नि यदि वा न स्वमहिम्नीति, गो अश्वमहिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यदास-भार्य्याक्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमीति होवाच ह्यन्यो ह्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति स एवाधस्तात्स एवोपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदंसर्वमिति" अर्थात् वह भगवान् किसमें प्रतिष्ठित है? उसका आधार क्या है? वह अपनी महिमा में प्रतिष्ठित हैं वा नहीं? उत्तर मिलता है, कि उनकी महिमा संसार की महिमा सरीखा घोड़ा, हाथी, सुवर्ण, दास, दासी, स्त्री, खेतबारी से सूचित नहीं होती, न वे दूसरों में प्रतिष्ठित ही हैं क्योंकि वे ऊपर नीचे, पूर्व पश्चिम, उत्तर दक्षिण सभी जगह प्रतिष्ठित हैं और सर्वव्यापक होने से सबके एकमात्र आधार वही हैं ॥४॥

किञ्च न च मत्स्थानीति। मयि स्थितान्यपि भूतानि न च स्थितानि पात्रे घृतादिवन्मयि संसक्तानि न भवन्ति, ममासङ्गत्वात्। "असङ्गो ह्ययं पुरुष" इति श्रुतेः। नन्वेवं चेत्तर्हि उक्तं व्यापकत्व-माश्रयत्वं च कथं सम्भावनीयं स्यादित्यत आह—पश्येति। मे परमेश्वरस्यैश्वरमसाधारणं योगमचिन्त्य-शक्तिप्रभावं पश्य, अन्यत्रासम्भावितत्वेऽपि अघटितघटनापटीयस्त्वसामर्थ्यरूपं ममाचिन्त्यशक्तियोगेन न किमप्यसम्भावनीयमित्यर्थः। तदेवोपपादयति—भूतभृदिति। बिभर्त्ति धारयति पोषयति वा तथा भूतोऽप्यहं न च भूतस्थो, यथा जीवो देहं धारयन्पालयन्वा तदहङ्कारेण तत्संसक्तो भवति, अहं तु भूतानां धारणपोषणकर्त्ताऽपि अहङ्काराभावात्तत्संसक्तो न भवामीत्यर्थः। असङ्गत्वे कथं कार्योत्पत्तिरिति चेत्तत्राह—ममात्मा। सङ्कल्पलक्षण आत्मा मन एव भूतानां भावन उत्पादकः। "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेये"ति श्रुतेः।

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥

असंसक्तयोरप्याधारधेयभावं दृष्टान्तेनाह—यथेति। अवकाशात्मके आकाशे नित्यं स्थितो वायुः सर्वत्रगः सर्वत्रोद्ध्वाधस्तिर्यक् गच्छति, महान्महत्परिमाणकः। एवम्भूतोऽपि यथाऽऽकाशे न संश्लिष्यते, असङ्गत्वात्। तथाऽसङ्गस्वभावे मयि संश्लेषं विनैव सर्वाणि भूतानि स्थावरजङ्गमरूपाणि स्थितानि मदायत्तस्थितिप्रवृत्तिकानीत्युपधारयेत्येवं मम सर्वाधारत्वमसङ्गत्वं च विजानीहीत्यर्थः।

मुझ में स्थित रहने पर भी जीवमात्र पात्र में घृत के समान मेरे में चिपटे नहीं हैं, क्योंकि मैं असङ्ग हूँ। वेद में भी कहा है :—"असङ्गोह्ययं पुरुषः" अर्थात् वह पुरुष (परमात्मा) निःसङ्ग है, किसी से लिप्त नहीं है। यदि ऐसी बात हो तो व्यापकत्व (सबमें रहना) और आश्रयत्व (सब का आधार होना), जो पीछे कह चुके हैं, कैसे सिद्ध होगा ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं, कि यही तो मुझ परमात्मा की असाधारण ईश्वरता है। मेरे इस विलक्षण योग अर्थात् अचिन्त्यशक्ति के प्रभाव को देखो। दूसरी जगह ऐसी बात न घट सके तो भी अघटन घटना-कुशल सामर्थ्य होने से मुझ में कुछ भी असम्भव नहीं है। इसी बात को फिर स्पष्ट करते हैं। जीवों का धारण करनेवाला वा पोषण करनेवाला होकर भी मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। जैसे जीव शरीर को धारण वा पालन करने से अहंकारयुक्त होकर उसमें संसक्त हो जाता है वैसा मैं नहीं होता। भाव यह कि सब भूतों को मैं धारण वा पालन करता हूँ सही, पर मैं उनमें अहङ्कारयुक्त हो आसक्त नहीं होता, उनसे लिपटता नहीं। यदि कोई शङ्का करे कि असङ्ग होने से आपसे कार्य कैसे उत्पन्न होता है तो इसका उत्तर यह देते हैं कि संकल्पलक्षणवाला मेरा आत्मा अर्थात् मन ही जीवों का उत्पादक है। श्रुति भी कहती है :—"सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय" अर्थात् उसने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ। ऐसी इच्छा से ही सृष्टि हुई ॥५॥

आधार और आधेय भाव बिना संश्लेष के भी हो सकता है, इसको उदाहरण द्वारा बताते हैं। अवकाशात्मक आकाश में स्थित वायु सब जगह, अर्थात् ऊपर नीचे सीधा टेढ़ा चलता है और परिमाण

सर्वभूतानि कौन्तेय ! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

ननु स्यादेतत्तथाऽपि भवान्भूतानां निमित्तकारणमुपादानं वा ? निमित्तत्वे घटादीनां कुलालस्येवाधारत्वमनुपपन्नमुपादानत्वे यथा पृथिव्यां स्थितानां तत्कार्याणां घटादीनां तत्रैव लयः, पुनस्तत एवोत्पत्तिर्विकारत्वेन प्रसिद्धा, तथा त्वयि स्थितानां भूतानां त्वय्येव लयः, पुनस्त्वत्त एव परिणामेनोत्पत्तिः स्यात्तथात्वे तव परिणामित्वापत्त्या कथमसङ्गत्वमिति चेत्तत्राह—सर्वभूतानीति । सर्वाणि भूतानि स्थावरजङ्गमात्मकानि कल्पक्षये प्रलयसमये हे कौन्तेय ! मामिकां मन्नियम्यभूतां शक्तिं प्रकृतिं त्रिगुणात्मिकां मायां यान्ति, तत्र सूक्ष्मरूपेण लीयन्त इत्यर्थः । पुनस्तानि कल्पादौ सर्गकाले विसृजामि । प्रकृत्यैक्यापन्नानि ततो नामरूपविभागेन व्यक्तीकरोमि, अहं सर्वशक्त्याश्रयः परमेश्वरः । एवञ्च मच्छक्तिभूतायाः प्रकृतेरेवोत्पद्यन्ते, तत्रैव प्रलीयन्ते, स्थितिकालेऽपि तत्रैव तिष्ठन्ति । अत एव नच मत्स्थानि भूतानीत्युक्तम्, शक्तेः शक्तिमतः पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यभावादभेदविवक्षया शक्तेः कार्यस्य शक्तिमतोऽप्यभिधानं मुख्यमेवातः शक्तिद्वारेण सर्वभूतोपादानत्वं तदुपादाने कारणान्तरानपेक्षणान्निमित्तत्वं

में बहुत बड़ा है, पर असंगगुणवाला होने से आकाश में लिपटता नहीं है। उसी प्रकार चूंकि मैं असंग गुणावाला हूँ, सब स्थावर जङ्गम जीव मुझ में स्थित होते हुए भी अर्थात् मेरे ही अधीन उनकी स्थिति प्रवृति होने पर भी मुझ में सटे हुये नहीं हैं, ऐसा समझो। भाव कि मैं सर्वाधार होकर भी असंग स्वभाववाला होने से प्राणियों के गुणदोषों से अस्पृष्ट हूँ ॥६॥

यदि ऐसी बात हो कि जगत् के कारण होते हुए भी आप उससे असङ्ग हैं तो जगत् के आप निमित्त कारण हैं, वा उपादान ? यदि आप निमित्त कारण हैं तब तो कुम्हार के समान आप भी सृष्टि के आधार नहीं बन सकेंगे। और यदि आप उपादान कारण हैं तब पृथ्वी में स्थित, उसके कार्य घटादि की उत्पत्ति फिर उसी में लय होना जिस प्रकार उसका विकार (परिणाम) समझा जाता है, उसी प्रकार आप में स्थित जीवों का आप ही में लय होता है और आप ही से विकार द्वारा उत्पत्ति होती है तब विकारी होने के कारण आप असङ्ग कैसे हो सकते हैं ? इस शंका के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! कल्पक्षय में अर्थात् प्रलयकाल के समय स्थावर जङ्गम आदि सभी जीव मेरी नियम्यभूत शक्ति, प्रकृति को अर्थात् त्रिगुणात्मिका माया को प्राप्त करते हैं, अर्थात् सूक्ष्मरूप से उसमें लीन हो जाते हैं। फिर उन्हीं को मैं सृष्टि के समय पैदा करता हूँ अर्थात् प्रलय में प्रकृति से एकाकार को प्राप्त किये हुए भूतों को नाम और रूप के विभाग से प्रगट करता हूँ। मैं सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हूँ और मेरी शक्तिरूपी प्रकृति से ही सब जीव उपजते हैं उसी में लय होते हैं और स्थितिकाल में उसी में वर्त्तमान रहते हैं। इसी से "न च मत्स्थानि भूतानि" कहा है। क्योंकि शक्तिमान् से शक्ति अलग नहीं रह सकती इसलिये अभेदोपचार द्वारा शक्ति के कार्य्य को शक्तिमान् का कार्य कहा जाता है अतः अपनी शक्ति द्वारा सब जीवों का उपादान कारण और, उस उपादान में दूसरे कारण की अपेक्षा न होने से निमित्त कारण भी मैं ही हूँ। इस प्रकार

ममैव सिद्धं, प्रकृतिरूपाया मच्छक्तेर्जडत्वेन स्वरूपाभेदासम्भवात्परिणामादीनां तद्गतत्वमेव, शक्तिविक्षेप-लक्षणपरिणामाङ्गीकारात् । तस्मादचिन्त्ययोगमायेश्वरस्य मम स्वशक्त्यैव जगदुपादानत्वमाधारत्वं लयस्थानत्वं तद्धर्मास्पृष्टत्वं चेति सर्वमविरुद्धम् ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

उक्तार्थमेव स्पष्टयति—प्रकृतिमिति । स्वां स्वकीयां विचित्रपरिणामार्हां त्रिगुणमयीं प्रकृतिम-चेतनशक्तिमवष्टभ्य कार्योत्पादनेच्छया स्वेक्षणविषयां कृत्वाऽष्टधा परिणमय्य इमं चतुर्विधं देवतिर्य-ङ्मनुष्यस्थावरादिरूपं प्रकृतेर्वशात्प्राचीनकर्मनिमित्ततत्तत्स्वभावबलादवशं परतन्त्रं कृत्स्नं भूतग्रामं पुनः पुनः सृष्टिसमये विसृजामि ।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ! ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥

नन्वेवं विषमसृष्टयादीनि कर्माणि कुर्वतस्तव जीववद्बन्धः कुतो न स्यादित्याशङ्क्याह—न चेति । विषमरूपाण्यपि तानि सृष्टयादीनि कर्माणि मां न निबध्नन्ति हे धनञ्जय ! । तत्र हेतुर्गर्भित-विशेषणमाह—उदासीनवदिति । उदासीनवदासीनं न केवलमुदासीनं कर्तृत्वानुपपत्तेः । उदासीन-वद्भावेऽपि हेतुः—असक्तं तेषु कर्मस्विति । तेषु जगत्सर्जनानुग्रहनिग्रहादिषु कर्मसु असक्तमासक्तिशून्य-माप्तकामत्वात् । आप्तकामस्यैव कर्मस्वनासक्तिर्भवति । आसक्तस्यैव कर्माणि बन्धमापादयन्तीत्यर्थः ।

मैं ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण सिद्ध हुआ । प्रकृतिरूप मेरी शक्ति के जड़ होने के कारण चेतन के साथ स्वरूप की एकता असम्भव है इससे परिणाम (विकार) आदि प्रकृतिगत हैं । क्योंकि शक्ति के फैलाने को ही हम परिणाम मानते हैं, इससे अचिन्त्य योगमाया का स्वामी जो मैं हूं उसका अपनी शक्ति द्वारा जगत् का उपादान, आधार, लयस्थान होना और उनके धर्मों से अलग रहना आदि सब बातें सिद्ध हो गईं ॥७॥

ऊपर कहे हुए विषय ही को यहाँ स्पष्ट कर कहते हैं ।

विचित्र परिणामवाली अपनी त्रिगुणमयी अचेतन शक्ति को संसार की उत्पत्ति के लिये अपनी त्रिगुणमयी अचेतन शक्ति को संसार की उत्पत्ति के लिये अपनी इच्छानुकूल ८ विभागों में* विभक्त कर देव, पशु-पक्षी, मनुष्य, स्थावर आदि ४ प्रकार के जीवों को (प्राणी समूह को), जो प्रकृतिवश से अर्थात् पुराने जन्म के किये कर्मों के स्वभावबल से पराधीन बने हुए हैं, बार-बार सृष्टि के समय में रचता हूं ॥८॥

इस प्रकार विषम सृष्टि आदि कर्म्मों को करते हुए आपको और और जीवों के समान बन्धन क्यों नहीं होता ? इस शंका के उत्तर में भगवान् कहते हैं । हे अर्जुन ! ये विषम सृष्टिरचना आदि कर्म मुझे नहीं बाँध सकते, क्योंकि मैं उदासीन जैसा रहता हूँ । "उदासीन जैसा" कहा, "उदासीन"

---

* प्रकृति के ८ भागों को पीछे कह आये हैं ।

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्त्तते ॥१०॥

एकस्यैव कर्त्तृत्वमुदासीनत्वं चेति परस्परविरोधपरिहारार्थमाह—मयेति । अध्यक्षेणाधिष्ठात्रा नियन्त्रा च मयेक्षिता प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका माया सचराचरं जगत्प्रसूयते, उत्पादयति । अनेन मत्सन्निधानेन हेतुना हे कौन्तेय ! जगदुक्तस्वरूपं विपरिवर्त्तते, पुनः पुनर्जायते । अतो न कश्चिद्विरोधः ।

अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

एवम्भूतं परमेश्वरं सर्वाधिष्ठातारं सर्वनियन्तारं सर्वज्ञं सर्वकारणत्वेऽपि दोषास्पृष्टस्वभावं स्वामाश्रित्य किमिति सर्वे न मुच्यन्त इत्यत आह—अवजानन्तीति । मूढा अनादिपापबाहुल्येन मत्स्वरूपादिविषयकाज्ञानावृतत्वान्मोहमापन्ना विपरीतज्ञाना मां भूतमहेश्वरं सर्वजगज्जन्मादिकारणं दोषास्पृष्टस्वभावं सर्वकर्मफलदं मुक्तोपसृप्यं वासुदेवमवजानन्ति, साक्षात्परमेश्वरोऽयमिति न मन्यन्तेऽतो नाद्रियन्ते इत्यर्थः । तेषामवज्ञाने भ्रमकल्पितं हेतुमाह—मानुषीं तनुमाश्रितमिति । कारुण्यादिगुणपरवशतया

नहीं क्योंकि वैसा कहने से वे सृष्टिकर्त्ता नहीं हो सकते । ऐसा कहने में यह भी कारण है कि संसार की सृष्टि, निग्रह, अनुग्रह आदि कामों में मैं आसक्तिशून्य हूँ क्योंकि मैं आप्त-काम अर्थात् पूर्ण मनोरथवाला हूँ । आप्तकामों के लिये कार्य्य बन्धनकारक नहीं होते । आसक्त अर्थात् रागीजन ही बन्धन में पड़ते हैं । जो पूर्णकाम है उसको किसी बात की इच्छा नहीं रहती, इसलिये उसके इच्छारहित कार्य बन्धक नहीं हो सकते । कार्य उन्हीं के लिये बन्धक हो सकते हैं जिनको उन कार्यों में राग वा आसक्ति हो ॥९॥

एक ही भगवान् को जगत् का कर्त्ता होना और उदासीन भी रहना यह परस्पर विरोधी बातें कैसे सम्भव हो सकती हैं ? इस शंका को हटाने के लिये भगवान् कहते हैं कि अधिष्ठाता और नियामक रूप से मेरे दृष्टिपात से (संकल्प से) प्रकृति अर्थात् त्रिगुणात्मिका माया ही इस चराचर जगत् को उत्पन्न करती है । इसी मेरी समीपता के कारण, हे अर्जुन ! पीछे कहे स्वरूपवाला संसार बार-बार सृष्टि के आदि में पैदा होता है । इससे कर्त्ता होकर भी मेरे उदासीन रहने में कोई विरोध नहीं हुआ ॥१०॥

सर्वज्ञ, सर्वेश, सर्वनियामक, सबके कारण होने पर भी निर्दोष, ऐसे आप परमेश्वर का ही आश्रय कर सब लोग क्यों नहीं मुक्त हो जाते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं । अनादिकाल के पापों की बहुलता से मेरे स्वरूप-सम्बन्धी अज्ञान के कारण जो लोग मूढ़ बने हुये हैं अर्थात् मोह को प्राप्त होने से जिनका उलटा ज्ञान हो गया है वे निर्दोषस्वभाववाले, सब कर्मों के फलदाता, सकल जगत् के जन्मादि के कारण, मुक्त मनुष्यों के प्राप्य मुझको वसुदेव का पुत्र समझ मेरी अवज्ञा करते हैं, अर्थात् मैं साक्षात् परमेश्वर हूँ ऐसा नहीं समझते वा मानते । इस अवज्ञा वा अनादर के भ्रमकल्पित कारण को अब

सर्वेषां समाश्रयणीयत्वाय भक्तानुग्रहाय च स्वेच्छया मनुष्याकारमाश्रितं मनुष्यतया प्रतीयमानं प्राकृत-मानुषसमं मन्यन्ते। ततो भ्रान्त्या मुषितज्ञाना मम परं भावं कारुण्यादिगुणेक्षया भक्ताभिलाषपूरणाय मनुष्यत्त्वाद्याकारेणाविर्भवनरूपं परं तात्पर्य्यमजानन्तो मनुष्यमात्रभावनयेतरसजातीयं मत्वा नाश्रयन्त्यतो न मुच्यन्त इत्यर्थः।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

ततस्ते मदवज्ञानजनितमहादुरिताः सर्वपुरुषार्थविधुराः क्रूरस्वभावा नरकार्हा इत्याह—मोघाशा इति। मामुपेक्ष्य चण्डीभैरवगजाननादय एवास्मद्वाञ्छितं दास्यन्तीत्येवम्भूता मोघा निष्फला आशा येषां ते मोघाशा मत्प्रेरणं विना देवतान्तरस्य किञ्चित्फलदाने सामर्थ्याभावात्, अत एव मोघानि व्यर्थानि श्रममात्रशेषाणि कर्माण्यग्निहोत्रादीनि देवतान्तराराधनादीनि च येषां ते मोघकर्माणः। "फलमतः उपपत्तेरि"ति शास्त्रात् कर्मणां जडानां फलदाने शक्त्यभावात्फलदातुर्भगवतो विमुखत्वात्। तथा मोघं परमेश्वराप्रतिपादकं कुतर्कशास्त्रजनितं ज्ञानं येषां ते मोघज्ञानाः। सर्वत्र हेतुः—विचेतस इति। चित्ताधीशवासुदेवचिन्ताशून्यत्वाद्विक्षिप्तचित्ताः प्रमादिन इत्यर्थः। अत एव राक्षसीं तामसीं हिंसाद्वेषबहुलामासुरीं च काममदमात्सर्यदर्पादिप्रधानां मोहिनीं धर्मज्ञानविवेकमोहकर्त्रीं प्रकृतिं योनिं

बताते हैं। करुणा आदि गुणों के वश हो सर्वाश्रय होने और भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए अपनी इच्छा से मनुष्य का शरीर धारण करने के कारण, मनुष्य के समान दीखते हुये मुझको ऐसे लोग साधारण वा प्राकृत ही मनुष्य मानते हैं। मतलब कि ऐसे लोग इस भ्रम से अज्ञानी बन, अर्थात् दयापरवश हो भक्तों की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये मनुष्य शरीर धारण करने के तात्पर्य्य को न समझ, साधारण मनुष्य ही की भाँति मुझे मानते हैं। इसीलिए वे मेरा आश्रय ग्रहण नहीं करते मुक्त नहीं होते हैं ॥११॥

तब वे पूर्वोक्त प्रकार से मेरी अवज्ञा करने के कारण महापापी बने हुए, सब पुरुषार्थों से रहित, क्रूर स्वभाव के होकर नारकी होते हैं। इस को यहाँ कहते हैं। मेरी उपेक्षा करके अन्य देवी, भैरव, गणेश आदि देवता ही मेरा मनोरथ पूर्ण करेंगे, उन लोगों की ऐसी आशा करनी व्यर्थ है, क्योंकि उन उन देवों के अन्तर्यामी रूप से स्थित मेरी इच्छा के बिना कोई भी देवता कुछ नहीं दे सकता। इसलिए ऐसे लोगों के अग्निहोत्र आदि कर्म और दूसरे देवताओं की पूजा आदि सभी कर्म व्यर्थ हैं। वेदान्तसूत्र में कहा है कि—"फलमतः उपपत्तेः" अर्थात् एक ब्रह्म ही सब जीवों को अपने किए कर्मों का अपने-अपने अधिकारानुसार फल देते हैं और कोई दूसरा नही दे सकता है, यह बात शास्त्रसिद्ध है। इस सूत्र के अनुसार जड़ कर्म फल देने में असमर्थ हैं, और ऐसे जन फलदायक भगवान् से विमुख हैं इसलिये उनके कर्म फलरहित होते हैं फिर परमेश्वर को असिद्ध करनेवाला, कुतर्कियों के शास्त्र का ज्ञान भी व्यर्थ है। इन सबों का कारण यह है कि चित्त के स्वामी वासुदेव का चिन्तन न करने से वे प्रमादी हो जाते हैं।

स्वभावं वा श्रिता भवन्तीति शेषः। अथवा एवम्भूताः सन्तो मामवजानन्तीति पूर्वेणैवान्वयः। तेषां विशेषफलं च—

ममात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्॥
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि॥

मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिमि"ति वक्ष्यते। अतो व्यर्थजीवनास्ते उपेक्षणीयाः। तथा महाभारते श्रीनारदेनोक्तं सभापर्वणि—

कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न सम्भाष्याः कदाचनेति॥

तथा वामने प्रह्लादेनोक्तम्—

वृथा व्रतं वृथा यज्ञा वृथा वेदा वृथा श्रुतम्।
वृथा तपश्च कीर्त्तिश्च यो द्वेष्टि मधुसूदनमिति॥

इसी से वे तामसयुक्त, हिंसा-द्वेषवाली राक्षसी, काम, मद, मात्सर्य, गर्ववाली आसुरी प्रकृति तथा धर्म, ज्ञान, विवेक को हरण करनेवाले मोहक स्वभाव को प्राप्त होते हैं। अथवा ऐसे होकर वे लोग मेरी अवज्ञा वा अनादर करते हैं। इनका विशेष फल सोलहवें अध्याय में कहेंगे, यथा—

"ममात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्॥
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि॥
मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम्॥"

अर्थात् मेरी तथा अपने से दूसरों की जो निन्दा करनेवाले और दूसरों से डाह करनेवाले हैं उन क्रूर अधम मनुष्यों को मैं आसुरी योनि में बार-बार जन्म देता हूँ। इसमें वे मूढ़ मेरे को न प्राप्त होकर अधम गति को जाते हैं। इससे उनका जीवन व्यर्थ है और वे उपेक्षा करने के योग्य हैं।

महाभारत सभापर्व में श्रीनारदजी ने कहा है :—

"कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न सम्भाष्याः कदाचन॥"

अर्थात् जो लोग कमल-लोचन भगवान् श्रीकृष्ण को नहीं पूजते वे जीते हुए भी मरे हैं। उनसे कभी बोलना भी नहीं चाहिए।

वामनपुराण में प्रह्लादजी का वचन है :—

श्रीभागवतेऽपि—

धिग्जन्मनस्त्रिवृद्विद्यां धिग्वृतं धिग्बहुज्ञताम् ।
धिक्कुलं धिक्क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे ॥

स्कान्दे "स कर्त्ता सर्वधर्माणां भक्तो यस्तव केशव ! । स कर्त्ता सर्वपापानां यो न भक्तस्तवाच्युत ! । निःशेषधर्मकर्त्ता वाऽप्यभक्तो निरयं व्रजेदि"ति ।

महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

तर्हि के सफलजन्मानः श्लाघ्या इत्यपेक्षायामाह—महात्मान इति । महान् जन्मान्तरसहस्रार्जितपुण्यसञ्चयैर्विध्वस्तसमस्तपापतया क्षुद्रकामाद्यनभिभूतः परमतत्त्वविचारार्हत्वादुदार आत्मा चित्तं येषां ते महात्मानस्ते तु "अभयं सत्त्वसंशुद्धिरि"त्यादिना वक्ष्यमाणां दैवीं सात्त्विकीं प्रकृतिमाश्रिता

"वृथा व्रतं वृथा यज्ञाः वृथा वेदा वृथा श्रुतम् ।
वृथा तपश्च कीर्त्तिश्च यो द्वेष्टि मधुसूदनम् ॥"

अर्थात् उस मनुष्य का यज्ञ करना, वेद शास्त्र पढ़ना तप करना और कीर्त्ति होना सब व्यर्थ है, जो कृष्ण से द्वेष करता है ।

भागवत् में भी लिखा है :—

"धिग्जन्मनस्त्रिवृद्विद्यां धिग्वृतं धिग्बहुज्ञताम् ।
धिक्कुलं धिक्क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे ॥"

अर्थात् उनके तीनों वेदों की विद्या को, व्रत को, बहुज्ञता को, कुल को, क्रिया करने की कुशलता को धिक्कार है जो श्रीकृष्ण से विमुख रहते हैं ।

स्कन्दपुराण में भी कहा है :—

"स कर्त्ता सर्वधर्माणां भक्तो यस्तव केशव ! ।
स कर्त्ता सर्वपापानां यो न भक्तस्तवाच्युत ! ॥
निःशेष-धर्मकर्त्ता वाऽप्यभक्तो निरयं व्रजेत् ॥"

अर्थात् हे केशव ! वह सब धर्मों का करनेवाला है जो तुम्हारा भक्त है, और वह सब पापों का कर्त्ता है जो तुम्हारा भक्त नहीं है । सब धर्म का करनेवाला भी जो अभक्त है वह नरक में जाता है ॥१२॥

तब किस का जन्म सफल और प्रशंसनीय है ? इसका उत्तर देते हैं :—

हे अर्जुन हजारों जन्मों के पुण्यसंचय से जिनकी आत्मा (चित्त) सारे पापों के नाश हो जाने के कारण क्षुद्र कामादि विकारों के वश में नहीं है और परम तत्त्व के विचारने से उदार है ऐसे महात्मा "अभयं सत्व संशुद्धि" इत्यादि से आगे कही जानेवाली दैवी (सात्त्विकी) प्रकृति को ग्रहण कर, मेरे

अत एवान्यस्मिन्मद्व्यतिरिक्ते वस्तुनि नास्ति मनो येषां तेऽनन्यमनसो भूतादिं सर्वजगत्कारणम् अव्ययमजहत्स्वरूपगुणशक्तिकं स्वानन्यभक्तानुग्रहार्थं यथाभक्ताभिलाषपूर्त्यर्थं मनुष्यसमानाकारेणावतीर्णं मां भजन्ति ।

सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

तेषां भजनप्रकारमाह—सततमिति । अत्यर्थमत्प्रियतया मत्स्वरूपगुणनामाभिनिविष्टान्तःकरणमद्गुणलीलाविशेषद्योत—कनामानि स्मृत्वा पुलकितसर्वाङ्गा हर्षगद्गदकण्ठा माधव मुकुन्द मधुसूदन कृष्ण वासुदेवेत्येवमादीनि नामानि स्तोत्रप्रबन्धादीनि च सततं सर्वदा कीर्त्तयन्तः, यतन्तश्च मत्प्रसादासाधारणकारणभूतेषु मदर्चनवन्दननर्त्तननमस्कारलीलानुकरणादिकर्मसु यतमानाः, भजनान्तरागतविक्षेपमसहमाना विक्षेपहेतून्स्वसम्बन्धिनोऽप्युपेक्षमाणा इत्यर्थः । भक्त्या निरतिशयप्रेम्णा नमस्यन्तश्च "पद्भ्यां दोर्भ्यां च जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा । मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरित" इत्युक्तप्रकारेणाष्टाङ्गैर्मन्मन्दिराजिरादिषु दण्डवत्प्रणामं कुर्वन्तो नित्ययुक्ताः क्षणमात्रमपि मद्वियोगमसहमाना मामुपासते, मत्सेवनैकजीवना भवन्तीत्यर्थः ।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्ते मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् ॥१५॥

अतिरिक्त किसी दूसरे में मन न लगा, सारे जगत् के कारण, अपने गुण, स्वरूप और शक्ति से युक्त, भक्तों पर अनुग्रह करने तथा उनकी अभिलाषा पूर्ण करने के लिये मनुष्य रूप में अवतीर्ण, मुझ सर्वेश्वर को भजते हैं ॥१३॥

अपने भक्तों के भजन करने की रीति को कहते हैं। मेरे भक्त मुझ में अत्यन्त प्रेम होने से मेरे स्वरूप, गुण, तथा नाम में मन लगाये रहते हैं, और मेरे गुण और लीला के सूचक नामों को ले लेकर रोमाञ्चित हो गद्गद् कण्ठ से माधव, मुकुन्द, कृष्ण आदि नाम जपते हैं तथा स्तोत्र प्रबन्ध आदि का सदा कीर्त्तन करते हैं। मेरे प्रसन्न होने के मुख्य कारणभूत मेरी पूजा, नमस्कार, नाचना, गाना, लीला का अनुसरण आदि कर्मों में लगे हुये वे भजन में आनेवाली विघ्नबाधाओं की, यहाँ तक कि मेरी पूजादि के बाधक अपने सम्बन्धियों की भी उपेक्षा करते हैं और अत्यन्त प्रेम से मेरे मन्दिर के आँगन में साष्टांग दण्डवत नमस्कार करते हुए क्षण भर के लिए भी मेरे वियोग को नहीं सह सकते अर्थात् मेरी सेवा शुश्रूषा ही उनका जीवन हो जाता है। नमस्कार का अर्थ यह है कि :—

"पद्भ्यां दोर्भ्यां च जानुभ्यामुरसा सिरसा दृशा ।
मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः ॥"

अर्थात् पैरों, भुजाओं, जङ्घाओं, छाती, सिर, नेत्र, मन और बचन से जो प्रणाम किया जाता है उसको अष्टांग प्रणाम कहते हैं ॥१४॥

तेभ्योऽपि विशिष्टा महात्मानो मामुपासत इत्याह—ज्ञानयज्ञेनेति । अन्येऽपि महात्मानो मामुपासते । किं कुर्वन्तो ? ज्ञानयज्ञेन । चकारात्पूर्वोक्तैः कीर्त्तनादिभिश्च । यजन्तः पूजयन्तः । ज्ञानप्रकारमाह—एकत्वेन पृथक्त्वेनति । सर्वाभेदेन सर्वभेदेन चेत्यर्थः । तदेवोपपादयति—बहुधा विश्वतो मुखमिति । विश्वतो मुखं विश्वान्तर्यामिणमेकत्वेन, बहुधा बहुप्रकारं व्यष्ट्यन्तर्यामिणं बहुत्वेन तद्वैलक्षण्येन च । तथाहि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति । आत्मैवेदं सर्वं, वासुदेवः सर्वमिति सकलमिदमहं च वासुदेवः परमपुमान् परमेश्वरः स एकः सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थित"इत्यादिश्रुतिस्मृत्यभिहितसर्वचेतनाचेतनजगदात्मकत्वेन विश्वरूपं सन्तं मामेकत्वेनावगत्य "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्, यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः, वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च, सूर्य्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः, एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्य" इत्यादिश्रुतिभ्यो

ऊपर कहे हुए लोगों से भी बड़े महात्मा मेरी उपासना जिस प्रकार करते हैं, वह अब कहता हूँ। ये लोग पहले कहे हुए कीर्तन आदि के अलावा ज्ञानयज्ञ से भी मुझको सबसे भिन्न तथा सबसे अभिन्न अर्थात् भिन्नाभिन्न समझते हुए, अनेक प्रकार से पूजा करते हैं। क्योंकि विश्व भर के अन्तर्यामी होने के कारण अनेक, तथा विश्व और व्यष्टि से विलक्षण समझ मेरी उपासना करते हैं। इस प्रकार की उपासना करने के प्रमाण श्रुति स्मृति आदि में बहुत मिलते हैं। यथा :—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्" अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक होने से ब्रह्म है। "आत्मैवेदं सर्वम्" अर्थात् यह सब आत्मा ही है। "वासुदेवः सर्वमिति" अर्थात् वासुदेव ही सब कुछ हैं। "सकलमिदमहं च वासुदेवः परमपुमान् परमेश्वरः स एकः," "सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः" अर्थात् परमपुरुष परमेश्वर वह वासुदेव एक ही है। वह अनन्त है और सर्वगत है। वह मैं ही हूँ। इन सब श्रुतिपुराण वाक्यों से सब चेतन-अचेतन जगत् का आत्मा होने के कारण विश्वरूप मुझको एक जानकर और "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः। वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च। सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्य दोषैः। एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" अर्थात् वह (ब्रह्म) नित्यों में भी नित्य है, चेतन का भी चेतन है, बहुतों में एक है, जो कामनाओं को पूर्ण करता है, जो पृथिवी पर रहता हुआ पृथिवी के अन्तर में है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, जो पृथिवी का अन्तरात्मा है, और उसको नियमन करता है, वही तुम्हारा भी अन्तर्यामी और अमृत आत्मा है। एक वायु संसार में वर्त्तमान रहकर जैसे प्रत्येक रूप के प्रति समान बन जाता है वैसे ही सब जीवों का अन्तरात्मा परमेश्वर प्रत्येक रूप के समान हो जाता है। सूर्य जैसे

बहुधा बहुरूपं सन्तमपि मां तद्धर्म्मास्पृष्टस्वभावतया पृथक्त्वेन सर्वचेतनाचेतनजगतोऽत्यन्तवैलक्षण्येनोपासते इत्यर्थः ।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

उक्तमात्मनो बहुप्रकारत्वं प्रपञ्चयति—अहमित्यादि चतुर्भिः । क्रतुः श्रौतोऽग्निष्टोमादिरहमेव । यज्ञो स्मार्त्तो महायज्ञाख्योऽप्यहमेव । स्वधा पितृगणपुष्टिदायिनी अहम् । औषधं चाहमेव । अहमेव मन्त्रो याज्या पुरोऽनुवाकादिः । आज्यं होमसाधनमहमेव अग्निराहवनीयादिरहमेव । हुतं होमश्चाहमेव ।

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्सामयजुरेव च ॥१७॥

किञ्च—पितेति । अस्य जगतः पितृत्वादिषु वर्त्तमानोऽहमेव । अत्र धातृशब्दो मातृपितृव्यतिरिक्ते उत्पत्तिप्रयोजके जनविशेषे वर्त्तते । वेद्यं ज्ञेयं वस्तु पवित्रं पावनमोङ्कारः प्रणवोऽहमेव । ऋगादिवेदाश्चाहमेव ।

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

गतिर्गम्यते इति गतिः फलं स्वर्गलोकादिः । भर्त्ता पोषको धारयिता वा प्रभुर्नियन्ता । साक्षी साक्षाच्छुभाशुभकर्मद्रष्टा । निवासः निवासस्थानं, शरणमिष्टप्रापकतयाऽनिष्टनिवारकतया रक्षकः । सुहृत् हिताशंसी, प्रभवः प्रकर्षेण भवति कार्यमनेनेति प्रभवः स्रष्टा । प्रलीयतेऽनेनेति प्रलयः संहर्त्ता ।

सब लोक का नेत्र होकर भी बाहरी नेत्र के दोषों से दूषित नहीं होता, वैसे ही सब लोक का अन्तरात्मा परमेश्वर बाहर लोक के दोष से लिप्त नहीं होता । इत्यादि श्रुतियों से बहुरूप होने पर भी उनके धर्मों से रहित मुझको सब चेतनाचेतन जगत् से पृथक् जानकर मेरी उपासना करते हैं ॥१५॥

अपने को जो अनेक कह आये हैं उसी अनेकता को चार श्लोकों से दिखलाते हैं । श्रुतिप्रतिपादित अग्निष्टोम आदि यज्ञ मैं ही हूँ । स्मृतिप्रतिपादित महायज्ञ मैं ही हूँ । पितरों को पुष्टि देनेवाली स्वधा मैं ही हूँ । मैं ही औषध हूँ । "याज्या पुरोऽनुवाक्" आदि मन्त्र मैं ही हूँ । होम के साधन घी आदि मैं ही हूँ । आहवनीय अग्नि मैं ही हूं और मैं ही होम हूँ ॥१६॥

इस जगत् के पिता, माता, धारणकर्त्ता और पितामह मैं ही हूँ । जानने योग्य पवित्र ओङ्कार मैं ही हूँ । ऋक, साम और यजुर्वेद मैं ही हूँ ॥१७॥

पुण्य कर्मों से प्राप्य फल स्वर्ग आदि मैं ही हूँ । पालक वा धारक मैं ही हूँ । नियन्ता और शुभाशुभ कर्म का देखनेवाला मैं ही हूँ । निवास स्थान और इच्छित वस्तु की प्राप्तिकारक और अनिष्ठनिवारक होने से शरण अर्थात् रक्षक मैं ही हूँ । सबका हितकारी, उत्पत्ति करनेवाला, संहारक, आधार,

तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थानमाधारः, निधीयते भोगाऽयोग्यतया क्षिप्यतेऽस्मिन्निति निधानं प्रलयस्थानं, तथाऽव्ययं बीजं परं व्ययरहितं तत्तत्कारणं तत्सर्वमहमेव ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ! ॥१९॥

आदित्यरूपेण ग्रीष्मेऽहमेव तपामि तापयामि । वर्षं पूर्ववृष्ट्यवशिष्टं रसं पृथिव्या निगृह्णामि शोषयामीत्यर्थः । तमेव निगृहीतं रसं पुनर्बहुगुणमुत्सृजामि च । अमृतं प्राणिनां जीवनं चाहमेव । मृत्युः-प्राणिनां विनाशश्चाहम् । सदसच्च स्थूलं सूक्ष्मं चैतत्सर्वमहमेव हे अर्जुन ! एवं सर्वात्मानं मामेव ज्ञात्वा यथाधिकारमेकधा बहुधा च मामेवोपासते इति पूर्वोक्तमुपसंहृतम् ।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः, यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-,मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥२०॥

तदेवं भगवन्तमवजानतामभक्तानां राक्षस्यादिप्रकृतिनिरूपणेन तदनुरूपं फलमप्यर्थादुक्तम् । ततो ज्ञानभक्तिनिष्ठानां महात्मनां भक्तानां दैवीप्रकृतिनिरूपणेन भगवदनुग्रहफलं ज्ञेयमिदानीं ये न भगवद्विरोधिनो न वा भक्ताः, किन्तु स्वर्गादिफलकामुकाः केवलेन्द्रादिदेवभक्तास्तेषामिहामुत्र गतागतमेव फलमित्याह—द्वाभ्याम्—त्रैविद्या इति । ऋग्यजुःसामाख्यास्तिस्रो विद्याः स्वाभीष्टार्थबोधिका येषां ते त्रिविद्यास्त्रिविद्या एव त्रैविद्याः । वेदत्रय्युक्तकर्मनिष्ठा, नतु त्रिविद्याशिरस्कोपनिषन्निष्ठा इत्यर्थः । वेदत्रय-विहितैर्यज्ञैरग्निष्टोमादिभिर्वस्तुतो मामिन्द्रादिरूपमिष्ट्वा तथा मामजानन्तः केवलमिन्द्रादिबुद्ध्या पूजयित्वा

निधान अर्थात् भोग के योग्य कर्म न करने पर जिसमें डाला जाय वह खजाना अर्थात् प्रलय स्थान और अविनाशी बीज अर्थात् सबका कारण मैं ही हूँ ॥१८॥

सूर्यरूप से गरमी के दिन में मैं ही तपाता हूँ । और पहले की वर्षा के बचे हुए रस को पृथ्वी से मैं ही सोखता हूँ । उसी ग्रहण किये हुये रस को फिर बहुत परिणाम से छोड़ता अर्थात् बरसाता हूं । प्राणियों का जीवन मरण मैं ही हूँ । हे अर्जुन ! स्थूल और सूक्ष्म सब मैं हूं । इस प्रकार मुझे ही सर्वात्मा समझ, यथाधिकार अनेक रूप से मेरी उपासना महात्माजन किया करते हैं । पूर्व कही उपासना विधि को यहाँ समाप्त करते हैं ॥१९॥

इस प्रकार भगवान् के निरादर करनेवाले अभक्तों का राक्षसी आदि प्रकृति के कारण, तदनुरूप फल का पाना पीछे कहा । फिर ज्ञानभक्तनिष्ठ महात्मा भक्तों को, दैवीप्रकृति होने के कारण, भगवान् की कृपारूपी फल प्राप्त होने की बात भी कह चुके । अब जो न तो भगवान् के विरोधी ही हैं और न भक्त ही हैं किन्तु स्वर्गादि फल पाने की इच्छा से इन्द्रादि देवताओं के उपासक हैं उनको यहाँ वहाँ आवागमन रूप ही प्राप्त होता है, इसी को दो श्लोकों से कहते हैं । जिनकी निष्ठा वेद के शिरोभाग उपनिषदों में नहीं है, किन्तु जो वेदत्रय में कहे हुए कर्मों में ही श्रद्धा रखते हैं, वे ऋक्, यजु, साम नामक तीनों वेदों में कहे हुए अग्निष्टोम आदि कर्मों से इन्द्रादि रूप में मेरी पूजा करनेवाले मुझे सबका

यज्ञशेषं सोमं पिवन्तीति सोमपास्तत एव पूतपापाः स्वर्गादिविरोधिपापान्निर्मुक्ताः सन्तः स्वर्गगतिं स्वर्गप्राप्तिमेव गतिं यज्ञफलं ये प्रार्थयन्ते, ते पुण्यफलरूपं सुरेन्द्रलोकमासाद्य दिवि स्वर्गे दिव्यान् दिवि भवान् देवसम्बन्धिभोगानश्नन्ति भुञ्जते ।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः, गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

ततश्च—ते तं भुक्त्वेति । ते स्वर्गकामा इह यज्ञोद्भूतपुण्येन यत्प्रार्थितं तं विशालं विस्तीर्णं स्वर्गलोकं तज्जन्यं सुखं भुक्त्वा तद्भोगप्रापके पुण्ये क्षीणे सति पुनः पुण्योपचयाय मर्त्यलोकं कर्मभूमिं प्रविशन्ति, पुनर्गर्भवासादिदुःखानुभवपूर्वकं पुनरेवमुक्तप्रकारेण त्रयीधर्मं वेदत्रय्या प्रतिपादितं धर्ममनुप्रपन्ना अनुसृताः कामकामाः कामान्भोगान्कामयमाना गतागतं लभन्ते । कर्म कृत्वा तत्फलभोगाय स्वर्गं यान्ति । तत्र तत्सुखं भुक्त्वा क्षीणपुण्यास्ततः पुनरिहागत्य कर्म कुर्वन्तीत्येवं जन्ममरणरूपसंसारप्रवाहमनिशमनुभवन्तीत्यर्थः ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

एवं सकामाः संसरन्तीत्युक्तं, निष्कामा मद्भक्तास्तु मदनुग्रहात्सर्वपुरुषार्थभाजो भवन्तीत्याह—अनन्या इति । न विद्यतेऽन्यो मद्व्यतिरिक्तः प्राप्य उपास्यो वा येषां तेऽनन्या मां परमप्राप्यं देवदेवं चिन्तयन्तो ये जनाः पर्युपासते, परि सर्वतो देहेन्द्रियान्तःकरणैः सेवन्ते, तेषां नित्याभियुक्तानां नित्यमन-

---

अन्तर्यामी होने से सर्वदेव रूप नहीं जान के केवल इन्द्र आदि समझ कर पूजते हैं, और सोमवल्ली को कूट के उसके रस से होमकर और यज्ञ शेष रस को पीकर स्वर्गादि के विरोधी पापों से मुक्त हो केवल स्वर्ग की प्राप्ति मात्र चाहते हैं। ऐसे लोग अपने किये कर्मों के पुण्यफलस्वरूप इन्द्रलोक को प्राप्त कर वहाँ देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं ॥२०॥

स्वर्ग की इच्छावाले मनुष्य यज्ञ के पुण्य से प्राप्त, बहुत बड़े स्वर्ग और वहाँ के सुख को भोगकर, उस भोग के देनेवाले पुण्य के क्षीण हो जाने पर, फिर पुण्य बटोरने के लिये इस कर्मभूमि संसार में जन्म लेते हैं। फिर भी गर्भवास आदि के प्रबल दुःखों को उठाते हुए ऋक्, यजु, साम में कहे कर्मकाण्ड द्वारा प्रतिपादित धर्म के अनुष्ठानों को, भोग प्राप्ति की इच्छा से, करते हैं। इस प्रकार ये लोग आवागमन ही में पड़े रहते हैं। अर्थात् कर्म करके उसके फल को भोगने के लिये स्वर्ग जाते हैं। वहाँ सुख भोगकर पुण्य क्षीण होने पर फिर संसार में आकर कर्म करते हैं। इस ढंग से जन्म मरणरूप संसार में ये सदा दुःख भोगा ही करते हैं ॥२१॥

इस प्रकार सकामी ही जन जन्म लेते हैं और जो मेरे निष्काम भक्त हैं, वे मेरी कृपा से हो सब पुरुषार्थ लाभ करते हैं। यही यहाँ कहते हैं। जो दूसरों की उपासना छोड़ मुझे ही परम प्राप्य वा उपास्य, देवों का देव मानकर मेरी उपासना करते हैं अर्थात् मेरे अनन्य भक्त मन, वच, कर्म से मेरी

वरतमादरेण मयि मनोऽभियुञ्जतां योगं मत्प्राप्तिपर्यन्तस्य सर्वपुरुषार्थस्य प्रापणं, क्षेमं तत्संरक्षणं पुनस्तदपायशङ्कावर्जनमित्यर्थः, अहमेव वहामि प्रापयामीत्यर्थः ।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

ननु देवताऽन्तरस्यापि त्वदात्मकत्वात्त्वद्रूपत्वमेवातस्तद्भक्ता अपि त्वामेव भजन्ते । तथा च किं तेषां वैगुण्यं यतस्ते गतागतं लभन्त इत्याशङ्क्याह—येऽपीति । यथा मद्भक्ताः साक्षान्मामेव यजन्ते, तथा येऽपिजना अन्यदेवताभक्ताः श्रद्धयोपेताः संतस्ता एवेन्द्रादिदेवता यजन्ते । तेऽपि हे कौन्तेय ! देवतादिदेहेऽपि मामेव यजन्तीति सत्यम् अपि त्वविधिपूर्वकं यथाऽवस्थितवस्त्वज्ञानेनानुष्ठानमविधिपूर्वकमिन्द्राद्यन्तर्यामिणं मामज्ञात्वा मदुद्देश्याभावेन केवलानिन्द्रादीन्यजन्तीत्यर्थः ।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥

तेषामविधिपूर्वकयजनं तत्फलं च स्पष्टयति—अहं हीति हिरवधारणे । सर्वेषां यज्ञानां तत्तद्देवताऽऽत्मनाऽहमेव भोक्ता प्रभुश्च स्वामी च । तत्र तत्र यज्ञफलदाता चाहमेव । एवं सर्वकर्मकर्तृ देवताऽध्यक्षं

ही सेवा करते हैं, ऐसे निरन्तर आदर से मुझ में मन लगानेवाले के योग क्षेम को मैं ही किया करता हूँ । योग से अर्थ है भगवान्प्राप्ति पर्यन्त सब पुरुषार्थों का मिलना, और क्षेम का अर्थ है, प्राप्त हुए पदार्थों की रक्षा । कहने का मतलब यह कि अपने अनन्य उपासकों को भगवान् ही सब कुछ प्राप्त करा देते हैं और प्राप्त कराई हुई चीजों की रक्षा भी वही स्वयं करते हैं ॥२२॥

दूसरे देवता भी तो त्वदात्मक होने से तुम्हारे ही रूप हैं । इसलिये उनके पूजनेवाले भी तो तुम्हारे ही पूजक हुए । फिर वे किस विगुणता वा दोष के कारण संसार चक्र में घूमते रहते हैं ? इस शंका का उत्तर देते हैं ।

जैसे मेरे भक्त साक्षात् मेरी ही पूजा करते हैं, वैसे दूसरे देवता के भक्त श्रद्धा से इन्द्रादि देवता की पूजा करते हैं । वे भी देवताओं की देह में सर्वात्मा रूप से वर्त्तमान मेरी ही पूजा करते हैं, यह ठीक है । पर यथावस्थित वस्तु के अज्ञान से उनकी पूजा अविधिपूर्वक है । अर्थात् इन्द्रादि रूप में अन्तरात्मा रूप से मुझे न जानकर उन देवताओं को केवल इन्द्रादि समझ कर ही पूजन करते हैं । उस पूजा में मेरा उद्देश्य नहीं करते हैं । इसी से उनकी ऐसी दशा है, अर्थात् वे संसार चक्र में घूमते रहते हैं ॥२३॥

उन सकाम पुरुषों के विधिरहित पूजन और उसके फल को कहते हैं । सब यज्ञों का उन-उन देवताओं का आत्मा रूप मैं ही भोग करनेवाला हूँ, उनका स्वामी हूं और उन यज्ञों का फलदाता भी मैं ही हूँ । इस प्रकार कामनायुक्त, अन्य देवताओं के भक्त, सब कर्म के करनेवाले और देवताओं के

मां ते सकामास्तु तत्त्वेन नाभिजानन्ति। अतः कर्मफलं भुक्त्वा तद्भोगान्ते च्यवन्ति, पुनर्देहग्रहणाय धूममार्गेणावर्त्तन्ते। नतु साक्षान्मामेव तत्त्वेन, देवतासु वा मामेवान्तर्यामिणं यजन्तश्च्यवन्तीति भावः।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

ननु देवतान्तराराधकानां च्युतिरेव भवति चेत्तर्हि "सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक। देवान्भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथे"ति पूर्वं कथं देवताऽन्तराराधनं फलसहितमुपदिष्टमित्याशङ्क्य नाहं देवताऽऽराधनं निष्फलं ब्रवीमि। किन्तु यथा देवतानुरूपमेव फलं भवतीत्याह यान्तीति। देवेष्विन्द्रादिषु व्रतं नियमो भक्तिर्वा येषां ते देवव्रताः। अथवा तेष्वेवेज्यबुद्धयस्ते तानेव देवविशेषान्यान्ति, प्राप्नुवन्ति। पितृव्रताः पितृष्वग्निष्वातादिष्वेवेज्यबुद्ध्या नियमान्वितास्तानेव पितॄन्यान्ति। भूतेज्या भूतेषु यक्षरक्षोविनायक-मातृगणादिषु इज्या पूज्यबुद्धिर्येषां ते तथा तद्यजननिष्ठास्तानि भूतान्येव यान्ति। एवं सत्त्वाधिका रजोऽधिकाश्चैते त्रिविधा देवव्रतादयः स्वस्वाराध्यदेवपितृभूतानुग्रहीतास्तत्तत्समानैश्वर्यसामीप्यसारूप्य-सायुज्याद्येकतरं भावं सर्वं वाऽपि प्राप्य तत्तद्भोगावसाने तैः सह मर्त्यलोके पतन्ति। मद्याजिनो मां साक्षाद्भगवन्तं यष्टुं शीलं येषां ते तु सात्त्विका दैवीसम्पदमाश्रिता अनादिनिधनं कर्मक्लेशविपाकाद्य-

---

अध्यक्ष मुझको ठीक-ठीक नहीं जानते। ये लोग न मुझे साक्षात् देवताओं का अन्तरात्मा समझ ही मेरी पूजा करते हैं। इसीलिये ये लोग संसार चक्र में पड़ते हैं, अर्थात् अपने कर्मों का फल भोगकर वे फिर धूममार्ग से संसार में लौट आते हैं ॥२४॥

यदि दूसरे देवताओं के पूजक फिर जन्म ही धारण करते हैं तब,—

"सहयज्ञा प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्ट कामधुक् ॥
देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥"

जो पीछे कह आए हैं, इसमें दूसरेदेवताओं की फल सहित उपासना क्यों बताई गई है? इस शंका का उत्तर देते हैं। भगवान् कहते हैं कि मैं अन्य देवताओं की उपासना को निष्फल नहीं बताता, किन्तु देवता के अधिकारानुसार उस उपासना का क्षुद्र ही फल होता है, यही कहता हूँ। इन्द्रादि देवताओं के भक्त इन्द्रादि ही को पाते हैं। पितृभक्त अग्निष्वाता आदि पितृगण को ही पाते हैं। यक्ष, रक्ष, विनायक, मातृगण के पूजक उन्हीं को पाते हैं। इस प्रकार सत्व, रज और तमोगुणवाले लोग अपने-अपने गुणों की अधिकता के अनुसार अपने-अपने आराध्यदेव, पितृ, भूत आदि की उपासना से उनके अनुग्रह को प्राप्त कर अपने उपास्य देव के अनुरूप ऐश्वर्य्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य आदि भावों में से किसी एक को या सबको पाकर भोग के अन्त में फिर उनके साथ ही संसार में गिरते हैं। किन्तु

स्पृष्टस्वभावं समस्तेतरविलक्षणानन्तासंख्येयनित्यैश्वर्यशक्तिकमनवधिकातिशयानन्दं मामेव यान्ति, न पुनश्च्यवन्तीत्यर्थः। अतोऽन्यदेवभक्तेभ्यो मद्भक्तानां महान्विशेष इति भावः।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

किञ्च देवतान्तरभजने तद्भक्तानां महान्प्रयासो मद्भक्तानां तु मदुपासनेऽतिसौकर्य्यमित्याह—पत्रमिति। अनायासलभ्यं पत्रं नवपल्लवं दुर्वाङ्कुरादिपुष्पं वा तोयं वाऽन्यत्किञ्चिद्वस्तु यः कश्चिदपि पुमान्मे मह्यं परमेश्वरायाप्तकामाय भक्त्या निरतिशयप्रीत्या सर्वं त्वदीयमेव, न मम किञ्चिदिति त्वदनन्यभक्तोऽहं त्वदीयमेव तुभ्यं समर्पयामि। पूर्णकामस्त्वं केवलं मदनुग्रहायाङ्गीकुरुष्वेति प्रार्थनया प्रयच्छति। तस्य प्रयतात्मनः शुद्धमनसः प्रकर्षेण मदर्चने यतमनस इति वा तत्तथाविधभक्त्युपहृतमहं सर्वेश्वरोऽवाप्तसमस्तकामोऽप्यखिलब्रह्माण्डनायकोऽपि ब्रह्मेशेन्द्राद्याराधनाशक्योऽपि भक्ताधीनस्वभावत्वादश्नामि। तथोक्तं—मोक्षधर्मे नारायणीयाख्याने। "यद्ब्रह्मा ऋषयश्चैव स्वयं पशुपतिश्च यत्। शेषाश्च विबुधश्रेष्ठा दैत्यदानवराक्षसाः॥ नागाः सुपर्णगन्धर्वाः सिद्धा राजर्षयश्चये। हव्यं कव्यं च सततं विधियुक्तं प्रयुञ्जते॥ कृत्स्नं तु यस्य देवस्य चरणावुपतिष्ठते। याः क्रियाः सम्प्रयुक्ताश्च ह्येकान्तिगति बुद्धिभिः। ताः सर्वाः शिरसा देवः प्रतिगृह्णाति वै स्वयमि"ति।

मेरी भक्ति करनेवाले दैवीसम्पत्ति युक्त, अनादि कारण, कर्म क्लेश विपाकादि से रहित, सबसे विलक्षण, अनन्त, असंख्य और नित्य ऐश्वर्य्य और शक्ति से युक्त, निःसीम आनन्द रूप मुझको ही प्राप्त होते हैं। और वे फिर जन्म धारण नहीं करते। अन्य देवताओं के भक्तों से मेरे भक्तों की यह बड़ी विशेषता है ॥२५॥

दूसरी बात यह है कि अन्य देवताओं की सेवा करने में उनके भक्तों को भारी प्रयत्न करना पड़ता है पर मेरे भक्तों को मेरी सेवा में बड़ी सुगमता है। यही कहते हैं। बिना परिश्रम के मिला तुलसीपत्र, दूब आदि, फूल फल, जल आदि जो वस्तु कोई मुझ आप्तकाम को भक्ति से अर्थात् निरतिशय प्रेम से इस प्रकार से अर्पण करता है कि सब वस्तु हमारी ही है, मेरी नहीं, मैं आपका अनन्य भक्त आपकी ही वस्तु आपको अर्पण करता हूं, आप पूर्णकाम हैं, केवल मुझ पर दया करने ही के लिये स्वीकार करें, ऐसी प्रार्थना कर जो देता है, उस शुद्ध चित्तवाले, मेरी पूजा में लगे हुए भक्त के द्वारा भक्ति से दी हुई उन सब चीजों को मैं, सर्वेश्वर, पूर्णकाम, अखिल ब्रह्माण्ड के नायक, और ब्रह्मादि से भी अगम्य होने पर भक्ताधीन होने के कारण ग्रहण कर लेता हूँ। जैसा कि मोक्षधर्म में नारायणीय आख्यान में कहा है :—

"यद्ब्रह्मा ऋषयश्चैव स्वयं पशुपतिश्च यत्।
शेषाश्चबिबुधश्रेष्ठा दैत्यदानवराक्षसाः॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

अहो महान् भक्तेः प्रभावो यतो महाविभूतिपतिरनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकोऽपि भवान् भक्त्या-ऽर्पितमतिफलगुपत्रपुष्पाद्यपि अश्नाति । हन्त तर्हि भक्तस्यासाधारणं धर्मं वद येनाहमपि त्वद्भक्तः स्यामित्यत आह—यत्करोषीति । यत्स्वाभाविकं लौकिकं किञ्चित्कर्म तथा यद्देहधारणार्थमश्नासि, यज्जुहोषि वैदिकं होमकर्म करोषि । तथा यद्ददासि । यत्तपस्यसि । उपलक्षणमेतत्सर्वेषां नित्यनैमित्तिक-कर्मणाम् । तथा च यत्किञ्चित्स्वभावप्राप्तमाहारविहारेक्षणादिकं, यच्च शास्त्रविहितं होमदानव्रत-स्नानादिकं सर्वं कर्म मदर्पणं मय्यर्पितं यथा स्यात्तथा कुरुष्व । कर्मकर्तृत्वमुपायमुपेयं च सर्वं मय्येवार्पयित्वा निर्भरत्वभवनपूर्वकं स्वस्यैहिकामुस्मिकस्य सर्वस्य शुभाशुभस्य मदधीनत्वव्यवसाय इति मदनन्यभक्तासाधारणो धर्मस्तस्मात्त्वं मदाराधनैकनिष्ठो मय्यर्पितसर्वस्वो भवेति भावः ।

नागाः सुपर्वगन्धर्वाः सिद्धाः राजर्षयश्च ये ।
हव्यं कव्यं च सततं विधियुक्तं प्रयुञ्जते ॥
कृत्स्नं तु तस्य देवस्य चरणावुपतिष्ठते ।
याः क्रियाः सम्प्रयुक्ताश्च ह्येकान्तिगतिबुद्धिभिः ।
ताः सर्वाः शिरसा देवः प्रतिगृह्णाति वै स्वयम् ॥"

अर्थात् ब्रह्मा, ऋषि, स्वयं शिव, बाकी और श्रेष्ठ देवता, दैत्य, दानव, राक्षस, नाग, गन्धर्व, सिद्ध, राजर्षि जो हव्य कव्य विधिसहित भगवान् को देते हैं, वह सब उस भगवान् के चरणों में पहुँचता है और जो क्रियायें एकान्त गति और बुद्धि से की जाती हैं उन सबों को भगवान् सादर अपने सिर से ग्रहण करते हैं ॥२६॥

अहा ! तब तो भक्ति का प्रभाव बहुत बड़ा है जिससे महाविभूति के स्वामी और अखिल ब्रह्माण्ड के नायक होकर भी आप अति तुच्छ पत्र पुष्प आदि स्वीकार कर लेते हैं । यदि ऐसा ही है तो अब आप अपने भक्तों के विशेष धर्म को कहें जिसे जानकर मैं भी तुम्हारा भक्त होऊँ । इस पर भगवान् कहते हैं !

स्वाभाविक वा लौकिक जो कर्म करो, देह धारण के लिये जो कुछ भी भोजन करो, जो वैदिक हवन कर्म करो, जो दान दो, जो तपस्या करो, अर्थात् जो कुछ भी नित्य वा नैमित्तिक कर्म करो और स्वाभाविक आहार विहार देखना इत्यादि तथा शास्त्रविहित स्नान, दान, व्रत आदि जो कर्म करो सब मुझे अर्पण कर दो । कर्म, कर्त्तृत्व, उपाय, उपेय आदि सभी विषयों को मुझे अर्पणकर मेरे ही ऊपर निर्भर करते हुए अपने इस लोक के और परलोक के शुभाशुभ कर्मों को मेरे आधीन निश्चय करके जानना, यही मेरे भक्त का असाधारण धर्म है । अतः मेरी आराधना में ही एकनिष्ठ हो और मुझे ही सर्वस्व (सब कुछ) अर्पण कर दो ॥२७॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

एवंवृतस्त्वं यत्फलं प्राप्स्यसि तच्छृणु—शुभाशुभफलैरिति । एवं मदुक्तप्रकारेण संन्यासः मयि सर्वं कर्मकर्तृत्वादिसमर्पणं स एव योगस्तेन युक्त आत्मा चित्तं यस्य तथाभूतः सन् शुभाशुभे इष्टानिष्टे फलं येषां तै कर्मबन्धनैः कर्मरूपैर्बन्धनैर्मोक्ष्यसे । कर्मणां मय्यर्पितत्वात्तव तत्सम्बन्धानुपपत्तेः । ततश्चतैर्विमुक्तः सन्मामेवोपैष्यसि । न पुनः संसारे वर्त्स्यसीत्यर्थः ।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

ननु यद्येवं त्वं स्वभक्तानेवात्मभावं प्रापयसि नान्यांस्तर्हि तवापि रागद्वेषयोगात्सर्वेश्वरत्वं कथं स्यादिति चेत्तत्राह—सम इति । सर्वेषु देवतिर्यङ्मनुष्यपश्वाद्यात्मनाऽवस्थितेषु जातिस्वभावज्ञानाज्ञानादिनोत्तममध्यमाधमेषु भूतेषु प्राणिषु भजनीयतयाऽन्तर्यामितया च समोऽहं, यतो न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः । अपकृष्टजातिस्वभावज्ञानादिमताऽराध्यमानस्य मे न कश्चिदपकर्षो भवत्यतस्तथाभूतो मदाराधको मम द्वेषविषयो न भवति । तथोत्कृष्टजातिस्वभावज्ञानादिना पुरुषेणाराध्यमानस्य मे कश्चिदुत्कर्षो न भवत्यतो जात्यादिरुत्कृष्टोऽयमित्येवं मत्प्रीतिविषयो न भवति । एवमपि ये तु जात्यादिनिकृष्टा उत्कृष्टा वा भक्त्या मां भजन्ति ते मयि चित्तवृत्त्या वर्त्तन्ते । अहमपि तेष्वनुग्राहकतया वर्त्ते, तेषां मद्वियोगो न भवतीत्यर्थः । यथा जात्यादिनिकृष्टा गजेन्द्रशवरीगुहकप्यादयः, उत्कृष्टाः श्रुतदेवबहुलाश्वभीष्म-

---

ऐसा करने से जैसा फल तुम्हें मिलेगा इसे सुनो । इस प्रकार मेरे कहने के अनुसार सब कर्म, कर्त्तृत्व आदि अर्पणरूप संन्यासयोग से युक्त होने पर इष्टानिष्टवाले शुभाशुभ कर्मों के बन्धनों से तुम छुटकारा पा जाओगे । क्योंकि कर्मों को मुझ में अर्पण करने से उनसे तुम्हारा सम्बन्ध नहीं रहेगा और इस प्रकार उनसे विमुक्त हो तुम मुझको प्राप्त करोगे और फिर संसार में नहीं आवोगे ॥२८॥

यदि आप अपने भक्तों ही को आत्मभाव वा मुक्ति देते हैं, औरों को नहीं तो आप भी राग द्वेष के वश होते हैं। फिर आप सर्वेश्वर कैसे हो सकते हैं ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं। जाति, स्वभाव, ज्ञान आदि से उत्तम, मध्यम, अधम श्रेणी के देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जीवों का पूजनीय और अन्तर्यामी होने के कारण मैं सबके लिये बराबर हूँ । इसलिए न तो मेरा कोई शत्रु है और न कोई मेरा मित्र है । यदि नीच जाति और स्वभाववाला पुरुष भी मेरी आराधना करता है तो उससे मेरा अपकर्ष वा हीनता नहीं होती और न उच्च जाति वा स्वभाववालों द्वारा पूजे जाने से मेरा उत्कर्ष वा श्रेष्ठता ही होती है । इससे यह जाति में ऊँचा है ऐसा समझ मैं किसी को प्रेम पात्र नहीं बनाता, और न यह समझ कि यह जाति में नीचा है मैं किसी से द्वेष ही करता हूँ । इस भाँति जो, चाहे वे ऊँची जाति के हों वा नीची जाति के, मेरा भजन करते हैं वे सब चित्तवृत्ति से मुझ में सदा वर्त्तमान रहते हैं, और मैं भी उनमें अनुग्रह वा कृपा भाव से सदा वर्त्तमान रहता हूं, अर्थात् उनमें मेरा वियोग नहीं होता ।

पाण्डवादयः, सर्वेऽपि मन्निष्ठा मदनुग्राह्यत्वेन समा एव। न त्वभक्ता दुर्योधनादयः। एवं न मे वैषम्यापत्तिः। यथा कल्पवृक्षः स्वाश्रितस्यैव मनोरथं पूरयति, यथा वाऽग्निः स्वाश्रितस्यैव शीतं तमश्च नाशयति, न तेन तस्य किञ्चिद्वैषम्यं तथा ममापि भक्तानेवानुग्रह्णतो न किञ्चिद्वैषम्यमिति भावः। तथोक्तं श्रीभागवते युधिष्ठिरेण "न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात्सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः। संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्रे"ति।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥३०॥

किञ्चालौकिकं मम भक्तेः प्रभावं शृणु—अपि चेदिति द्वाभ्याम्। न तावन्मदनन्यभक्तानां दुराचारः सम्भवति, यदि कथञ्चित्स्यात्तत्सम्भावनापरावपिचेच्छब्दौ "अपिः पदार्थसम्भावनाऽन्ववसर्गगर्हासमुच्चयेष्वि"ति सूत्रात्। केन चिज्जन्मान्तरीयेण बलिष्ठेन कर्मणा वैदिकाचारविरोधिनाऽन्त्यजादिसमुद्भवं शरीरं प्रापितः, उत्तमाधिकारार्हकुलजन्मापि केनचिद्बलीयसा भगवदीयापचारात्मकेन पापेन

नीच जाति और निकृष्ट स्वभाववाले गजेन्द्र, शबरी, गुह, बन्दर आदि और उच्च जाति और उत्कृष्ट स्वभाव के श्रुतदेव, बहुलाश्व, भीष्म, पाण्डव आदि सभी मुझ में निष्ठा रखनेवाले, मेरे अनुग्रह के समान पात्र हैं। किन्तु जो दुर्योधनादि अभक्त हैं वे मेरी कृपा के पात्र नहीं हैं। जैसे कल्पवृक्ष अपने आश्रित ही के मनोरथों को पूरा करता है दूसरों का नहीं और इससे उसमें विषमता नहीं आती; फिर अग्नि जैसे अपने आश्रितों ही के शीत और अन्धकार को दूर करता है औरों का नहीं, किन्तु इससे उसमें विषमता नहीं आती, उसी प्रकार केवल अपने भक्तों ही पर अनुग्रह रखने से मुझ में भी विषमभाव नहीं आता श्रीमद्भागवत में युधिष्ठिर ने कहा है :—

"न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तवस्यात् सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः।
संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र॥"

अर्थात् सर्वात्मा, समदृष्टिवाले, सुखानुभव से पूर्ण ब्रह्मस्वरूप आपके अपने और पराये का भेद भाव नहीं है। सेवा करनेवाले पर कल्पवृक्ष के ऐसा, सेवा के अनुसार, आपकी कृपा होती है। इससे आप में कोई विषमता नहीं है॥२९॥

और भी मेरी भक्ति के अलौकिक प्रभाव को सुनो।

यद्यपि मेरे भक्त दुराचारी नहीं होते, तथापि यदि कदाचित् हों ('अपि' 'चेत्' ये दोनों शब्द इसी सम्भावना के सूचक हैं) जिसको किसी जन्मान्तर के बलिष्ठ पाप से निषिद्ध, वैदिकाचार विरोधी चाण्डाल आदि का शरीर मिला, अथवा जो उत्तम अधिकारवाले कुल में जन्म होने पर भी भगवान् के अपचारात्मक किसी बलिष्ठ पाप के कारण दुःसङ्ग में पड़ सत् सम्प्रदायोक्त शास्त्रीय सदाचार से पतित हो गया हो, वही पुरुष सुदुराचारी है। दोनों प्रकार से वह वैदिक आचार के अयोग्य हो जाता है। यहाँ उत्तम अधिकारी होकर यथेष्टाचार करनेवाला दुराचारी नहीं समझा

प्राप्तदुःसङ्गजन्यकर्मणा सत्सम्प्रदायोक्तशास्त्रीयसदाचारात्पतितो वा सुदुराचारशब्दवाच्यः। उभयथाऽपि सम्प्राप्तवैदिकाचारानर्ह इति यावत्। न तूत्तमाधिकारार्होऽपि यथेष्टाचारेण तर्त्तमानोऽत्र दुराचारो विवक्षितः, तस्यासुरकोटौ सन्निविष्टत्वात्। एवं चोभयविधदुराचारादप्यधिकः पातकातिपातकमहापातकसर्वाशित्वकृतघ्नतादिविशिष्टो दुराचारः, पूर्वं तथाभूतोऽपि यः केन चिद्भाग्योदयेनानन्यभाक् अन्यसाधनान्यप्रयोजनान्यसम्बन्धशून्यः सन् मां भजते, सर्वसाधनरूपं सर्वयोगक्षेमकर्त्तारं मुक्तप्राप्यं तद्भोग्यं सर्वसम्बन्धाश्रयं मुमुक्षुध्येयं मां निश्चित्य सर्वात्मना सेवते मद्भजनैकावलम्बनो भवतीत्यर्थः। स साधुरेव मन्तव्यः।

चतुर्विधा मम जना भक्ता एवेति ये श्रुताः।
तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः॥

अहमेव गतिस्तेषां निराशी कर्मकारिणाम्—इत्युक्तैकान्ति लक्षणसम्पन्नत्वात्॥

तत्र हेतुमाह—सम्यग्व्यवसितो हि स इति। हि यतः सम्यग्व्यवसायसम्पत्तियुक्तः, सर्वमुमुक्षुध्येयो जगज्जन्मादिहेतुर्वेदैकप्रमाणगम्यो वेदान्तप्रतिपाद्यो मुक्तप्राप्यो भगवान् श्रीपुरुषोत्तमो रमानिवासो गोपीप्रियो भदुपायोपेयः सर्वसम्बन्धरूपो नान्यः कश्चित्साध्यसाधनसम्बन्धत्वेन मया समाश्रयणीयोऽस्ति। यद्यपि मम पापबाहुल्येन वैदिकाचारयोग्यतानाभूत्, प्रत्युताधःपातार्हो ह्यभवम्। तथापि तेन निरति-

---

जाता। उसकी गणना असुरकोटि में होती है। इस तरह दोनों प्रकार के दुराचारी से भी अधिकपातक, अतिपातक, महापातक, सर्वभक्षिता, कृतघ्नता आदि दोषवाला दुराचारी होने पर भी जो कोई किसी भाग्योदय से अनन्य होकर और अन्यसाधन, अन्यप्रयोजन, और अन्यसम्बन्ध से शून्य होकर मेरी भक्ति करता है अर्थात् मुझको सर्वसाधनरूप, सब योगक्षेम का कर्त्ता, मुक्तों का प्राप्य और भोग्य, सब सम्बन्धों का आश्रय, मुमुक्षुओं का ध्येय समझ कर सब भाव से मेरी ही सेवा करता है और मेरा भजन ही जिसका अवलम्ब है उसे सदाचारी और एकान्त भक्त ही जानना चाहिये क्योंकि वह नीचे कहे हुए एकान्तभक्त के लक्षणयुक्त है। शास्त्र में एकान्ती भक्त के लक्षण ये कहे हैं :—

"चतुर्विधा मम जना भक्ता एवेति ये श्रुताः।
तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः॥
अहमेवगतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम्॥"

अर्थात् चार प्रकार के मेरे भक्त प्रसिद्ध हैं। उनमें अनन्य देवतावाले एकान्त भक्त ही सर्वप्रधान हैं। उन आशारहित (निष्काम भगवत्प्रीत्यर्थ) कर्म करनेवालों की गति (प्राप्य फल) मैं ही हूँ।

इसमें कारण यह है कि वह भगवान् में दृढ़ विश्वास रखता है। अर्थात् सब मुमुक्षुओं के ध्येय, जगत के जन्म आदि के कारण, केवल वेदों ही के प्रमाण से जानने योग्य, वेदान्त से प्रतिपाद्य, मुक्तों को प्राप्य, श्रीपुरुषोत्तम लक्ष्मीपति, गोपियों के प्रिय भगवान् ही मेरे उपाय, उपेय और सर्व सम्बन्धरूप हैं, और उनको छोड़ कोई भी साध्य साधन सम्बन्ध से मेरे को उपासनीय नहीं है, ऐसा जानता है। यद्यपि पाप की अधिकता से वैदिकाचार के योग्य मैं नहीं रहा बल्कि अधःपात ही के योग्य रहा, तथापि

शयदयाकारुण्यतितिक्षावात्सल्यादिगुणमहोदधिना भगवता स्वासाधारणगुणपारवश्यान्निर्हेतुककारुण्येनैव स्वानन्यभजनार्हमानुषभावं प्रापयित्वा स्वनियम्यभूतैर्मदीयात्मशरीरेन्द्रियादिभिरात्मानं भाजयित्वा स्वदीनानुकम्पित्वस्वभावप्रसिद्धये मां स्वानन्यभक्ततया ख्यापयति। तस्मात्तदुपकृतिं शिरसि निधाय स एवापारकारुण्यसिन्धुः सर्वात्मना मया भजनीय इति व्यवसाययुक्त इत्यर्थः।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

ततश्च—क्षिप्रमिति। अनेन विश्वासात्मकेन दृढनिश्चयेन दुराचारं त्यक्त्वा क्षिप्रं शीघ्रमेव धर्मात्मा महाभागवतलक्षणसम्पन्नो भवति। ततः शश्वच्छान्तिं मद्भावापत्तिलक्षणां मुक्तिं (क्रमेण) प्राप्नोति। ननु पूर्वाभ्यस्तदुराचारवशात्पुनस्तत्र रुचिश्चेत्तर्ह्यधर्मात्मत्वात् कथं वा शान्तिं गच्छेत् ? किन्तुनश्येदित्याशङ्क्य तथाविधव्यवसायवतो मद्भक्तस्य न कदाऽपि नाशशङ्का कार्येत्याह—कौन्तेयेति। हे कौन्तेय ! त्वं प्रतिजानीहि प्रतिज्ञां कुर्वित्यर्थः। किं ? प्रतिजानीयामित्यपेक्षायामाह—न मे भक्तः प्रणश्यतीति। मम परमकारुण्यवात्सल्यसौहार्दक्षमादीनानुकम्पसौशील्यसर्वशरण्यत्वाद्यनन्तकल्याणगुण-सागरस्य सत्यसङ्कल्पस्य ज्ञानैश्वर्यादिषाड्गुण्यनिधेः श्रीपुरुषोत्तमस्य भगवतो माधवस्य भक्तो दुराचार-सम्पन्नोऽप्यनन्यशरणः सर्वसाधनहीनोऽपि न प्रणश्यति। अन्यजनवन्मामप्राप्य यमाधीनो भूत्वा संसारी न भवतीत्यर्थः। दृष्टान्ताश्चात्राजामिलभिक्षुगजगणिकाव्याधादयः तथा—चोक्तं शास्त्रे। "स्वपुरुष-

---

अत्यन्त दया, कारुण्य, दाक्षिण्य, वात्सल्य आदि गुणों के महासमुद्र श्रीभगवान् अपने असाधारण गुण के वशीभूत हो और निर्हेतुक करुणा के वश हो अपने अनन्य भजन के योग्य मनुष्य का शरीर देकर और अपने नियम्यभूत मेरे आत्मा, शरीर, इन्द्रिय आदिकों से अपना भजन करा अपनी दीनदयालुता की प्रसिद्धि के लिए मुझे अपना अनन्य भक्त प्रसिद्ध करते हैं। इससे उन अपार करुणा के समुद्र की सब प्रकार से सेवा भक्ति करनी चाहिए, इस प्रकार के दृढ़ व्यवसाय वा विश्वास से वह युक्त है ॥३०॥

इस विश्वासात्मक दृढ़ निश्चय से वह दुराचार को छोड़कर महाभागवत (परम वैष्णव) हो जाता है। तब क्रम से शश्वत् (अविनाशी) शान्ति को अर्थात् मेरी भावापत्तिरूपी मुक्ति को पाता है। यदि पहले के दुराचार के अभ्यास से उसकी फिर दुराचार में ही रुचि हो तो वह फिर अधर्मी होने से कैसे साधु होगा और कैसे शान्ति (मुक्ति) पावेगा ? वरन् उसका नाश ही हो जाएगा। इस प्रकार की शंका के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि ऐसी बात नहीं हो सकती। उस प्रकार के दृढ़ व्यवसाय (निश्चय) वाले मेरे भक्त के नाश की शंका नहीं करनी चाहिये। हे अर्जुन ! तुम इस प्रकार निश्चय कर समझ रखो कि परम कारुण्य, वात्सल्य, सुहृदता, क्षमा, दीनदयालुता, सुशीलता, शरणागतवत्सलता आदि अनन्त कल्याण गुण के सागर, सत्यसंकल्प, ज्ञान, ऐश्वर्य्य आदि षड्गुणों से सम्पन्न मुझ श्रीपुरुषोत्तम भगवान् माधव का भक्त, दुराचारी और सर्वसाधनहीन होने पर भी, अनन्य शरण होने से अर्थात् साधन और साध्य भगवान् को ही समझ अन्य सर्वसाधनहीन होने से, नष्ट नहीं होता अर्थात् दूसरे मनुष्यों

मभिवीक्ष्य पाशहस्तं वदति यमः किल तस्य कर्णमूले । परिहरमधुसूदनप्रपन्नान्प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम् । कमलनयन वासुदेव विष्णो धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे ! । भवशरणमुदीरयन्ति ये वै त्यज भट दूरतरेण तानपापानि"ति वैष्णवे ।

श्रीसात्त्वते च—

दुराचारोऽपि सर्वाशी कृतघ्नो नास्तिकः पुराः ।
समाश्रयेदादिदेवं श्रद्धया शरणं हि यः ॥
निर्दोषं विद्धि तं जन्तुं प्रभावात्परमात्मनः"

वैष्णवधर्मे च—

अपि पापेष्वभिरता मद्भक्ताः पाण्डुनन्दन ! ।
मुच्यन्ते पातकैः सर्वैः पद्मपत्रमिवाम्भसा"इति ॥

के ऐसा मुझको न प्राप्त कर यमराज के अधीन हो फिर संसार में नहीं आता। इसमें अजामिल, भिक्षु, गज, गणिका, व्याध आदि के दृष्टान्त हैं। विष्णु पुराण में लिखा है :—

"स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं, वदति यमः किल तस्य कर्णमूले ।
परिहर मधुसूदनप्रपन्नान् प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम् ॥
कमलनयन वासुदेव विष्णो धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे ! ।
भवशरणमुदीरयन्ति ये वै त्यज भट दूरतरेण तानपापान् ॥"

अर्थात् यमराज अपने आदमी (दूत) को पाश हाथ में लिए हुए देखकर उनके कान में कहते हैं कि श्रीकृष्ण के भक्तों को छोड़ दो। मैं अन्य मनुष्यों का स्वामी हूँ वैष्णवों का नहीं। कमलनयन, वासुदेव, धरणीधर आदि भगवान् के नामों का जो उच्चारण करते हैं उन पाप से रहितों को दूर ही से छोड़ दो। सात्त्वत तन्त्र में लिखा है :—

"दुराचारोऽपि सर्वाशी कृतघ्नो नास्तिकः पुरा ॥
समाश्रयेदादिदेवं श्रद्धया शरणं हि यः ॥
निर्दोषं विद्धि तं जन्तुं प्रभावात्परमात्मनः ॥"

अर्थात्:—दुराचारी, सर्वभक्षी, कृतघ्न, पहले का नास्तिक होकर भी जो श्रद्धा से भगवान् की शरण में आता है उसे परमात्मा के प्रभाव से निर्दोष समझो।

विष्णु पुराण में भी फिर लिखा है :—

"अपि पापेष्वभिरता मद्भक्ताः पाण्डुनन्दन ! ॥
मुच्यन्ते पातकैः सर्वैः पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥"

अर्थात्:—हे अर्जुन ! पाप में लिपटे हुए भी मेरे भक्त सब पातकों से छूट जाते हैं जैसे कि जल से कमल अलग रहता है।

किञ्च—

मेरुमन्दिरमात्रोऽपि राशिः पापस्य कर्मणः ।
केशवं वैद्यमासाद्य दुर्व्याधिरिव नश्यति ॥
न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्—इत्यादि ॥

मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

दुःसङ्गादिजन्यदोषदुष्टं भक्तिः पावयित्वा भगवद्भावं प्रापयतीत्युक्तमिदानीं जातिस्वभावदोषदुष्टानपि परमगतिं प्रापयतीत्याह—मां हीति । येऽपि पापयोनयोऽधमजन्मानोऽन्त्यजादयः स्युः, तथाऽध्ययनादिवर्जिताः स्त्रियः वैश्याः, वैश्याः-कृष्यादिमात्रनिकृष्टवृत्तिरताः, न त्वन्यवृत्तयः स्त्रीशूद्रयोर्मध्ये गणनीयास्तथा शूद्रा उत्तमवैदिकधर्महीना अधमगतियोग्या अपि हे पार्थ ! तेऽपि मां व्यपाश्रित्यानन्यतया शरणमागत्य परां श्रेष्ठां गतिं यान्ति । हीति निश्चितम् ।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

श्रेष्ठजातिगुणवतां तु परमां गतिं कैमुत्यन्यायेनाह—किं पुनरिति । यद्येवम्भूताः पापयोनयोऽपि परां गतिं यान्ति तर्हि पुण्याः सुकृतिनो ब्राह्मणास्तथा राजर्षयः, राजानश्च ते ऋषयः सूक्ष्मदर्शिनः

और भी,

"मेरुमन्दिरमात्रोऽपि राशिः पापस्य कर्मणः ॥
केशवं वैद्यमासाद्य दुर्व्याधिरिव नश्यति ॥"
"न वासुदेवभक्तानानशुभं विद्यते क्वचित् ॥"

अर्थात्:—मेरु पर्वत के बराबर भी पापों का ढेर हो तो वह भी केशवरूपी वैद्य को पाकर असाध्य बुरे रोग के समान नष्ट हो जाता है। क्योंकि वासुदेव के भक्तों को अशुभ नहीं होता, अर्थात् उनके अशुभ का नाश हो जाता है ॥३१॥

दुःसङ्ग से उत्पन्न हुए दोषों से दूषित पुरुषों को मेरी भक्ति पवित्र कर भगवद्भाव प्राप्त कराती है, यह पहले कह आये हैं। जाति स्वभाव के दोष से दूषित जीवों को भी मेरी भक्ति परम गति देती है, इसी को अब कहते हैं। अधम जन्मवाले चाण्डाल आदि, अपढ़ स्त्री, कृषिमात्र निकृष्ट वृत्तिवाले वैश्य (अन्य वृत्तिवाले वैश्य, स्त्री शूद्र की गिनती में नहीं हैं) और उत्तम वैदिक धर्म से रहित शूद्र सब अधम गति के योग्य होने पर भी मेरी अनन्य भक्ति से युक्त हो अनन्य भाव से मेरी शरण में आकर श्रेष्ठ गति पाते हैं, यह निश्चय है ॥३२॥

श्रेष्ठ जाति तथा उत्तम गुणवाले भक्तों की तो उत्तम गति होती ही है, इसमें कहना ही क्या है ? इसी को कहते हैं।

मभिवीक्ष्य पाशहस्तं वदति यमः किल तस्य कर्णमूले । परिहरमधुसूदनप्रपन्नान्प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम् । कमलनयन वासुदेव विष्णो धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे ! । भवशरणमुदीरयन्ति ये वै त्यज भट दूरतरेण तानपापानि"ति वैष्णवे ।

श्रीसात्त्वते च—

दुराचारोऽपि सर्वाशी कृतघ्नो नास्तिकः पुराः ।
समाश्रयेदादिदेवं श्रद्धया शरणं हि यः ।।
निर्दोषं विद्धि तं जन्तुं प्रभावात्परमात्मनः"

वैष्णवधर्मे च—

अपि पापेष्वभिरता मद्भक्ताः पाण्डुनन्दन ! ।
मुच्यन्ते पातकैः सर्वैः पद्मपत्रमिवाम्भसा"इति ।।

के ऐसा मुझको न प्राप्त कर यमराज के अधीन हो फिर संसार में नहीं आता। इसमें अजामिल, भिक्षु, गज, गणिका, व्याध आदि के दृष्टान्त हैं। विष्णु पुराण में लिखा है :—

"स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं, वदति यमः किल तस्य कर्णमूले ।
परिहर मधुसूदनप्रपन्नान् प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम् ।।
कमलनयन वासुदेव विष्णो धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे ! ।
भवशरणमुदीरयन्ति ये वै त्यज भट दूरतरेण तानपापान् ।।"

अर्थात् यमराज अपने आदमी (दूत) को पाश हाथ में लिए हुए देखकर उनके कान में कहते हैं कि श्रीकृष्ण के भक्तों को छोड़ दो। मैं अन्य मनुष्यों का स्वामी हूँ वैष्णवों का नहीं। कमलनयन, वासुदेव, धरणीधर आदि भगवान् के नामों का जो उच्चारण करते हैं उन पाप से रहितों को दूर ही से छोड़ दो। सात्त्वत तन्त्र में लिखा है :—

"दुराचारोऽपि सर्वाशी कृतघ्नो नास्तिकः पुरा ।।
समाश्रयेदादिदेवं श्रद्धया शरणं हि यः ।।
निर्दोषं विद्धि तं जन्तुं प्रभावात्परमात्मनः ।।"

अर्थात्:—दुराचारी, सर्वभक्षी, कृतघ्न, पहले का नास्तिक होकर भी जो श्रद्धा से भगवान् की शरण में आता है उसे परमात्मा के प्रभाव से निर्दोष समझो।

विष्णु पुराण में भी फिर लिखा है :—

"अपि पापेष्वभिरता मद्भक्ताः पाण्डुनन्दन ! ।।
मुच्यन्ते पातकैः सर्वैः पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।"

अर्थात्:—हे अर्जुन ! पाप में लिपटे हुए भी मेरे भक्त सब पातकों से छूट जाते हैं जैसे कि जल से कमल अलग रहता है।

किञ्च—

मेरुमन्दिरमात्रोऽपि राशिः पापस्य कर्मणः ।
केशवं वैद्यमासाद्य दुर्व्याधिरिव नश्यति ॥
न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्—इत्यादि ॥

मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

दुःसङ्गादिजन्यदोषदुष्टं भक्तिः पावयित्वा भगवद्भावं प्रापयतीत्युक्तमिदानीं जातिस्वभावदोषदुष्टानपि परमगतिं प्रापयतीत्याह—मां हीति । येऽपि पापयोनयोऽधमजन्मानोऽन्त्यजादयः स्युः, तथाऽध्ययनादिवर्जिताः स्त्रियः वैश्याः, वैश्याः-कृष्यादिमात्रनिकृष्टवृत्तिरताः, न त्वन्यवृत्तयः स्त्रीशूद्रयोर्मध्ये गणनीयास्तथा शूद्रा उत्तमवैदिकधर्महीना अधमगतियोग्या अपि हे पार्थ ! तेऽपि मां व्यपाश्रित्यानन्यतया शरणमागत्य परां श्रेष्ठां गतिं यान्ति । हीति निश्चितम् ।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

श्रेष्ठजातिगुणवतां तु परमां गतिं कैमुत्यन्यायेनाह—किं पुनरिति । यद्येवम्भूताः पापयोनयोऽपि परां गतिं यान्ति तर्हि पुण्याः सुकृतिनो ब्राह्मणास्तथा राजर्षयः, राजानश्च ते ऋषयः सूक्ष्मदर्शिनः

और भी,

"मेरुमन्दिरमात्रोऽपि राशिः पापस्य कर्मणः ॥
केशवं वैद्यमासाद्य दुर्व्याधिरिव नश्यति ॥"
"न वासुदेवभक्तानानशुभं विद्यते क्वचित् ॥"

अर्थात्:—मेरु पर्वत के बराबर भी पापों का ढेर हो तो वह भी केशवरूपी वैद्य को पाकर असाध्य बुरे रोग के समान नष्ट हो जाता है। क्योंकि वासुदेव के भक्तों को अशुभ नहीं होता, अर्थात् उनके अशुभ का नाश हो जाता है ॥३१॥

दुःसङ्ग से उत्पन्न हुए दोषों से दूषित पुरुषों को मेरी भक्ति पवित्र कर भगवद्भाव प्राप्त कराती है, यह पहले कह आये हैं। जाति स्वभाव के दोष से दूषित जीवों को भी मेरी भक्ति परम गति देती है, इसी को अब कहते हैं। अधम जन्मवाले चाण्डाल आदि, अपढ़ स्त्री, कृषिमात्र निकृष्ट वृत्तिवाले वैश्य (अन्य वृत्तिवाले वैश्य, स्त्री शूद्र की गिनती में नहीं हैं) और उत्तम वैदिक धर्म से रहित शूद्र सब अधम गति के योग्य होने पर भी मेरी अनन्य भक्ति से युक्त हो अनन्य भाव से मेरी शरण में आकर श्रेष्ठ गति पाते हैं, यह निश्चय है ॥३२॥

श्रेष्ठ जाति तथा उत्तम गुणवाले भक्तों की तो उत्तम गति होती ही है, इसमें कहना ही क्या है ? इसी को कहते हैं।

क्षत्रियश्रेष्ठा मम भक्ताः परां गतिं यान्तीति किमु वक्तव्यं ? नात्र सन्देह इत्यर्थः । अतो मम भक्तिमेव पुरुषार्थाऽसाधारणहेतुं मत्वा अनित्यमध्रुवम् असुखं जन्ममरणाद्यनेकदुःखनिलयमिमं लोकं मनुष्यदेहं प्राप्य लब्ध्वा यावदयं न नश्येत्तावदन्यसुखसाधनं हित्वा शीघ्रमेव मां भजस्व अत्यादरेण सेवनं कुरु, मद्भजनेनैवास्य जन्मनः साफल्यं कुरु । अन्यथोत्तमकुलजन्मक्रियाकौशल्यादिव्यर्थमेव स्यादिति भावः ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

भजनस्वरूपमुपदिशन्नध्यायमुपसंहरति—मन्मना भवेति । मयि सर्वेश्वरे भगवति वासुदेवे स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषेऽशेषकल्याणगुणैकराशौ सर्वज्ञे सत्यसङ्कल्पे सर्वस्य जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणे परब्रह्मणि पुरुषोत्तमाख्ये स्वयमवाप्तसमस्तकामे भक्ताभीष्टप्रदातरि भक्ताशेषदोषनिरसनस्वभावे सर्वशरण्ये सर्वस्वामिनि सौन्दर्यमाधुर्य्यलावण्यादिनिधिमूर्त्तौ ध्यातृमनोहारिणि मनो यस्य स तथा त्वं भव विषयिणां विषयेष्वनपायिनीप्रीतिवदनवच्छिन्नगङ्गाप्रवाहवन्मय्याविष्टमनो भवेत्यर्थः । यदि दृष्टश्रुतानुभूतानेकबाह्यपदार्थासक्तं मनो झटिति मय्यावेष्टुं न शक्नोषि चेत्तर्हि मद्भक्तो भव तत्साधनभूतां मद्भक्तिं कुर्वित्यर्थः । साधनभक्तिश्च "सुरर्षे ! विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया । सैव भक्तिरिति प्रोक्ता यया भक्तिः परा भवेदि"ति वचनाद्भगवदर्था क्रियैव । तामेव निर्दिशति—मद्याजीति । मद्यजन-

---

यदि अनन्यभाव से मेरी शरण में आने से ऐसे चाण्डाल आदि भी परम गति पाते हैं तब पुण्यात्मा ब्राह्मण, राजर्षि अर्थात् सूक्ष्मदर्शी श्रेष्ठ क्षत्रिय जो मेरे परम भक्त हैं, वे परम गति पावेंगे ही, इसमें कुछ सन्देह नहीं है । इससे मेरी भक्ति को ही मोक्ष का कारण समझ अनित्य, अनिश्चित जन्म मरण आदि अनेक दुःखों के घर इस लोक को, अर्थात् इस मनुष्य देह को पाकर जब तक इसका विनाश न हो तब तक दूसरे सुख साधन को छोड़ शीघ्र अत्यन्त आदर से मेरी सेवा करो, अर्थात् मेरे भजन से ही इस जन्म को सुफल करो नहीं तो उत्तम कुल में जन्म, क्रियाकुशलता आदि सब व्यर्थ हो जायँगे ॥३३॥

भजन के स्वरूप को बतलाते हुए अध्याय को समाप्त करते हैं ।

मुझ सर्वेश्वर, अशेष कल्याण गुणनिधि, स्वभाव ही से सब दोषों से रहित, सर्वज्ञ सत्यसंकल्प, जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारण, परब्रह्म, पुरुषोत्तम, स्वयं पूर्णकाम, भक्तों के अभीष्ट दाता, भक्तदोषविनाशी, सर्व शरण्य, सर्वेश, सौन्दर्य्य, माधुर्य्य, लावण्य आदि की खान, ध्याताओं के मनोमोहक मुझ वासुदेव भगवान् में उस प्रकार मन लगावे जिस प्रकार गङ्गाप्रवाह नित्य अवाधित रूप से प्रवाहित होता है और जिस प्रकार विषयी विषय में मन लगाता है । यदि किसी कारण से अनेक देखे सुने और अनुभूत पदार्थों में लगे हुए मन को मुझ में तुरत न लगा सको तो मेरा भक्त बनो अर्थात् उसके साधनस्वरूप मेरी भक्ति करो । साधन भक्ति इस प्रकार है—

करणशीलो भव, प्रत्यहं त्रिकालं द्विकालमेककालं वा विविधगन्धपुष्पतुलसीधूपदीपोत्तमवस्त्रभूषण-नैवेद्यादिभिर्मम मूर्त्ति शालग्रामादिमतिप्रीत्याऽर्चय। तथा मम जन्माद्युत्सवानुकरणमेकादश्युपवासजागरणनृत्यगीतादिकं च कुरुष्व तच्च विभवे सति बहुधनसाध्यसामग्र्या कर्त्तव्यं, कृतस्य च साङ्गतासिद्ध्यर्थं कर्त्तृत्वाभिमानरूपनिवृत्तये च मनोवाक्कायैर्मह्यं प्रणामः कर्त्तव्य इत्याह—मां नमस्कुर्विति। सर्वं त्वदीयं न ममास्ति किञ्चिदहं त्वदीयो न ममाहमस्मीत्याद्युक्तप्रकारेण मयि सर्वस्वं समर्प्य स्वाभिमानं त्यजेत्यर्थः। "द्व्यक्षरं तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्। ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतमि"ति भारते व्यासोक्तेः। प्रीत्यतिशयेनाष्टाङ्गं पञ्चाङ्गं वा प्रणामं कुरु। प्रणाममाहात्म्यं च वामने प्रह्लादेनोक्तं "वैकुण्ठं खड्गपरशुं भगवन्तं भवच्छिदम्। प्रणिपत्य यथान्यायं न संसारे पुनर्भवेत्।" वैष्णवधर्मे च "नम इत्येव यो ब्रूयान्मद्भक्तः श्रद्धयाऽन्वितः। तस्याक्षयो भवेल्लोकः श्वपाकस्यापि नारदे"ति एवं साङ्गे मद्यजने कृते सति सुशकं मयि मनो नियोक्तुमित्याह—एवमुक्तप्रकारेणात्मानं मनो

"सुरर्षे ! विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया।
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता यया भक्तिः परा भवेत्॥"

अर्थात्:—हे नारद ! विष्णु के उद्देश्य से जो क्रिया का विधान शास्त्र में कहा है वही भक्ति कही जाती है। उसी से परा भक्ति होती है। उसी क्रिया को स्पष्ट करते हैं। प्रतिदिन त्रिकाल, द्विकाल वा एककाल में विविध गन्ध के फूल, तुलसीदल, धूप, दीप, वस्त्र, भूषण आदि से मेरी मूर्त्ति शालग्राम आदि की प्रीति से पूजा करो और यथाशक्ति जन्मोत्सव, एकादशीव्रत, उपवास, जागरण, मेरे सामने नाच गान आदि करो। धन होने पर कीमती सामग्रियों से मेरी पूजा करनी चाहिये। किये हुए कर्म की साङ्गतासिद्धि के लिए और कर्त्तापने के अभिमान को मिटाने के लिए मन, वाणी और शरीर से मुझे प्रणाम करो। अर्थात् "सर्वं त्वदीयं न ममास्ति किञ्चिदहं त्वदीयो न ममाहमस्मि" तात्पर्य यह कि—सब आपका है मेरा कुछ नहीं; मैं आपका हूँ अपना नहीं। इस प्रकार मुझ में सर्वस्व अर्पण कर अपने अभिमान को छोड़ दो। महाभारत में व्यासजी ने कहा है :—"द्व्यक्षरं तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्। ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम्॥" अर्थात् दो अक्षर (मेरा) मृत्यु है और तीन अक्षर (न मेरा) शाश्वत् ब्रह्म है। मम (मेरा) यही मृत्यु है। मम न (मेरा नहीं अर्थात् भगवान् का है) यही शाश्वत् अर्थात् ब्रह्म है। इस प्रकार प्रीतिपूर्वक साष्टाङ्ग वा पञ्चाङ्ग प्रणाम करो। वामन पुराण में प्रह्लाद ने प्रणाम के माहात्म्य के विषय में यों कहा है :—

"वैकुण्ठं खड्गपरशुं भगवन्तं भवच्छिदम्।
प्रणिपत्य यथान्यायं न संसारे पुनर्भवेत्॥"

अर्थात् संसार के बन्धन काटनेवाले भगवान् को तथा खड्ग परशु सुदर्शन आदि उनके किसी भी आयुध को प्रणाम करनेवाले का इस संसार में फिर जन्म नहीं होता वैष्णव धर्म में भी कहा है :—

"नम इत्येव यो ब्रूयान्मद्भक्तः श्रद्धयान्वितः।

मयि युक्त्वा मत्परायणो मदेकशरणः त्यक्तान्ययत्नः सन् मामेव नित्यं सच्चिदानन्दं मुक्तप्राप्यं तद्भोग्यं चैष्यसि प्राप्स्यसि ।

भक्त्याऽन्वितं निजं ज्ञानं भक्तिवैभवमेव च ।
गुह्यमत्राह कृपया भगवाँस्तं समाश्रये ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां जगद्विजयि श्रीकेशव-
काश्मीरिभट्टाचार्यविरचितायां नवमोऽध्यायः ॥९॥

तस्याक्षयो भवेल्लोकः श्वपाकस्यापि नारद ! ॥"

अर्थात् जो मेरा भक्त श्रद्धापूर्वक हे भगवन् आपको नमस्कार है ऐसा कहता है वह चाण्डाल भी हो तो उसको अक्षय लोक प्राप्त होता है । इस प्रकार साङ्गोपाङ्ग मेरा पूजन करने से मुझ में अपना मन लगाकर मेरी शरण होकर तथा और यत्नों को छोड़कर नित्य, मुक्तप्राप्य मुक्तभोग्य सच्चिदानन्द-रूप मुझको प्राप्त करोगे ॥३४॥

भक्त्याऽन्वितं निजं ज्ञानं भक्तिवैभवमेव च ।
गुह्यमत्राह कृपया भगवांस्तं समाश्रये ॥

अर्थात् गोपनीय भक्तियुक्त ज्ञान के वैभव को जिस भगवान् ने कृपा करके इस अध्याय में कहा है, मैं उनके आश्रित हूँ ।

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

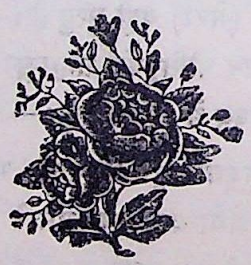

ब्राह्मी स्थितिः

[लेखक—जोशी श्रीगुलाबनारायणजी, एडवोकेट, गीता के "गीतामृत" पद्यानुवादकर्त्ता, जयपुर]

श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीयाध्याय के ४०वें श्लोक से ७१ श्लोक तक व्यवसायात्मक बुद्धि, स्थितप्रज्ञता, तथा प्रतिष्ठित-प्रज्ञा का बहुमुखी विवेचन करने के पश्चात् अन्त में भगवान कृष्ण ने निष्कर्ष रूप में कहा है कि—"एषा ब्राह्मी स्थितिः" एषा (अर्थात् स्थित प्रज्ञता ही), ब्राह्मी स्थितिः (ब्रह्म में स्थित होना, ब्रह्ममय होना, ब्रह्मभूत होना, आत्मनिष्ठ होना, या विधेयात्म होना) कहलाती है।

श्लोक ३९ में "बुद्धया युक्तो यया पार्थ ! कर्मबन्ध प्रहास्यसि" से बुद्धि-योग को प्रारम्भ करके श्लोक ७२ में समाहार रूप में यह कहकर कि—"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ" भगवान कृष्ण ने बुद्धि और ज्ञान में भी भेद होना निरूपित कर दिया। बुद्धि-विरहित ज्ञान निरर्थक व हानिकारक सिद्ध होता है तथा बुद्धि-युक्त अज्ञान भी श्रेयस्कर होता है। धर्म-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र, न्याय-शास्त्र आदि शास्त्रों का, वेदों का, श्रुति-स्मृति का, उपनिषदों का ज्ञान होना एक बात है और इन शास्त्रों के ज्ञान को बुद्धियोग से व्यवहृत करना दूसरी बात है। वेद-वेत्ता, कर्म-काण्डी, व शास्त्रों का ज्ञाता भी बुद्धि के अभाव में मूर्ख सिद्ध हो सकता है, किन्तु बुद्धि की सहायता से कर्म करनेवाला निरक्षर व्यक्ति भी कुशल व बुद्धिमान हो सकता है। बुद्धि एक महत्-तत्त्व है और एक ऐसा तत्व है जो न तो किसी की बपौती बनता है और न अर्जित ही किया जा सकता है। यह ईश्वर-दत्त अनुग्रह या आशीर्वाद है जो मानव को निसर्ग से मिलता है। अधीति अध्ययन से बुद्धि नहीं मिलती न अर्जित होती है। व्यवसायात्मिका बुद्धि या स्थित-प्रज्ञता की जो विशिष्टता अनादिकाल से श्रीकृष्ण के समय तक अर्थात् द्वापरान्त तक की घटनाओं तथा तथ्यों के आधार पर बताई गई है वह इतनी ध्रुव, अटल, कूट व सुनिश्चित है कि प्रलयपर्यन्त कायम रहेगी, मिट नहीं सकती, अन्यथा नहीं हो सकती।

अध्याय १६ श्लोक ६ में भूत-स्वभाव दो तरह के होना कहा गया है, एक तो देव-स्वभाव और दूसरा असुर स्वभाव कहा गया है। असंयतात्मा आसुरी स्वभाव होता है। बुद्धि की अवहेलना कर बुद्धि-विरहित कर्म करनेवाला विषयासक्त देहाभिमानी व्यक्ति "असुर" कहा गया है और व्यवस्थित-बुद्धि के योग से कर्म करनेवाले "सुर" कहे गए हैं। ज्ञानी, तपस्वी व भक्त होते हुए भी जिन लोगों ने अव्यवस्थित बुद्धि से कामासक्त हो कर्म किए हैं ऐसे उदाहरणों से इतिहास भरे हैं। असुर—इतिहास कहता है कि असुर लोग पण्डित, ज्ञानी, तपस्वी, कर्म-काण्डी, देव-पूजक व ईश्वर-भक्त भी होते थे जिन्होंने घोर तप करके देवताओं से अनेकानेक वर प्राप्त किए किन्तु उनकी वर-याचना सकाम व अहंकृत भावानुलिप्त होने के कारण बुद्धिहीन थी जो अन्त में उनको घातक ही सिद्ध हुई। ज्ञान और बुद्धि के इसी भेद को श्लोक ३९ में "सांख्ये बुद्धिर्योगे" वाक्य द्वारा निर्दिष्ट किया गया है।

भूत-मात्र का विशेष कर मनुष्य का कर्म करना जन्म-जात प्रकृतिज गुण व स्वभाव है, कर्म किए बिना कोई भी प्राणी एक क्षण भी नहीं रह सकता अतः कर्म करना अनिवार्य है अपरिहार्य है। जन्मजात प्रकृतिज स्वभाव से विवश हो कर्म करना विवशता है न कि प्रधानता। कर्म की प्रधानता यदि है तो वह विवशता में ही है। यदि निरा कर्म को ही प्रधान समझा जावे तो कर्म तो पशु भी करते हैं और इस लिहाज से जहाँ तक कर्म करने का सम्बन्ध है पशु में और मनुष्य में कोई भेद नहीं है। किन्तु मानव-सृष्टि पशु-सृष्टि से विशिष्ट है और यह विशिष्टता इसी कारण से है कि मानव-सृष्टि विवेक-शील है। मनुष्य बुद्धि-संश्लिष्ट कर्म करता है और पशु बुद्धिविरहित पाशविक कर्म करता है।

मनुष्य में और पशु में यही भेद व अन्तर है। अतः बुद्धि-विरहित कर्म को प्रधान मानने की गलत धारणा से सचेत करने के लिए ही भगवान कृष्ण ने अर्जुन को तथा अर्जुन के माध्यम से विश्व की मानव सृष्टि को अध्याय २ श्लोक ४९ में "दूरेण हि अवरम् कर्म बुद्धि योगात् धनंजय" कह कर यही उपदेश दिया है कि कर्म प्रधान नहीं है बुद्धि ही प्रधान है।

मन की प्रेरणा से कर्मेन्द्रियों द्वारा चेष्टा करना कर्म कहलाता है। विषय-संयोग-जात संस्कारों को बुद्धि के सम्मुख प्रस्तुत करना मन के लिए अनिवार्य है किन्तु बुद्धि की आज्ञा का पालन करना उसके लिए अनिवार्य नहीं है। यदि मन बुद्धि के वश में नहीं है और इन्द्रियों के वश में है तो वह बुद्धयनुगामी न बनकर इन्द्रियानुगामी बनता है और विषयासक्त बनकर अपनी इच्छानुसार कर्मेन्द्रियों को चेष्ठित करता है। बुद्धि द्वारा अननुज्ञात या बुद्धि-विरहित मन का कर्म "मनमाना कर्म", कहलाता है जो विषय, वासना, राग-द्वेष, अहंकारादि विकारों से युक्त होता है।

अध्याय ३ श्लोक ४२ में प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार इन्द्रिय-विषय और मन यह सब बुद्धि से निम्न श्रेणी के हैं, बुद्धि इन सब से श्रेष्ठ है और यही एक ऐसी धुरी है जिसके आधार पर दुनियाँ भर के सुकृत-दुष्कृत घूमते रहते हैं। बुद्धि के वश में न रहने से मन उच्छृङ्खल हो जाता है और इन्द्रियों को विषय ग्रहण करने की छूट मिल जाती है, जिसका परिणाम यह होता है कि मन दुर्दमनीय हो जाता है। मन और बुद्धि को सम न रखने के कारण बड़े बड़े देवता, ऋषि, महर्षि, राजा-महाराजा, योगी, तपस्वी, भी बहक गए हैं, विचलित हो गए हैं और अपनी चिर संचित ख्याति व तपस्या खो बैठे हैं, अधोगति को प्राप्त हो गए हैं। अनादि काल से चले आ रहे यह तथ्य अब तक के वर्तमान इतिहास तथा घटनाओं से सिद्ध तथा प्रमाणित होते आ रहे हैं।

देवादिदेव इन्द्र ने मन के आवेश से ही गौतम मुनि की पत्नी अहिल्या का काण्ड करके तथा त्वष्ट्रा के पुत्र विश्वरूप की और वृत्रासुर की हत्या करके पर नारिहरण व ब्रह्म-हत्या का दोषी बना जिसके फलस्वरूप उसे इन्द्रासन छोड़ना पड़ा। राजा नहुष इन्द्रासन पर बैठा किन्तु इन्द्रासन पाकर नहुष ने भी बुद्धि की अवहेलना की और मन के वशीभूत होकर शची की कामना की, जिसके परिणाम स्वरूप उसने इन्द्रासन खोया और सर्प योनि पाई। दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने वर्षों घोर तपस्या कर ब्रह्मा से कभी भी और किसी से भी न मारे जाने का वर माँगा। यह वर "जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु" सिद्धान्त के विपरीत था किन्तु स्वार्थ के कारण स्व-हित में यह सकाम वर दैत्यराज ने माँगा जो फलीभूत नहीं हो सकता था। त्रिकालदर्शी दैत्यगुरु शुक्राचार्य द्वारा राजा बलि को भगवान वामन को तीन पैंड भूमि न देने की सलाह देने में और कमण्डलु में बैठकर उसकी नाली से जल को रोकने में बुद्धि का प्रयोग नहीं किया जिसका नतीजा यह हुआ कि शुक्राचार्य को अपनी एक आँख खोनी पड़ी। इसी प्रकार रावण आदि के उदाहरण ले सकते हैं।

प्रारम्भ से अब तक का इतिहास यही कहता है कि बुद्धि की अवज्ञा कर जब जब भी मनुष्य ने मन का दास बनकर मनमानी की है तब तब ही उसका पतन व विनाश हुआ है। अतः बुद्धि-युक्त कर्म ही दोष-रहित, प्रशंसनीय तथा अभिनन्दनीय होता है और इसी को "ब्राह्मी स्थिति" कहा गया है। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने के पश्चात् साधक द्वन्द्वातीत हो जाता है फिर वह मोहमाया में नहीं फँसता। यदि अन्त समय में भी कोई स्थितप्रज्ञ विधेयात्मा हो जाय तो उसे ब्रह्मनिर्वाण (रागद्वेष मोह ममता आदि से छुटकारा) मिल सकता है—

ब्राह्मी स्थिति पार्थ यही है, मोह न होता इसे प्राप्त कर।
मिलता ब्रह्म निर्वाण अन्त में, इसमें स्थित हो जाने पर॥ ★

Cut Your Cost of Reinforcing Steel

Use

RIBBEDTOR STEEL

IT CONFORMS TO IS-1786/66
SAVES REINFORCING STEEL UPTO 40% COMPARED TO MILD STEEL COST.

VERY WIDELY USED THROUGH-OUT INDIA

Agarwal Hardware Works Private Limited.

3A, SHAKESPEARE SARANI

CALCUTTA-700016

PHONE : 44-7648

(TECHNICAL COLLABORATION TOR-ISTEG STEEL CORPORATION)

मनुष्य लोभ के कारण नहीं, बल्कि जनता की सुख-समृद्धि के लिये
कर्त्तव्य-बुद्धि से व्यापार करे ।

श्रीराधासर्वेश्वर कम्पनी

(अनाज, तिलहन, दाल आदि के बिल्टीकट दलाल)

२६, श्रद्धानन्द मार्ग, संयोगिता गंज

इन्दौर-१

दूरभाष : कार्यालय—३६२५१, ३८५७४

निवास—३६८२९

तार : NIMBARK CO.

सम्बन्धित संस्था :—

श्रीसर्वेश्वर कम्पनी

हनुमानगंज, भोपाल-१

दूरभाष : कार्यालय—४९११, ४७४१, ४१७१

तार : SARVESH CO.

ग्रेन, सीड, दालों के कनवैसिंग एजेन्ट का कार्य सुचारु रूप से किया जाता है ।

सेवा का अवसर प्रदान करें ।

फोन : 35861 तार : Mill Angency

"यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि सधर्मः"

इस लोक में उन्नति और परलोक में
कल्याण करनेवाला साधन
ही धर्म है।

श्री ऐजेन्सी (क्लॉथ ब्रोकर)

श्रीसर्वेश्वर सेल्स कारपोरेशन

बम्बई, कोल्हापुर, इचलकरंजी, माधव नगर के मील
व पावरलूम क्लॉथ के इन्डेन्टिग एजेन्ट

११० एम० टी० क्लॉथ मार्केट, इन्दौर ४५२००२

सेवा का कार्य सन्तोषजनक होगा।
कृपया सेवा का अवसर प्रदान कर अनुग्रहीत करें।

चरणकिङ्कर—साँगीलाल राठी

"सब धर्म एक ही स्थान पर पहुंचने के अलग-अलग मार्ग हैं।
मेरे लिये जगत के विभिन्न धर्म एक ही उद्यान के सुन्दर
पुष्प हैं या एक ही विशाल वृक्ष की शाखायें हैं।
इसलिये वे सब समान रूप में सत्य हैं।"

—महात्मा गाँधी

राष्ट्र की सेवा में संलग्न

गणेश ट्रेडिंग कम्पनी

C. 12 सर्वोदय नगर

पहला पोपरापोल रोड

पोस्ट बॉक्स नं० ३५३३

बम्बई ४००००४

जिनको अपना कल्याण अभीष्ट है, उन्हें सर्वत्र भगवद्भाव सहित—
बहुजन हिताय बहुजन सुखाय-कार्य करना चाहिये। यही व्यवहार
एवं परमार्थ का समन्वय और सफलता की कुञ्जी है।

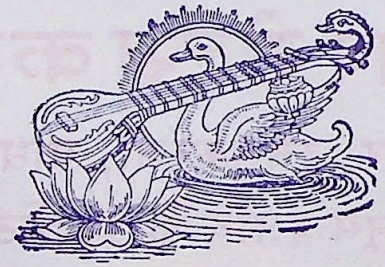

मै० हरीचरण बिहारीलाल

(मील कलैन्डर कपड़े के थोक विक्रेता)

१५४|५६ कालवा देवी रोड

बम्बई—४००००२

श्रीसर्वेश्वर साल्ट ग्राइंडिंग मिल

कहालसा मोहोल रोड, पनवेल जि० कुलाबा

(महाराष्ट्र)

सदाचार एवं सद्विचार मानव के जीवनस्त
को ऊँचा उठाने में परम सहायक हैं।

卐 卐 卐 卐 卐

हार्दिक शुभ-कामनाओं के साथ

श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते

श्रीनिम्बार्कमहामुनीन्द्राय नमः

सच्चा हितैषी कौन है ?

जो अपने सम्पर्क में रहने वाले और आने वाले बन्धु-बान्धवों को सत्संग में लगाकर भगवत्प्राप्ति के मार्ग में सहायक बनता है ।

वही सच्चा हितैषी है ।

दासानुदास :

सत्यनारायण मुसद्दी

हार्दिक शुभ-कामनाओं के साथ

जगन्नाथ चेतराम

१८० महात्मा गांधी रोड, कलकत्ता ७.

Gram : KEYRING

Phone : 33-5734
33-9914

* श्रीराधामर्वेश्वरो विजयते *

डा. गंगाप्रसाद गुप्ता एण्ड सन्स

मोती बाजार, हाथरस (उत्तर प्रदेश)

द्वारा सञ्चालित—

औषधि निर्माण शाला

देश भर में एजेन्टों की आवश्यकता है

हमारे यहाँ हर प्रकार के आसव, अरिष्ट तथा अन्य शास्त्रोक्त रासायनिक आयुर्वेदिक औषधियों के अलावा बच्चों के लिये 'ग्राइप वाटर', 'लाल तेल', 'बाल गोपाल संजीवनी घुटी', 'ग्राइप मिक्चर', उदर रोगों के लिये 'गैसटोन' चर्म रोगों के लिये 'शान्त मरहम' हर प्रकार के दर्द के लिये 'दर्द नाशक' मलेरिया के लिये 'जाड़ा बुखार' स्त्रियों के विशेष रोगों के लिये 'अशोका कार्डियल' तथा अन्य औषधियों का कुशल औषधिविशेषज्ञों की देख-रेख में निर्माण होता है।

कृपया मूल्य सूची के लिये पत्र-व्यवहार करें।

चरण-किङ्कर—

ब्रजमोहनशरण शर्मा

श्रीनिम्बार्काचार्य-स्मारक योजना

शास्त्रों में सम्पूर्ण भूमण्डल में भारतवर्ष को पवित्र भूमि माना गया है और भारत में मधुर महिमामयी व्रज-वसुन्धरा का अद्वितीय महात्म्य वर्णित है। फिर व्रजभूमि में भी गिरिराज गोवर्धन का अनुपम महत्त्व है। इस पावन क्षेत्र की लोकोत्तर सुषमा किस सहृदय को लुब्ध-विमुग्ध नहीं कर लेती। इन्हीं श्रीगिरिराज की मनोरम तलहटी में आद्याचार्य भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य की पुनीत साधनास्थली श्रीनिम्बग्राम है जहाँ से सहस्रों वर्ष पूर्व "नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्" का अमर सन्देश पूज्य श्रीआचार्य-चरण ने लोक-कल्याणार्थ प्रसारित किया था।

पिछले दिनों उन्हीं भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य का एक भव्य स्मारक निम्बग्राम में बनवाने का संकल्प वर्तमान निम्बार्काचार्य श्री श्रीजी महाराज की व्रजयात्रा के अवसर पर लिया गया था और इसके लिए अ० भा० निम्बार्क ग्राम-सेवा-मण्डल का गठन किया गया था जो सम्प्रति भारत सरकार से रजिस्टर्ड एक प्रामाणिक संगठन का रूप ले चुका है। यह संस्था आयकर से सर्वथा मुक्त है। आचार्यचरण के स्मारक निर्माण के अन्तर्गत लोक कल्याणार्थ एक विशाल योजना बन चुकी है जिसके कई भाग हैं—

१. स्मारक-भवन का निर्माण—

इसमें भगवान् श्रीराधाकृष्ण का एक भव्य मन्दिर भी होगा जिसके लिये अनुमानतः १५ लाख रुपये की आवश्यकता होगी जिसकी नींव भरी जा चुकी है।

२. निम्बार्क-ग्राम विकास योजना—

इसके अन्तर्गत प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनुरूप शिक्षा-दीक्षा का सुप्रबन्ध, पेयजल की व्यवस्था, मार्ग-उपमार्गों का निर्माण, जीर्णोद्धार आदि सम्मिलित होंगे जिसमें मुख्य सड़क से ग्राम व मन्दिर तक एक सीधे मार्ग का निर्माण किया जा चुका है। शेष कार्य के लिये ३ लाख के लगभग और व्यय होंगे।

३. अन्य निर्माण—

सार्वजनिक औषधालय, पुस्तकालय, वाचनालय, अतिथि-भवन, गो-सदन, एवं उद्यान-वाटिका आदि के लगभग ५ लाख की लागत की योजना है।

योजनानुसार अब तक भूमि समतल कराने, सड़क-निर्माण, जल-योजना, अतिथि-गृह निर्माण, पक्की चहार-दीवारी निर्माण, ग्राम की ओर एक भव्य द्वार आदि के निर्माण में १ लाख ७० हजार रुपये व्यय हो चुका है। आपके समक्ष इस पवित्र योजना का प्रस्ताव प्रस्तुत है। हमारा सभी धार्मिक भक्तों से सादर अनुरोध है कि इस पवित्र योजना में अपना उदार सहयोग देकर अक्षय पुण्य एवं सुयश के भागी बनें।

निवेदक—

मन्त्री एवं सदस्य गण

अ० भा० निम्बार्क ग्राम-सेवा-मण्डल